आचार्य बुद्धघोस

कृत

परमत्थजोतिका

सुत्तनिपात-अट्ठकथा

भाग - १

हिंदी अनुवाद

अनुवादक

प्रो. अंगराज चौधरी

विपश्यना विशोधन विन्यास

आचार्य बुद्धघोस

कृत

परमत्थजोतिका

सुत्तनिपात-अट्ठकथा

भाग - 1

हिंदी अनुवाद

अनुवादक

प्रो. अंगराज चौधरी

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी

H102 - सुत्तनिपात-अट्ठकथा भाग - 1 (सजिल्द)

प्रथम संस्करण: जनवरी 2019

मूल्य: रु. 450.00

ISBN 978-81-7414-425-6 (Hardbound)

प्रकाशक:
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी- 422 403
जिला - नाशिक महाराष्ट्र
फोन: 02553-244998, 244076,
244086, 244144, 244440;
Email: vri_admin@vridhamma.org
Website: www.vridhamma.org

मुद्रक:
अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
जी-259, सीकॉफ लमिटेड, 69 एम. आय. डी. सी.,
सातपुर, नाशिक-422007, महाराष्ट्र

सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग - 1

विषयानुक्रमणिका

सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग - 1

समर्पण

विपश्यना आचार्यप्रवर श्री सत्यनारायण गोयन्काजी को सादर

समर्पित

जिन्होंने मुझे बुद्ध के व्यावहारिक दर्शन और पालि साहित्य

के मर्म को समझने की दृष्टि दी।

– अंगराज चौधरी

प्रकाशकीय

लगभग १६०० वर्ष पूर्व बुद्धघोस द्वारा लिखित सुत्तनिपात अट्ठकथा, जिसे परमत्थजोतिका भी कहते हैं, का आज तक हिंदी में अनुवाद नहीं हुआ है। प्रो० अंगराज चौधरी ने सर्वप्रथम इसका हिंदी में अनुवाद किया है। विपश्यनाचार्य पूज्य गोयन्काजी से जो दृष्टि इन्होंने पायी है उसी के आलोक में यह अनुवाद कार्य संपन्न हुआ है। जगह-जगह पर इस पुस्तक में साधना संबंधी बहुत-सी गंभीर बातें हैं जो आजकल सुबोध नहीं हैं। फिर भी विपश्यना का अभ्यास करनेवाले इसे बहुत दूर तक समझ सकते हैं– इसमें संदेह नहीं है।

पू० गोयन्काजी तीन भिक्षुओं द्वारा किये गये त्रिपिटक के अनुवाद से परिचित थे, इसलिए उनकी बड़ी इच्छा थी कि यदि अट्ठकथाओं का हिंदी में अनुवाद हो जाय तो हिंदी भाषा तो समृद्ध होगी ही, बहुत से पाठक जो पालि नहीं समझते हैं इसे पढ़कर लाभान्वित होंगे।

उन्हें यह भी पता था कि त्रिपिटक का हिंदी अनुवाद भी विपश्यना के दृष्टिकोण से न होने पर शतप्रतिशत ठीक नहीं है। इसे ही देखने के लिए उन्होंने प्रो० अंगराज चौधरी को अंगुत्तर निकाय का भदंत कौसल्यायन द्वारा किये अनुवाद को आधार बनाकर जहां-जहां विपश्यना का उल्लेख आता है, सुधारने कहा था ।

प्रो० अंगराज चौधरी ने सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग-१ का हिंदी अनुवाद आज से लगभग १५ वर्ष पहले कर दिया था। अब उसको इन्होंने पुनः सुधार कर छापने योग्य बनाया है।

विपश्यना विशोधन विन्यास से अट्ठकथा साहित्य की हिंदी में छपनेवाली पुस्तकों में यह प्रथम पुस्तक है।

विपश्यना विशोधन विन्यास इस प्रथम पुष्प को पाठकों को समर्पित करता है और मंगल कामना करता है कि उन्हें इसका पूरा लाभ मिले।

विपश्यना विशोधन विन्यास

भूमिका

सुत्तनिपात अट्ठकथा, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, सुत्तनिपात की अट्ठकथा है। सुत्तनिपात खुद्दकनिकाय का एक ग्रंथ है। बुद्धघोस ने सुत्तनिपात अट्ठकथा को परमत्थजोतिका भी कहा है जिसका अर्थ होता है परमार्थ की व्याख्या करनेवाली या उस पर प्रकाश डालनेवाली। कैसे मनुष्य का परम कल्याण हो सकता है– इस पर यहां प्रभूत प्रकाश डाला गया है।

आचार्य बुद्धघोस का जन्म बोधगया में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे इतने व्युत्पन्नमति के थे कि बाल्यावस्था में ही वे तीनों वेदों में पारंगत हो गये। वे जगह-जगह घूमकर वाद-विवाद करते रहे। ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा थी। जब वे बौद्ध स्थविर भिक्षु रेवत से मिले तो उन्हें पता चला कि वे सचमुच कितने पानी में हैं। भिक्षु रेवत के मुख से बुद्धशासन के बारे में सुनकर उन्हें विश्वास हो गया कि यही एक मार्ग संसार से मुक्ति पाने का है। उन्होंने प्रव्रज्या ली और तीनों पिटकों का गहन अध्ययन किया। उनकी प्रतिभा देखकर भिक्षु रेवत ने उन्हें लंका जाकर तिपिटक की अट्ठकथा लाने की बात कही। वे लंका गये, अनुराधपुर महाविहार में ठहरे और उन्होंने सिंहली में पायी जानेवाली अट्ठकथाओं का अनुवाद पालि में करने की इच्छा प्रकट की। वहां के थेरों ने उनकी बुद्धि की परीक्षा ली। विसुद्धिमग्गो (विशुद्धिमार्ग) लिखकर वे कसौटी पर खरे उतरे और उन्होंने दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर निकाय की ही अट्ठकथाएं नहीं लिखीं बल्कि खुद्दकनिकाय की कुछ और पुस्तकों की भी अट्ठकथाएं लिखीं। सुत्तनिपात अट्ठकथा उनमें से एक है।

लेकिन अट्ठकथाओं का अनुवाद करने के पहले उन्होंने जो विसुद्धिमग्ग नामक पुस्तक लिखी वह सर्वतोभावेन परिपूर्ण है। यह बुद्धघोस का magnum opus है। इसे देखकर यह कहना उचित नहीं लगता कि बुद्धघोस ने सिंहली अट्ठकथाओं का सिर्फ अनुवाद किया। अब तो वे अट्ठकथाएं उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बुद्धघोस ने उन अट्ठकथाओं का ही पालि में अनुवाद किया।

मेरा पक्का मानना है कि भले ही बुद्धघोस ने उन अट्ठकथाओं को पढ़ा होगा लेकिन अट्ठकथा लिखते समय उनका उपयोग उन्होंने अपने ढंग से किया और उनकी अट्ठकथाएं उनके आकाश की तरह विस्तृत पांडित्य और समुद्र की गहराई की तरह भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान पर प्रकाश डालती हैं। वे सिर्फ अनुवादक नहीं थे अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से एक ऐसी अट्ठकथा के लेखक थे जो अपने-आप में बेजोड़ है, अप्रतिम है, अतुलनीय है।

बुद्धघोस पूर्व की अट्ठकथा का स्वरूप

अभी हमारे सामने जो अट्ठकथाएं हैं वे बुद्धघोस, बुद्धदत्त तथा धम्मपाल द्वारा लिखित अट्ठकथाएं हैं। पर यह मानना गलत नहीं होगा कि इन अट्ठकथाकारों के पूर्व भी अट्ठकथाएं लिखी गयी थीं। यदि हम इस परंपरा को न भी मानें कि अट्ठकथाओं का संगायन भी प्रथम संगीति में हुआ था और महेंद्र अपने साथ तिपिटक तथा अट्ठकथाओं को श्रीलंका ले गये थे तब भी यह तो विश्वास करने लायक

बात है कि लंका में जब तिपिटक पहुंचा तो वहां के तिपिटक अध्येताओं ने अट्ठकथायें लिखना प्रारंभ किया। तभी तो हम इन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के नाम जानते हैं। ये अट्ठकथाएं थीं– महा-अट्ठकथा, महापच्चरी या महा-पच्चरिय, कुरुन्दी या कुरुन्दिय, अन्वट्ठकथा, संखेपट्ठकथा आगमट्ठकथा और आचरियानं समानट्ठकथा। यदि तिपिटक के साथ महेंद्र अट्ठकथा भी ले गये रहते तो तिपिटक के साथ-साथ अट्ठकथाएं भी ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में तालपत्र पर अवश्य लिखी गयी होतीं, पर ऐसा नहीं है।

बुद्धघोस के काल के पूर्व श्रीलंका में अट्ठकथाएं लिखी गयीं यह निर्विवाद है। इसके कई साक्ष्य हैं। एक प्रामाणिक साक्ष्य तो बुद्धघोस के आचार्य रेवत थेर हैं जिन्होंने बुद्धघोस को यह कहा कि 'लंका से यहां भारत में केवल मूल तिपिटक ही लाया गया है। अट्ठकथाएं यहां नहीं हैं। उसी प्रकार विभिन्न आचार्यों की परंपराएं भी यहां उपलब्ध नहीं हैं। हां, लंकादीप में महास्थविर महेंद्र द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रामाणिक अट्ठकथाएं सुरक्षित हैं। तुम वहां जाकर उनका मागधी भाषा में रूपांतरण करो, ताकि वे सबके लिए हितकारी हों (डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का पालि साहित्य का इतिहास पृ० ६०८)।

बुद्धघोस वहां गये और जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है वहां की अट्ठकथाओं का सार लेकर उन्होंने अपने ढंग से अट्ठकथाएं लिखीं।

लेकिन अट्ठकथा कैसे लिखी जानी चाहिए इसका एक स्वरूप उन्हें महानिद्देस[१] तथा चूलनिद्देस के अध्ययन से अवश्य ज्ञात था। ये दोनों निद्देस सारिपुत्त थेर द्वारा रचे गये थे। इनका संगायन प्रथम संगीति में हुआ होगा और लंका के अट्ठकथाकार भी इनसे अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे। वे किस तरह इनसे प्रभावित हुए होंगे– यह कहना कठिन है, चूंकि उनकी अट्ठकथाएं अब प्राप्य नहीं हैं, पर बुद्धघोस ने भी इन निद्देसों का अंधानुकरण नहीं किया– यह बिल्कुल स्पष्ट है। जहां सारिपुत्त (जो दोनों निद्देसों के रचयिता माने जाते हैं) ने शब्दों के अर्थ करते समय ज्यादा से ज्यादा पर्यायवाची शब्द दिये हैं जैसे **पीतिमनो** का अर्थ **तुट्ठमनो, हट्ठमनो, पहट्ठमनो, अत्तमनो, उदग्गमनो, मुदितमनो पमुदितमनो** किया है, वहां बुद्धघोस ने इसका अर्थ **एकंसं तुट्ठचित्तो**[२] (किया है। जहां सारिपुत्त ने **कामयमानस्स** का अर्थ अनेक पर्यायवाची शब्दों को देकर किया है जैसे **कामयमानस्स, इच्छमानस्स, सादियमानस्स, पत्थयमानस्स, पिहयमानस्स अभिजप्पमानस्सं**[३], वहां बुद्धघोस ने इसका अर्थ **इच्छमानस्स**[४] देकर किया है। बुद्धघोस ने शब्दों की व्याख्या उनके पर्याय देकर नहीं की है, बल्कि उनका अर्थ बताकर उनसे संबंधित और बातों को कहा है जैसे यह बताकर कि धन क्या है, पांच प्रकार के धनों को भी यहीं बताया गया है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि बुद्धघोस ने जब जातक की अट्ठकथा लिखी या सुत्तनिपात की अट्ठकथा लिखते समय **खग्गविसाणसुत्त** में आनेवाले प्रत्येकबुद्धों के बारे में कहानियां लिखीं तब क्या उन्होंने अपने मन से ये कहानियां लिखीं? मुझे लगता है कि बुद्धघोस को परंपरा से, विशेषकर अट्ठकथा की परंपरा से बहुत कुछ मिला। यह कथन इस बात से भी सिद्ध होता है कि जातक अट्ठकथाओं में पायी जानेवाली कहानियां (और जातक अट्ठकथा पांचवी शताब्दी में लिखी गयीं) लोगों को सुदीर्घ परंपरा से ज्ञात थीं। तभी तो तृतीय शताब्दी ई० पू० में इनमें से कुछ कहानियों की नक्काशी की गयी जो भारहुत

---

१. महानिद्देस पालि पृ.३ (विपश्यना विशोधन विन्यास धम्मगिरि से १९९८ में प्रकाशित)

२. सुत्तनिपात अट्ठकथा २. २०८

३. महानिद्देस पालि पृ० २

४. सुत्तनिपात अट्ठकथा २. २०९

स्तूप में मिलती है। (देखें T.W.Rhys Davids की Buddhist India के chapter on Jātaka)। इन कहानियों की संख्या भी निश्चित नहीं है। चूल निद्देस में जातकों की संख्या पांच सौ है, कहीं पांच सौ से अधिक है। अभी कुछ वर्ष पहले थाईलैंड से और ५० जातकों का संकलन किया गया था।

जातक की गाथाओं की जो कहानियां हैं वे लोगों को मौखिकरूप से, जबानी, जिसे अंग्रेजी में by word of mouth कहते हैं ज्ञात थीं। रीज डेविड्स ने अपनी पुस्तक Buddhist India के ग्यारहवें अध्याय में जातक कहानियों की सुदीर्घ परंपरा पर प्रभूत प्रकाश डाला है। उन्होंने तो यह दिखाया है कि कई जातको के श्रोत तो तिपिटक में पाये जानेवाले सुत्त हैं। बुद्धघोस ने जातक की गाथाओं को स्पष्ट करने के लिये सुदीर्घ परंपरा से आई कहानियों के स्रोतों से ही कहानियां ली होंगी तथा उनमें निखार लाया होगा। इसी तरह **खग्गविसाणसुत्त** में आई कहानियां भी मौखिकरूप में प्रचलित रही होंगी जिनका उपयोग प्रतिभाशाली बुद्धघोस ने एक-एक गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए किया। इसलिये यह कहना कि हर गाथा की व्याख्या में जो कहानी दी गयी है, उसे बुद्धघोस ने गढ़ा होगा– समीचीन नहीं मालूम पड़ता। जनमानस में इन कहानियों के बीज तो थे ही।

अब श्रीलंका में पायी जानेवाली अट्ठकथाओं से उन्होंने क्या-क्या लिया (चूंकि उन्होंने अक्षरशः अनुवाद नहीं किया) यह कहना असंभव है, चूंकि जिन अट्ठकथाओं को उन्होंने पढ़ा और जिनसे सार[१] लिया वे अब प्राप्य नहीं है। हो सकता है बुद्धघोस की अट्ठकथाओं में पाये जानेवाले कुछ लक्षण श्रीलंका में पायी जानेवाली अट्ठकथाओं से लिए गये हों पर कौन-से लक्षण लिये गये हैं– यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। एक बात स्पष्ट है कि बुद्धघोस के समय से ही अट्ठकथायें प्रारंभ नहीं हुयीं उनसे पहले भी अट्ठकथाएं लिखी गयीं। अतः अट्ठकथाओं की प्राचीनता में संदेह नहीं किया जा सकता।

अट्ठकथा साहित्य पालि साहित्य की एक बड़ी विशेषता है। इस तरह का साहित्य संस्कृत में नहीं मिलता। संस्कृत में भाष्य लिखे गये हैं, टीकाएं लिखी गयी हैं, पर वहां शब्दों की व्याख्या उनके पर्यायवाची शब्द देकर ही की गयी है। सायणाचार्य के भाष्य में शब्दों के अर्थ पर्यायवाची शब्द देकर किये गये हैं जो यास्क के निरुक्त से उद्धृत हैं। शब्दों की व्युत्पत्ति पाणिनी व्याकरण के नियम उद्धृत कर तथा ऊणादि सूत्र देकर दिखायी गयी है। सायणाचार्य अपने भाष्य में कहीं-कहीं पाठ भेद भी देते हैं।

मल्लिनाथ ने कालिदास के ग्रंथों पर टीकाएं लिखीं तो उन्होंने भी शब्दों के अर्थ बताते समय उनके पर्यायवाची शब्द ही दिये जो अमरकोष, हलायुधकोष तथा और कोषों से लिये गये।

बुद्धघोस की अट्ठकथा में शब्दों के सिर्फ अर्थ ही नहीं दिये गये हैं, बल्कि उनसे जुड़ी और भी बातों का जैसा ऊपर में कहा गया है उल्लेख विस्तार से किया गया है। उदाहरणार्थ बुद्धघोस उरगसुत्तवर्णना में उत्पत्ति (उप्पत्ति) शब्द का सिर्फ अर्थ ही नहीं देते बल्कि यह भी सोदाहरण समझाते हैं कि उत्पन्न (उप्पन्न) कितने प्रकार के होते हैं।

उत्पन्न चार प्रकार के कहे गये हैं– जैसे **वत्तमानुप्पन्नं, भुत्वापगतुप्पन्नं, ओकासकतुप्पन्नं और भूमिलद्धुप्पन्नं** (देखें पृ० सं० २३)। प्रथम तीन प्रकार के उत्पन्न, कुशल तथा अकुशल कर्मों से संबंधित हैं, चौथा

१. मूलकट्ठकथासारमादाय मया इमं करोन्तेन। पथिकवग्ग-अट्ठकथा ३.२३१
मूलट्ठकथासारं आदाय मया इमं करोन्तेन। उपरिपण्णास-अट्ठकथा ४.२६७
मूलट्ठकथाय सारमादाय मया इमं करोन्तेन। महावग्ग-अट्ठकथा ३.३४१
मूलट्ठकथासारं आदाय मया इमं करोन्तेन। अट्ठकनिपातादि-अट्ठकथा ३.३६६

भूमिलद्धुप्पन्न सिर्फ अकुशल कर्मों से संबंधित है।

वत्तमानुप्पन्न का संबंध वर्तमान में उन कुशल तथा अकुशल कर्मों से है जो वर्तमान में उत्पन्न होते हैं तथा जिनमें उत्पाद, स्थिति और भंग स्पष्ट अनुभव होते हैं।

दूसरे प्रकार के उत्पन्न को **भुत्वापगत** कहते हैं। ये कुशल तथा अकुशल कर्म हैं जो अनुभव पर उतर कर समाप्त हो जाते हैं।

ओकासकतुप्पन्न वैसे शक्तिशाली कर्मों को कहते हैं जो कम शक्तिशाली कर्मों को दबाकर अपना फल पहले देते हैं।

भूमिलद्धुप्पन्न का संबंध सिर्फ अकुशल कर्मों से है। भूमि प्राविधिक शब्द है जिसका अर्थ होता है पांच आयतन। विभिन्न भवों में उत्पन्न होकर सुदृढ़ हुए क्लेशों को **भूमिलद्धुप्पन्न** कहा जाता है। इनकी निर्जरा सिर्फ विपश्यना द्वारा ही की जा सकती है।

एक दूसरे प्रकार से भी उत्पन्न का वर्गीकरण किया गया है। इसके भी चार प्रकार हैं जैसे **समुदाचारुप्पन्नं, आरम्मणाधिग्गहितुप्पन्नं, अविक्खम्भितुप्पन्नं** और **असमूहतुप्पन्नं** (देखें पृ० सं० २५)।

समुदाचारुप्पन्नं लगभग वैसा ही है जैसा **वत्तमानुप्पन्नं**। यह उन क्लेशों की ओर इंगित करता है जो अयोनिसोमनसिकार से उत्पन्न होते हैं। **आरम्मणाधिगहितुप्पन्नं** उन क्लेशों की उत्पत्ति के बारे में बताता है जो मन में आये उपयुक्त आलंबन से उत्पन्न होता है। **अविक्खम्भितुप्पन्नं** वैसे क्लेशों की उत्पत्ति के बारे में बताता है जो नहीं दबाये गये हों, जो अदमित हों और **असमूहतुप्पन्न** वैसे क्लेशों की ओर इंगित करता है जो पूरी तरह से न उखाड़े गये हों। यह बड़ी ही गंभीर बात है। इसे विपश्यना का अभ्यास कर स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है।

हममें क्रोध कैसे उत्पन्न होता है, इस क्रिया को वे बड़े विस्तार से **उरगसुत्तवर्णना** में बताते हैं।

यहीं पर 'विनय' शब्द का अर्थ अनुशासन, आचरण, आदेशों, नियमों का विधिवत पालन करना किया गया है। साथ ही इसके दो प्रकार कहे गये हैं संवर विनय और प्रहाण (पहान) विनय। इनमें से एक-एक के पांच भेदों पर भी प्रभूत प्रकाश डाला गया है। संवर विनय के पांच भेद कहे गये हैं जैसे– शीलसंवर, स्मृतिसंवर, ज्ञानसंवर, क्षांतिसंवर और वीर्यसंवर। (देखें पृ० २६) इसी तरह प्रहाण विनय के पांच भेद कहे गये हैं जैसे– **तदङ्गप्रहाण, विष्कंभनप्रहाण, समुच्छेदप्रहाण, पटिपस्सद्धिप्रहाण** और **निस्सरणप्रहाण** (देखें पृ० २७)। शीलसंवर आदि की व्याख्या सोदाहरण की गयी है। इसी तरह **तदङ्गप्रहाण** आदि को भी उदाहरण देकर समझाया गया है (देखें पृ० २७)।

इसी सुत्त की वर्णना में प्रातिमोक्ष के नियमों का पालन करना शीलसंवर है, चक्षुइंद्रिय पर अनुशासन स्मृतिसंवर है, तृष्णा के स्रोत को सदा के लिए बंद करना ज्ञानसंवर है, जाड़ा-गर्मी को सहना क्षांतिसंवर है और उत्पन्न कामवितर्क को दूर करना, त्यागना वीर्यसंवर है।

धनियसुत्तवर्णना में क्रोध की दस अवस्थाएं कहीं गयी हैं। सबसे प्रारंभिक अवस्था का क्रोध हृदय को सिर्फ संतापित करता है; इससे अधिक शक्तिशाली क्रोध चेहरे को विकृत करता है; इससे भी अधिक शक्तिशाली क्रोध कठोर वचन बोलने के लिए जबड़े में हलन-चलन पैदा करता है; इससे भी अधिक

शक्तिशाली क्रोध कठोर वचन बोलवाता है; इससे भी शक्तिशाली क्रोध जब उत्पन्न होता है तो मनुष्य लाठी या शस्त्र खोजते हुए इधर-उधर देखता है; इससे भी अधिक क्रोध जब उस पर सवार होता है तो वह दंड या शस्त्र हाथ में लेता है; इससे भी अधिक क्रोध उत्पन्न होने पर वह क्रोध उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति को मारने दौड़ता है; इससे भी अधिक क्रोध होने पर वह उस पर दो-चार बार प्रहार करता है; इससे भी अधिक क्रोध होने पर वह अपने संबंधी तक की भी हत्या करता है और इससे भी अधिक क्रोध होने पर वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलता है और आत्महत्या करता है।

'गोप' का अर्थ बताते समय बुद्धघोस यह कह कर नहीं रह जाते कि 'गोप' गो का पालन करता है, बल्कि वे 'गोप' तथा 'गोपालक' में अंतर भी दिखाते हैं। जो अपनी गायों को पालता है वह 'गोप' है, जो दूसरों की गायों की देख-रेख करता है वह 'गोपालक' है। धनिय गोप है, उसे बहुत-सी अपनी गायों की देख-भाल करनी होती है, उन्हें चराने के लिए उसे जगह-जगह जाना पड़ता है, इसलिए उसे मौसम का ज्ञान होना ही चाहिए। बुद्धघोस कहते हैं कि धनिय गोप अच्छी वर्षा होने की या न होने की भविष्यवाणी कर सकता था। अच्छी वर्षा होगी या नहीं वह यह देखकर पता लगा लेता था कि पक्षी पेड़ पर घोसला कहां बनाते हैं और जमीन पर केंकड़े अपना द्वार कहां बंद करते हैं।

शब्दों के अर्थ बताते समय बुद्धघोस, जहां संभव है, वहां उनके प्रकार भी बताते हैं। **'ओरपारं'** शब्द की व्याख्या करते समय **तत्थ ओरन्ति सकत्तभावो, पारन्ति परत्तभावो** आदि कहकर इस शब्द के विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डालते हैं (देखें उरगसुत्तवर्णना गाथा सं० १)। **सम्पत्ति** का अर्थ बताते समय वे यह बताते हैं कि संपत्ति पांच प्रकार की होती है (देखें धनियसुत्तवर्णना, गाथा सं० १८)। लालसा पांच प्रकार की होती है (देखें धनियसुत्तवर्णना गाथा सं० २२)। 'अलोलो' शब्द की व्याख्या करते समय वे पांच प्रकार के लोभ (पांच प्रकार की लोलुपताएं) बताते हैं– आहार लोभ, अलंकार लोभ, पर-पुरुष लोभ, धन लोभ तथा पाद लोभ अर्थात आराम आदि में घूमने का लोभ। ये लोभ स्त्रियों में पाये जाते हैं (देखें धनियसुत्तवर्णना गाथा सं० २२)। और गाय दो प्रकार की होती है। जैसे गाभिन और दूध देनेवाली (देखें धनियसुत्तवर्णना गाथा संख्या २६)। संसर्ग पांच प्रकार के कहे गये हैं-- देखने से, सुनने से, जो संसर्ग होता है, शारीरिक संसर्ग, बातचीत से होनेवाला संसर्ग तथा संभोग से होनेवाला संसर्ग (देखें खग्गविसाणसुत्तवर्णना गाथा सं० ३६)। जब 'संतुष्टि' शब्द की व्याख्या करते हैं तो बारह प्रकार की संतुष्टियों को बताते है (देखें मंगलसुत्तवर्णना गाथा सं० २६८; सु० नि० अ० भाग २)। जब वे 'तापस' शब्द की व्याख्या करते हैं तो आठ प्रकार के तापसों की बात करते हैं (देखें हिरिसुत्तवर्णना सु० नि० अ० भाग २)।

इनसे स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धघोस के पास ज्ञान का विपुल भंडार था। भाषा संबंधी ज्ञान ही नहीं, बल्कि वस्तुओं के प्रकार के संबंध में भी विपुल ज्ञान था। वे शब्दों का सिर्फ अर्थ ही नहीं जानते थे, पर उनको केंद्र में रखकर उनसे संबंधित और भी बहुत कुछ कह जाते थे जो लोगों को साधारणतया मालूम नहीं था। बुद्धघोस की अट्ठकथा का यह लक्षण संस्कृत भाष्यों और टीकाओं में नहीं मिलता। इस लक्षण के कारण ही बुद्धघोस की अट्ठकथाएं बुद्ध और बुद्धघोस के बीच की बहुआयामी भारतीय संस्कृति को जानने का प्रामाणिक श्रोत है।

बुद्धघोस की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे एक बहुअर्थी शब्द को लेते हैं और उनके जितने

अर्थ हैं उनको गिनाते हैं। साथ ही वह तिपिटक में कहां, किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है उन सारी बातों को बताते हैं। उदाहरण के लिए 'ब्रह्मचरिय' शब्द को लें। इसका अर्थ 'मैथुनविरति' ही नहीं, बल्कि श्रमणधर्म, शासन (बुद्धशासन) और मार्ग भी होता है। तिपिटक में यह शब्द कहां, किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसे तो उदाहरण देकर वे स्पष्ट करते ही हैं, साथ-साथ यह भी बताते हैं कि विशेष संदर्भ में इसका क्या अर्थ है।

ब्रह्मचरियन्ति मेथुनविरतिमग्गसमणधम्मसासनसदारसन्तोसानमेतं अधिवचनं (सु० नि० अट्ठकथा १.३५) अर्थात ब्रह्मचर्य का अर्थ मेथुनविरति[१], अष्टांगिक मार्ग[२], श्रमणधर्म[३], शासन[४] और अपनी पत्नी से ही संतुष्ट रहना[५] होता है। बुद्धघोस ने बहुत से बहुअर्थक शब्दों के अर्थ बताते हुए ऐसे अनेक उद्धरण दिये हैं। उद्धरण की प्रामाणिकता से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें समूचा तिपिटक कंठस्थ था और बहुअर्थी शब्दों के सभी अर्थों से वे सुपरिचित थे।

मेरे विचार से यह विशेषता बुद्धघोस में ही पायी जाती है, संस्कृत के किसी टीकाकार या भाष्यकार में यह नहीं पायी जाती। इसी विशेषता के कारण यह निस्संदेह एवं प्रामाणिकता के साथ कहा जा सकता है कि बुद्धघोस को सारा तिपिटक जिह्वा पर तो था ही, वे बहुअर्थी शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों से भी सुपरिचित थे। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर मैंने जब सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग १ और २ का प्रथम बार देवनागरी लिपि में आलोचनात्मक संपादन किया था तो भूमिका में यह लिखा था कि जितने बहुअर्थी शब्द बुद्धघोस की अट्ठकथाओं में आये हैं उन्हें एकत्र करने से एक प्रामाणिक शब्दकोष तैयार किया जा सकता है।

बुद्धघोस की अट्ठकथा की एक और विशेषता पाठ-भेद दिखाने की है। स्थान-स्थान पर उन्होंने पाठ-भेद दिखाया है। उनके द्वारा लिखित अट्ठकथाएं 'इतिपि पाठो' से भरी पड़ी हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि अट्ठकथा लिखते समय उनके समक्ष एक ग्रंथ के अनेक संस्करण रहे होंगे।

बुद्धघोस की अट्ठकथाओं की एक और विशेषता यह है कि कौन-सी गाथा, कौन-सा सुत्त किसके द्वारा कहां कहा गया है– इसका विशद वर्णन है। गाथा और सुत्त का अर्थवर्णन करते समय बुद्धघोस ने उस विधि को सर्वत्र एक समान अपनाया है, जैसे यो **उप्पतितं विनेति कोधं**... भगवान बुद्ध ने कब, क्यों और किसको कहा– यह ऊपर लिखी विधि से स्पष्ट हो जाता है और पाठक संदर्भ समझकर इसका अर्थ पूरी तरह समझ लेते हैं।

अट्ठकथा की एक और बड़ी विशेषता है– वह है अर्थ के साथ-साथ कथा कहना। कथाएं भी दो प्रकार की हैं। पहले प्रकार की कथा इस बात से संबंधित है कि कौन-सी गाथा और कौन-सा सुत्त किस संदर्भ में कहा गया। अगर उरगवग्ग का प्रथमसुत्त (**उरगसुत्त**) क्रोध के संदर्भ में कहा गया है तो **खग्गविसाणसुत्त** की गाथाएं भिन्न-भिन्न प्रत्येकबुद्ध के संदर्भ में कही गयी हैं। कैसे किसी व्यक्ति

---

१. "ब्रह्मचारीति एवमादीसु (म० नि० १.८३) हि मेथुनविरति ब्रह्मचरियन्ति वुच्चति।"

२. "इदं खो पन मे पञ्चसिख, ब्रह्मचरियं एकन्तनिब्बिदाया" ति एवमादीसु (दी० नि० २.३२९) मग्गो।

३. "अभिजानामि खो पनाहं, सारिपुत्त, चतुरङ्गसमन्नागतं ब्रह्मचरियं चरिता" ति एवमादीसु (म० नि० १.१५५) समणधम्मो।

४. "तयिदं ब्रह्मचरियं इद्धञ्चेव फीतञ्चा"ति एवमादीसु (दी० नि० ३.१७४) सासनं।

५. मयञ्च भरिया नातिक्कमाम, अम्हे च भरिया नातिक्कम्मन्ति। अञ्ञत्र ताहि ब्रह्मचरियं चराम, तस्माहि अम्हं दहरा न मीयरे"ति (जा० १.१०.९७) एवमादीसु सदार सन्तोसो।

(अधिकतर राजा) में धर्मसंवेग जागता है और कैसे वह निर्वेद प्राप्तकर घर या राज-पाट छोड़ निष्क्रमण कर प्रत्येकबुद्ध होता है, यह इस सुत्त की गाथाओं में दिखाया गया है (देखें खग्गविसाणसुत्त की अट्ठकथा में दी गयी कथाएं)।

इन्हीं कथाओं में से एक में **मिगो अरञ्ञम्हि** से प्रारंभ होनेवाली गाथा में कहा गया है कि वाराणसी के राजा को बीस हजार पत्नियां थीं, परंतु राजा को किसी एक की भी कोख से पुत्र न प्राप्त हुआ। इस तरह की कहानियां पढ़कर पाठकों की प्रतिक्रिया होती है कि बहुत-सी असंभव बातें यहां लिखी गयी हैं। कैसे कोई बीस हजार पत्नियों को रख सकता है और इस कारण बुद्धघोस द्वारा कही गयी बहुत-सी अच्छी बातों पर वे संदेह करने लगते हैं। लेकिन जहां इस तरह की अतिरंजित बातें हों, उनको अभिधा में नहीं लेना चाहिए। यह साहित्य लिखने की एक विधा है। जैसे कहा जाता है कि हजारों लोगों ने उस दृश्य को देखा। यहां कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत से लोगों ने उस दृश्य को देखा। उनके पास बीस हजार पत्नियों को दिखाकर यह दिखाया गया है कि बहुत होने पर भी संतोष नहीं होता, बहुत होने पर भी सुख नहीं मिलता। ऐसा कर वे राजा की प्रतिष्ठा और वैभव दिखाते हैं, यह status symbol है। साथ ही शील की महिमा बताने के लिए यह कहा गया है कि जो शीलवती नारी होती है वही जब पुत्र की कामना करती है तो उसे पुत्र प्राप्त होता है। जैसे राजमहिषी को पुत्र हुआ। इस कथा में उसके गर्भ से नहीं, बल्कि पद्मगर्भ से महापद्म उत्पन्न हुए। इस तरह बहुत-सी कथायें खग्गविसाणसुत्त की अट्ठकथा में वर्णित हैं।

हेमवत और सातागिर कैसे यक्षयोनि में जनमे– इसका उत्तर हेमवतसुत्तवर्णना में मिलता है। अपने बुरे कर्मों के फलस्वरूप दो आचार्य मर कर यक्षयोनि में जनमे।

कुछ कथायें स्थानों से संबंधित हैं जैसे वैशाली नाम क्यों पड़ा। वज्जिप्रदेश तथा वज्जियों एवं लिच्छवियों की उत्पत्ति के बारे में भी यहां कहा गया है (देखें रतनसुत्तवर्णना, सु० नि० अ० भाग २)।

बुद्धघोस की अट्ठकथा की एक और विशेषता है कि यदि किसी शब्द का अर्थ उन्होंने कहीं और किया है या बाद में करनेवाले हैं तो वे दुबारा उसका अर्थ नहीं करते। कहते हैं कि इस शब्द के अर्थ को विस्तार से जानने के लिए अमुक सुत्त की अट्ठकथा देखिये।

बुद्धघोस की अट्ठकथा की एक और विशेषता है। वह व्याकरण से संबंधित है। कहां किस शब्द का प्रयोग द्वितीया में तृतीया के अर्थ में किया गया है, और कहां द्वितीया विभक्ति का प्रयोग सप्तमी के अर्थ में किया गया है। इस तरह की व्याकरण संबंधी बातें जहां-तहां पायी जाती हैं। अट्ठकथा लिखते समय वे व्याकरण की सूक्ष्म बातों को बताना नहीं भूलते। इससे व्याकरण में उनकी पारंगतता सिद्ध होती है। **सच्चं करोमि निद्दानन्ति** (पृ० ११७) यहां **करणत्थे चेतं उपयोग वचनं** जानना चाहिए। **निद्देहि तिणानि** (पृ० ११६) यहां उपयोग अर्थ में करण कारक का प्रयोग है।

साधारणतया जहां उपमा की बात है वहां किसी की सुंदरता को बताने के लिए उसके मुख की उपमा चांद से दी जाती है, उसकी शक्ति बताने के लिए उसे सिंह कहा जाता है, पर बुद्धघोस चार मार्गों की भावना करने की उपमा विष से देते हैं, मंडूक कंटक से देते हैं जो वृक्ष के मूल को ही नष्ट कर देता है। जब मूल ही नष्ट हो गया तो रस कहां से आयगा और फल कहां से उत्पन्न होंगे? आर्यमार्ग की भावना करने से तृष्णा के वृक्ष नहीं बढ़ते और फल नहीं देते जिससे भवचक्र का चलना ही रुक

जाता है। आर्यमार्ग की भावना करने की उपमा मंडूक कंटक नामक विष से देना साहित्य में एक बड़ा ही साहसिक काम है। कहां आर्यमार्ग की भावना करना अमृत की तरह है और कहां मंडूक कंटक जो विष है? लेकिन चूंकि मार्ग की भावना करने से तृष्णा के विषरस सूख जाते हैं जिससे भविष्य में दु:ख के कारण उत्पन्न नहीं होते इसलिए यह उपमा सटीक हो जाती है।

बुद्धघोस की अट्ठकथा में बहुत-सी समाजविज्ञान की बातें हैं। बुद्ध ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं, प्रत्येकबुद्ध क्षत्रिय, ब्राह्मण या गृहपति कुल में, अग्रश्रावक भी बुद्ध की तरह क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होते हैं। इस बात को गहराई से समझने के लिए बुद्ध द्वारा उपदिष्ट कर्म सिद्धांत को ध्यान में रखना चाहिए कि जात्या ब्राह्मण या वृषल नहीं होता, कर्मणा होता है अर्थात कर्म के आधार पर ही बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा अग्रश्रावक भी जन्म लेते हैं।

खग्गविसाणसुत्तवर्णना में ही इस काया का धातुश: प्रत्यवेक्षण कर लोग इस उपसंहार पर पहुंचते हैं कि नित्य आत्मा नहीं है, सब कुछ अनित्य, दु:ख और अनात्म है।

इसी सुत्त में बड़े विस्तार से **'गत-प्रत्यागत व्रत'** और **'हरति-पच्चाहरति'** का अर्थ बताया गया है। 'गत-प्रत्यागत' व्रत तब पूरा हुआ कहा जाता है जब कोई भिक्षु भिक्षाटन के लिए जाते समय कर्मस्थान लेकर जाता है और कर्मस्थान के साथ ही वापस लौटता है। इसी अर्थ में 'हरति पच्चाहरति' का भी प्रयोग किया गया है।

बुद्धघोस की अट्ठकथा में कुछ विशेष शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ आजकल इतनी आसानी से नहीं समझा जाता। यहां कुछ वैसे शब्द दिये जा रहे हैं– एक शब्द है 'अधिकार' जिसका अर्थ परित्याग होता है। **अधिकारोति अधिककारो परिच्चागोति अत्थो।** दो और शब्द हैं **'सन्दिट्ठ'** और **'सम्भत्त'**। आजकल ये शब्द प्रयोग में नहीं है। दोनों शब्दों का अर्थ मित्र होता है। **'सम्भत्त' 'सन्दिट्ठ'** से ज्यादा गाढ़ा मित्र होता है। चूंकि सम्भत्त एक साथ बैठकर भोजन भी करते हैं पर **'सन्दिट्ठ'** वैसे मित्र हैं जो सिर्फ देखा-देखी के मित्र हों।

पाथिकवग्ग की टीका में **सम्भत्तो** को **दळ्हमित्त** (प्रगाढ़ मित्र) कहा गया है। महावग्ग अट्ठकथा में **सम्भत्तो** को **एकसम्भोगो दळ्हमित्तो** के रूप में परिभाषित किया गया है। और **सन्दिट्ठो** को **दिट्ठमत्तमित्तो** अर्थात देखा-देखी का मित्र कहा गया है तथा पाथिकवग्ग टीका में **दिट्ठमतसहायो** कहा गया है। सारत्थदीपनी टीका २.३४६ में '**सन्दिट्ठो'** को '**दिट्ठमित्तो' 'नातिदळ्हमित्तो'** कहा गया। पालिसाहित्य में अट्ठकथा है और टीका भी है जैसा ऊपर दिये गये उद्धरण से स्पष्ट है। प्रश्न उठता है कि अट्ठकथा तथा टीका में क्या अंतर है?

अट्ठकथा तथा टीका में अंतर

जहां आवश्यक समझा गया है अट्ठकथा में शब्दों के अर्थ के साथ-साथ कथाएं भी दी गयीं हैं लेकिन टीका में संस्कृत टीकाओं की तरह शब्दों के सिर्फ अर्थ ही दिये गये हैं। अट्ठकथा तथा टीका में यह मूलभूत अंतर है। बहुत स्थलों पर अट्ठकथा में पाये जानेवाले कठिन शब्दों के अर्थ टीका में दिये गये हैं।

भरत सिंह उपाध्याय के शब्दों में आचार्य बुद्धघोस एक पूरे युग के विधायक थे। उन्होंने

'बुद्धशासन की सेवा और उसकी चिरस्थिति के लिए जितना अधिक काम किया है उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति ने किया हो। अट्ठकथा साहित्य में उनका योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।' कुछ लोगों का मानना है कि बुद्धघोस ने लंका जाकर वहां पायी जानेवाली अट्ठकथाओं का सिर्फ मागधी भाषा या पालि में अनुवाद किया। लेकिन मेरा मानना है कि वे सिर्फ अनुवादक नहीं थे जैसा मैंने ऊपर में कहा है। उनकी अट्ठकथाओं से उनका पांडित्य और काव्यत्व झलकता है। जो व्यक्ति लंका में वहां के भिक्षुओं द्वारा अट्ठकथाएं दिये जाने के पूर्व विशुद्धिमार्ग की रचना कर सकता है, उसे सिर्फ अनुवादक कहना उनकी मौलिकता एवं उनके प्रकांड पांडित्य पर प्रश्नचिह्न लगाना है।[१] बुद्धघोस एक नीरस अट्ठकथाकार नहीं हैं। उनकी अट्ठकथाओं में काव्यात्मकता है, सरसता है और हैं उदात्त विचार। श्रद्धा को बीज क्यों कहा गया है– इसकी व्याख्या जब बुद्धघोस करते हैं तो एक साथ ही कृषिविज्ञान और विपश्यना ध्यान के गहन ज्ञान को भी प्रदर्शित करते हैं, उजागर करते हैं।

तत्थ यथा ब्राह्मणस्स कसिया मूलभूतं बीजं द्वे किच्चानि करोति, हेट्ठा मूलेन पतिट्ठाति, उपरि अङ्कुरं उट्ठापेति; एवं भगवतो कसिया मूलभूता सद्धा हेट्ठा सीलमूलेन पतिट्ठाति, उपरि समथविपस्सनङ्कुरं उट्ठापेति। यथा च तं मूलेन पथविरसं आपोरसं गहेत्वा नाळेन धञ्ञपरिपाकगहणत्थं वड्ढति; एवमयं सीलमूलेन समथविपस्सनारसं गहेत्वा अरियमग्गनाळेन अरियफलधञ्ञपरिपाकगहणत्थं वड्ढति। यथा च तं सुभूमियं पतिट्ठहित्वा मूलङ्कुरपण्णनाळकण्डप्पसवेहि वुड्ढिं विरूळ्हिं वेपुल्लं पत्वा, खीरं जनेत्वा, अनेकसालिफलभरितं सालिसीसं निप्फादेति; एवमयं चित्तसन्ताने पतिट्ठहित्वा सीलचित्तदिट्ठिकङ्खावितरणमग्गामग्गञाणदस्सनपटिपदाञाणदस्सनविसुद्धीहि वुड्ढिं विरूळ्हिं वेपुल्लं पत्वा ञाणदस्सनविसुद्धिखीरं जनेत्वा अनेकपटिसम्भिदाभिञ्ञाभरितं अरहत्तफलं निप्फादेति।

(यहां जिस प्रकार ब्राह्मण की कृषि के लिए जो मूलभूत बीज है वह दो काम करता है, नीचे जड़ जमाता है और ऊपर अंकुर पैदा करता है; इसी प्रकार भगवान की कृषि के लिए जो मूलभूत बीज श्रद्धा है वह नीचे शील पर प्रतिष्ठित होती है और ऊपर शमथ तथा विपश्यना का अंकुर पैदा करती है। जिस प्रकार बीज जड़ से पृथ्वीरस, जलरस लेकर धान या धान्य को पकाने के लिए डंठल से बढ़ता है उसी प्रकार शील की जड़ से आर्यमार्ग डंठल से शमथ विपश्यना का रस लेकर आर्य फलरूपी धान्य को पकाने के लिए श्रद्धा बढ़ती है। जिस प्रकार अच्छी भूमि में प्रतिष्ठित हो मूलङ्कुर पत्ते को उत्पन्न कर गांठ रहित नाल को पैदा कर वृद्धि को प्राप्त करता है, विपुलता को प्राप्त कर बढ़ता है, दूध पैदा करता है, अनेक धान फल से भरे धान की बालियों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह (श्रद्धा) चित्तसंतान में प्रतिष्ठित होकर विशुद्धियों जैसे (शील विशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, कांक्षावितरण विशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शन विशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि) से वृद्धि को, विपुलता को, प्राप्त कर ज्ञान दर्शन विशुद्धि रूपी दूध पैदा करता है और अनेक प्रतिसम्भिदाओं तथा अभिज्ञाओं से भरा हुआ अर्हत्व फल को उत्पन्न करती है (देखें पृ० १३३-१३४)।

बुद्ध की कृषि और ब्राह्मण की कृषि में मूलभूत अंतर यह है कि जहां ब्राह्मण की कृषि का फल खाकर कोई पुनः भूखा हो जाता है वह बुद्ध की कृषि का फल, जो आध्यात्मिक है, ब्राह्मण की तरह भौतिक नहीं, खाकर अपनी भूख सर्वदा के लिए मिटा लेता है।

---

१. देखें मेरा लेख Buddhaghosa– A Commentator Par Excellence published in the Journal of the Asiatic Society of Mumbai, 2012 vol . 84 for 2010-2011.

आळवकसुत्तवर्णना में श्रद्धा को श्रेष्ठ धन क्यों कहा गया है इसका वर्णन है। **धनियसुत्तवर्णना** में भगवान ने धनिय गोप को उसकी नाव की सीमाएं बतायी हैं। वह बेड़ा बनाकर मही नदी को पारकर यहां आया है। यहां से जाने के लिए अर्थात मही नदी पार उतरने के लिए उसे पुनः बेड़ा बांधना होगा। लेकिन भगवान ऐसा बेड़ा बांधकर भवसागर पार उतर गये हैं कि उन्हें यहां फिर आना नहीं और बेड़ा बांधना नहीं होगा।

'मैंने अपने एकाग्र चित्त में मार्ग के सभी आठ अंगों को मिलाकर ज्ञान के बंधन से नाव बांधी है। वह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों से परिपूर्ण होने के कारण एकरस भाव (अपरिवर्तनीयसमानरूप) प्राप्त है, एक दूसरे को अतिक्रमित न करने के कारण पुनः इसे बांधने के प्रयोजन के अभाव में यह दृढ़तापूर्वक बंधी है, यह किसी भी देव-मनुष्य द्वारा खोली नहीं जा सकती। अतः मेरी नाव तुम्हारी नाव की तुलना में बहुत अच्छी तरह से दृढ़तापूर्वक बंधी है और इस नाव से उत्तीर्ण होकर मैं वहां आ गया हूं जहां आने की कामना की थी। अब यहां से लौटना नहीं होगा।'

सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों की तुलना नाव से करने में मौलिक चमत्कार है।

कसिभारद्वाजसुत्तवर्णना में **अभिक्कन्तं भो गोतम अभिक्कन्तं** से प्रारंभ होनेवाले अनुच्छेद की व्याख्या में गहन दर्शन के साथ-साथ काव्य सौष्ठव भी है जो पाठकों को चमत्कृत करता है।

अर्थकथा की एक और विशेषता है। वह यह है कि लगभग एक हजार वर्ष बाद बुद्ध को इतिहास पुरुष के साथ-साथ इतना महिमामंडित किया जाने लगा कि वे भी भगवान हो गये, देवतुल्य हो गये। उनका **deification** हो गया। यह विशेषता हमें **कसिभारद्वाजसुत्तवर्णना** में देखने को मिलती है।

"न सिर्फ पशु-पक्षी बल्कि हवा आदि भी उनसे प्रभावित होती हैं। जब वे भिक्षाचार के लिए जाते हैं तो मंद गति से बहनेवाली हवा पृथ्वी को साफ करती है, बादल ऐसी वर्षा करते हैं ताकि धूल न उड़े और साथ ही वह बुद्ध के ऊपर वितान की तरह होता है ताकि धूप से उनकी रक्षा हो। एक दूसरी प्रकार की हवा फूलों को चुनकर मार्ग पर बिखेरती है। जब वे चलते हैं तो मार्ग अपने आप समतल हो जाता है, ऊंची जगह नीची हो जाती है और नीची जगह ऊंची। हाथी, घोड़े और पक्षी मंत्रमुग्ध होकर बुद्ध को देखते हैं और मधुर आवाज करते हैं।'

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धघोस का काल आते-आते बुद्ध को देवतुल्य माना जाने लगा, उनपर देवत्व अरोपित किया गया अर्थात उनका deification हो गया था।

डॉ० ओमप्रकाश पाठक का खूब बारीकी से प्रूफ देखने के लिए, श्री के. मंजप्पा का पालि के शब्दों तथा वाक्यों के सही-सही अर्थ जानने में सहायता करने के लिए, श्रीमती विनीता त्रिपाठी का पूरी पुस्तक का टंकण करने तथा बार-बार प्रूफ में संशोधन करने के लिए असीम धैर्य तथा अथक परिश्रम के लिए एवं श्री गणेश वाडेकर का पुस्तक, के सुंदर गेटअप तथा उसको प्रेस के लायक बनाने के लिए धन्यवाद करता हूं।

अंगराज चौधरी

ग्रंथारम्भकथा

उत्तमं वन्दनेय्यानं, वन्दित्वा रतनत्तयं।
यो खुद्दकनिकायम्हि, खुद्दाचारप्पहायिना॥

देसितो लोकनाथेन, लोकनिस्सरणेसिना।
तस्स सुत्तनिपातस्स, करिस्सामत्थवण्णनं॥

वंदनीयों में श्रेष्ठ तीन रत्नों की वंदना करके, हीन आचार को छोड़नेवाले तथा संसार से मुक्ति की खोज करनेवाले लोकनाथ (बुद्ध) ने खुद्दक निकाय में जो उपदेश दिये हैं (और जो सुत्तनिपात में संगृहीत हैं) उस सुत्तनिपात का मैं अर्थ वर्णन करूंगा, अर्थात उसमें संगृहीत सुत्तों पर भाष्य लिखूंगा।

अयं सुत्तनिपातो च, खुद्दकेस्वेव ओगधो।
यस्मा तस्मा इमस्सापि, करिस्सामत्थवण्णनं॥

चूंकि यह सुत्तनिपात खुद्दक निकाय में सम्मिलित है, इसलिए इसके अर्थ की व्याख्या करूंगा।

गाथासतसमाकिण्णो, गेय्यब्याकरणङ्कितो।
कस्मा सुत्तनिपातोति, सङ्खमेस गतोति चे॥

यह सैकड़ों गाथाओं से समाकीर्ण है, इसमें गेय्य तथा व्याकरण भी हैं तो कैसे इसका नाम सुत्तनिपात पड़ा?

सुवुत्ततो सवनतो, अत्थानं सुट्ठु ताणतो।
सूचना सूदना चेव, यस्मा सुत्तं पवुच्चति॥

चूंकि अच्छी तरह से कहे जाने से, अच्छी तरह सुने जाने से, अर्थों की सुष्ठु रूप से रक्षा करने से अर्थात ठीक तरह से अर्थवान होने से, सूचना देने से, सुत्त कहा जाता है।

तथारूपानि सुत्तानि, निपातेत्वा ततो ततो।
समूहतो अयं तस्मा, सङ्खमेवमुपागतो॥

इसलिए वैसे सुत्तों को वहां-वहां से रखकर (संग्रह कर) समूह में रखने के कारण इसका यह नाम पड़ा।

सब्बानि चापि सुत्तानि, पमाणन्तेन तादिनो।
वचनानि अयं तेसं, निपातो च यतो ततो॥

आकार के दृष्टिकोण से आदरणीय के सभी सुत्त तथा उनके वचन जहां-तहां से सुत्तनिपात में रखे गये हैं।

अञ्ञसङ्खानिमित्तानं, विसेसानमभावतो।
सङ्खं सुत्तनिपातोति, एवमेव समज्झगाति॥

इस प्रकार दूसरे नाम के निमित्तों के विशेष अभाव से इसने सुत्तनिपात नाम प्राप्त किया है।

१. उरगवर्ग

उरगसुत्तवर्णना

१. उरगसुत्तवर्णना

इस प्रकार नाम प्राप्त कर यह वर्ग की दृष्टि से पांच वर्गों में विभाजित है जैसे उरगवर्ग, चूलवर्ग, महावर्ग, अष्टकवर्ग और पारायणवर्ग। उनमें उरगवर्ग पहले है। सुत्त के दृष्टिकोण से उरगवर्ग में बारह सुत्त हैं, चूलवर्ग में चौदह, महावर्ग में बारह, अष्टकवर्ग में सोलह और पारायणवर्ग में सोलह। इस प्रकार इसमें कुल सत्तर सुत्त हैं। उनमें उरगसुत्त पहले है। धर्मग्रंथों को याद करने के प्रमाण के अनुसार इसमें आठ भाणवार[१] हैं।

इस प्रकार वर्ग, सुत्त, तथा परियत्ति (धर्मग्रंथों) को याद करने के प्रमाण से युक्त इस ग्रंथ की यह पहली गाथा है–

"यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसटं सप्पविसंव ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराण"न्ति॥

"जो उत्पन्न हुए क्रोध को उसी तरह दूर करता है जैसे कोई औषधि से उस सर्प-विष को जो पूरी देह में फैल चुका होता है, वह भिक्षु संसार सागर के इस पार को तथा उस पार को वैसे ही छोड़ता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

अतः यहां से प्रारंभ कर इसका अर्थ वर्णन करने के लिए यह कहा–

"येन यत्थ यदा यस्मा, वुत्ता गाथा अयं इमं।
विधिं पकासयित्वास्सा, करिस्सामत्थवण्णन"न्ति॥

"जिसके द्वारा, जहां, जिस समय और जिस कारण से यह गाथा कही गयी, इस विधि को प्रकाशित कर इसके अर्थ की व्याख्या करूंगा।"

यह गाथा किसके द्वारा कही गयी, कहां, कब और क्यों कही गयी?

कहा जाता है– वह भगवान जो चौबीस बुद्धों[२] से यह भविष्यवाणी सुनकर (कि वह भी बुद्ध बनेगा) वेस्संतरजातक तक पारमी पूराकर तुषित भवन में पैदा हुए, और फिर वहां से च्युत होकर शाक्यराज कुल में उत्पन्न हुए, क्रमशः महाभिनिष्क्रमण कर बोधिवृक्ष के नीचे सम्यक संबोधि प्राप्त कर धर्मचक्र का (जिन्होंने) प्रवर्त्तन किया और देव तथा मनुष्यों के कल्याण के लिए धर्मोपदेश किया, उन

१. भाणवार आठ हजार अक्षरों से समन्वित होता है।

२. यहां २४ बुद्धों में प्रथम और २७ बुद्धों में चतुर्थ। इनका जन्म रम्मवती में हुआ था और इनके माता पिता का नाम क्रमशः सुमेधा और सुदेव था। इन्हीं के समय बोधिसत्त्व सुमेध ने बुद्ध बनने का संकल्प लिया था और दीपङ्कर ने भविष्य देखकर इनके गौतम बुद्ध बनने की भविष्यवाणी की थी।

स्वयंभू, बिना आचार्यवाले सम्यक संबुद्ध द्वारा यह गाथा कही गयी। यह आलवी[१] में कही गयी। जब उन्होंने वनस्पति से संबंधित शिक्षापद की घोषणा की अर्थात इससे संबंधित नियम को बनाया तब वहां आये हुए लोगों को धर्म देशना देने के उद्देश्य से यह गाथा कही गयी। यह यहां संक्षेप में कहा गया है। विस्तार से तो इसको 'दूरे निदान', 'अविदूरे निदान' तथा 'सन्तिके निदान' के संदर्भ में जानना चाहिए।

दूरेनिदानं– दीपंकर[२] से लेकर वर्तमान जीवन तक को,

अविदूरेनिदानं– तुषित भवन से लेकर वर्तमान जीवन तक को और

सन्तिकेनिदानं– बोधिमंड (बोधिवृक्ष के नीचे का वह स्थान जहां सिद्धार्थ गौतम वज्रासन लगाकर बोधि प्राप्ति के लिए कृतसंकल्प होकर बैठे थे) से लेकर वर्तमान जीवन तक को कहते हैं।

यहां चूंकि 'अविदूरे निदान' और 'सन्तिके निदान' 'दूरे निदान' में ही समाहित हैं, इसलिए इनका विस्तार से उत्तर यहां 'दूरे निदान' से ही जानना चाहिए। यह जातक अट्ठकथा में कहा गया है, इसलिए यहां इसका विस्तार नहीं किया गया है। वहां जैसा विस्तार से कहा गया है, उसके अनुसार इसको जानना चाहिए। किंतु यह विशेष है। वहां पहली गाथा की घटना श्रावस्ती में घटी और यहां आलवी में। जैसे कहा गया–

"उस समय भगवान बुद्ध आलवी में अग्गालव चैत्य में विहार कर रहे थे। उसी समय आलवक के भिक्षुगण विहार की मरम्मत के लिए वृक्ष काट रहे थे और कटवा रहे थे। आलवक के एक भिक्षु वृक्ष काट रहे थे। उस पर रहनेवाले देवता ने उस भिक्षु को कहा, 'भंते, अपना घर बनाने के लिए मेरे घर को मत काटें, पर उस भिक्षु ने ध्यान नहीं दिया और वे वृक्ष काटते ही रहे।" उस देवता के बेटे की बांह को काटना चाहा तो उस देवता के मन में ऐसा हुआ, 'क्यों न मैं इस भिक्षु को यहीं मार डालूं?'

अब देवता के मन में ऐसा हुआ, 'यह मेरे योग्य नहीं है कि मैं इस भिक्षु को यहां ही मार दूं, क्यों न मैं भगवान को इस बात की सूचना दूं'?

"अब वह देवता भगवान के पास गये और उनसे यह बात कही। 'साधु, साधु, हे देवता, बड़ा अच्छा किया कि तुमने उस भिक्षु की हत्या नहीं की। हे देवता, अगर तुमने आज, उस भिक्षु की हत्या की होती तो बहुत अकुशल किया होता। हे देवता, तुम जाओ, अमुक जगह पर एक वृक्ष एकांत में है, वहीं चले जाओ" (पाचि० ८९)।

ऐसा कहकर पुनः भगवान ने उस देवता के उत्पन्न क्रोध को दूर करने के लिए यह गाथा कही–

"यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं व वारये"ति ॥ (ध० प० २२२) –

जो निश्चित रूप से उत्पन्न क्रोध को भ्रांत हुए रथ की तरह रोके,

१. आजकल का नेवल और नवल, जिला उन्नाव उत्तर प्रदेश, आजकल का ऐरवा, इटावा से २७ मील उत्तरपूर्व दिशा में– कनिंघम होर्निक नंदलाल डे।

२. अब तक २८ बुद्ध हुए हैं– १) तण्हङ्कर २) मेधङ्कर ३) सरणङ्कर ४) दीपङ्कर ५) कोण्डञ्ञ ६) मङ्गल ७) सुमन ८) रेवत ९) सोभित १०) अनोमदस्सी ११) पदुम १२) नारद १३) पदुमुत्तर १४) सुमेध १५) सुजात १६) पियदस्सी १७) अत्थदस्सी १८) धम्मदस्सी १९) सिद्धत्थ २०) तिस्स २१) फुस्स २२) विपस्सी २३) सिखी २४) वेस्सभू २५) ककुसंध २६) कोणागमन २७) कस्सप २८) गोतमबुद्ध – देखें बुद्धवंस।

उसके बाद मनुष्यों को उस प्रकार खीझकर कहते सुनकर कि "कैसे हैं ये शाक्यपुत्रीय श्रमण जो वृक्ष को काटते भी हैं, कटवाते भी हैं और एकिंद्रिय जीव को भी कष्ट देते हैं", भिक्षुओं द्वारा ऐसा सूचित किये जाने पर भगवान ने इस शिक्षापद की घोषणा की (यह नियम बनाया) कि "वनस्पति को काटने से पाचित्तिय का दोष लगेगा" (पाचि० ९०) और वहां उपस्थित लोगों को धर्म देशना के लिए यह गाथा कही–

"यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसटं सप्पविसं व ओसधेही"ति।

इस प्रकार यह एक ही घटना तीन जगहों में संगृहीत है– विनय में, धर्मपद में और सुत्तनिपात में। यहां तक तो जो मातिका स्थापित की गयी कि–

"जिसके द्वारा, जहां, जिस समय और जिस कारण से यह गाथा कही गयी, इस विधि को प्रकाशित कर इसका अर्थ वर्णन करूंगा"–

वह संक्षेप में और विस्तार से अर्थ व्याख्या को छोड़कर प्रकाशित हुई है।

यह अर्थ की ब्याख्या है।

यो– जो या इसके जैसा क्षत्रिय कुल से प्रव्रजित है या ब्राह्मण कुल से, युवा है, अधेड़ है या बूढ़ा।

उप्पतितं– ऊपर-ऊपर गया, चालू रहा यह अर्थ है, 'उत्पन्न हुआ', यह कहा गया है।

त्रैभूमिक पञ्चस्कंध के कारण 'उत्पन्न' के वर्तमान, भुत्वापगत (भोगकर दूर किया हुआ) और ओकासकत (अवकाशकृत) और भूमिलब्ध (पांच स्कंधों में उत्पन्न होने योग्य क्लेश) होने के कारण अनेक प्रकार हैं। इस संबंध में सभी संस्कृत को उत्पाद आदि अर्थात उत्पाद, स्थिति और भंग से युक्त होने के कारण **वत्तमानुप्पन्नं** (वर्तमान में उत्पन्न) कहा गया है, जिसके प्रसंग में "उत्पन्न धर्म, अनुत्पन्न धर्म और उत्पाद करनेवाले धर्म" (ध० स० तिकमातिका १७) कहा गया है। विषयों का स्वाद अनुभवकर कुशल और अकुशल जो निरुद्ध होते हैं उसे **अनुभुत्वागत** कहते हैं, उत्पाद आदि अर्थात उत्पाद, स्थिति और भंग तीनों स्थितियों को जो प्राप्त कर अर्थात तीनों स्थितियों के बाद निरुद्ध होते हैं उन्हें **भुत्वापगत**[१] कहा जाता है तथा शेष संस्कृत को **'भुत्वापगतुप्पन्न'** (भोगकर दूर करने के बाद उत्पन्न) कहा जाता है।

वह यह है– "इस प्रकार की पाप दृष्टि उत्पन्न होती है" (म० नि० १.२३४; पाचि० ४१७) और "जैसे उत्पन्न स्मृति संबोध्यंग की भावना परिपूर्ण होती है" तथा इस प्रकार के और उदाहरण सुत्तों में द्रष्टव्य हैं। "उसके पूर्व में किये जो कर्म हैं" इस प्रकार (म० नि० ३.२४८; नेत्ति० १२०) आदि के नय से कहे गये कर्म अतीत में भी होकर अन्य विपाक को रोककर अपने विपाक को अवकाश देकर स्थित होने के कारण तथा दिये अवकाश में विपाक के अनुत्पन्न होने पर भी इस प्रकार किये गये अवकाश में अवश्य उत्पन्न होने के कारण उसे **अवकाशकृत** उत्पन्न कहा जाता है। उन-उन भूमियों (आलंबनभूत त्रैभूमिक पञ्चस्कंधों) में न उखड़े अकुशल को **भूमिलब्ध** उत्पन्न कहते हैं।

यहां भूमि में भूमिलब्ध को नाना प्रकार का जानना चाहिए। जैसे– भूमि कहते हैं विपश्यना के लिए आलंबनभूत त्रैभूमिक पञ्चस्कंध को। भूमिलब्ध कहते हैं उनमें (पांच स्कंधों में) उत्पन्न होने योग्य

---

१. .सम्मोहविनोदनिया पन विपाकानुभवनवसेन तदारम्मणं अविपक्कपाकस्स सब्बथा अविगतत्ता भवित्वाविगतमत्तवसेन कम्मञ्च भुत्वापगतन्ति वुत्तं।

उत्पन्नक्लेश को। इस कारण ही वह भूमिलब्ध कहलाता है। इसलिए इसे 'भूमिलब्ध' कहते हैं। किंतु वह आलंबन के कारण नहीं। आलंबन के कारण सभी अतीत आदि के भेदों को पूरी तरह जान लेने पर भी क्षीणाश्रवों को स्कंधों को लेकर क्लेश उत्पन्न होते हैं जैसे महाकच्चान[१], उप्पलवण्णा[२] को हुए, ठीक उसी तरह जैसे, सोरेय्य सेट्ठि पुत्त[३] नंद माणव[४] को हुए। यदि इसका भी नाम 'भूमिलब्ध' हो, तो उसके अप्रहीण होने के कारण कोई भवमूल को छोड़ेगा ही नहीं अर्थात छोड़ ही नहीं सकता। आधार होने के कारण इसको भूमिलब्ध नाम से जानना चाहिए। जहां-जहां विपश्यना द्वारा अपरिज्ञात स्कंध उत्पन्न होते हैं, वहां-वहां उत्पाद से लेकर उनके वृत्तमूल उत्पन्न क्लेश अनुशय के रूप में रहते हैं। अप्रहीण होने के कारण उनको 'भूमिलब्ध उत्पन्न' कहा जाता है। इस संबंध में जिसके स्कंधों में अप्रहीण क्लेश अनुशय रूप में हैं, उसके वे स्कंध उन क्लेशों के आधार हैं, दूसरे स्कंध नहीं। अतीत स्कंधों में उसके अप्रहीण अनुशय क्लेशों के अतीत स्कंध ही उनके आधार हैं, न कि दूसरा। इसी प्रकार भविष्य आदि में भी। वैसे ही कामावचर स्कंधों के अप्रहीण अनुशय क्लेशों का आधार कामावचर स्कंध ही है, दूसरा नहीं। इसी प्रकार रूपावचर तथा अरूपावचर भूमियों में भी।

सोतापन्न आदि पुद्गलों में जिस-जिस आर्य पुद्गल के स्कंधों में जो-जो भवचक्र मूल उत्पन्न क्लेश उस-उस मार्ग से प्रहीण होते हैं, उस-उस पुद्गल के उन-उन स्कंधों के प्रहीण होने पर उनके-उनके भवचक्र मूल क्लेशों का आश्रय या आधार भूमि न होने से उनका कोई नाम नहीं होता। लेकिन पृथकजन के सब प्रकार से क्लेशों के प्रहीण न होने के कारण उसके द्वारा जो कुछ कुशल या अकुशल कर्म किया जाता है, उसके क्लेश के प्रत्यय से भवचक्र (वृत्त) चलता ही रहता है। उसका यह वृत्तमूल (भव का कारण) रूपस्कंध में ही है, न वेदना आदि स्कंधों में... पे०..., या विज्ञान स्कंध में ही, रूपस्कंध आदि में नहीं है– ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्यों? अविशेष रूप से (बिना अंतर किये) पांचों स्कंधों में अनुशयित होने के कारण। कैसे? वृक्ष में पृथ्वी रसादि के समान। जैसे महावृक्ष पृथ्वी तल पर अधिष्ठित हो पृथ्वी तथा जल रस पर आश्रित हो उसके कारण मूल, स्कंध, शाखा, प्रशाखा, पत्र-पल्लव, पलास, पुष्प, फल से वृद्धि प्राप्त कर आकाश को छा लेता है, कल्प के अवसान तक बीज परंपरा की संतान में स्थित 'वह पृथ्वी रस आदि के मूल में ही है, स्कंध आदि में नहीं, फल में ही है, न मूल आदि में' ऐसा न कहना चाहिए। क्यों? सभी मूल आदि में बिना अंतर किये अनुगत होने के कारण, इसलिए। जैसे उस वृक्ष के पुष्प तथा फल में निर्वेद प्राप्त कोई व्यक्ति वृक्ष के चारों तरफ मंडूक कंटक नामक विष का प्रयोग करे, फलतः वह वृक्ष उस विष के संस्पर्श से पृथ्वी रस तथा जल रस से रहित हो इन दोनों के प्रवाह के रुक जाने से वह पुनः संतान पैदा करने में समर्थ नहीं हो, इसी प्रकार स्कंध आदि में निर्वेद प्राप्त कुलपुत्र उस व्यक्ति की तरह है जो वृक्ष के चारों तरफ विष का प्रयोग करता है अर्थात अपनी संतान में चार मार्गों की भावना आरंभ करता है। फलतः उसका वह स्कंध संतान उस चार मार्ग के विष के संस्पर्श से, सब प्रकार से भवचक्र के मूल क्लेशों से रहित हो क्रियाभाव मात्र को प्राप्त कर कायकर्म आदि सभी

१. महाकच्चान जब गृद्धकूट पर्वत से नीचे उतर रहे थे तो वर्षकार की दृष्टि में वे बंदर की तरह दिख रहे थे।

२. उप्पलवण्णा के साथ उसके ममेरे भाई ने ही रतिक्रीड़ा की, उसको rape किया।

३. सोरेय्य सेट्ठिपुत्त ने महाकच्चान के सुंदर शरीर को देखकर या तो यह इच्छा की कि वे उसकी पत्नी हो जायं या वह स्वयं उनकी पत्नी हो जाय। अंततः वह स्त्री हो गया अर्थात उसका लिंग परिवर्त्तन हो गया और उसका विवाह दूसरे पुरुष से हुआ जिससे दो बच्चे हुए।

४. नंदमाणव के साथ रहनेवाले सभी तापस अर्हत हो गये पर नंद माणव स्वयं न हो सके क्योंकि उनका ध्यान कहीं और था।

प्रकार के कर्मों को भविष्य में पुनर्भव में उत्पन्न होने की धर्मता से दो जन्मों के बीच के समय संतान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। केवल अंतिम विज्ञान के निरोध से बिना ईंधन की आग की तरह ईंधन (उपादान) के अभाव में बुझ जाता है। इस प्रकार भूमि में भूमिलब्ध का नानात्व जानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त और भी **समुदाचार, आरम्मणाधिग्गहित, अविक्खम्भित** और **असमूहत** चार प्रकार की उत्पत्तियां कही गयी हैं[1]। इस संबंध में वर्तमान में उत्पन्न ही **समुदाचारुप्पन्न** है। 'समुदाचरति' का अर्थ To be current, to be in use होता है। चक्षु आदि के पथ में आये आलंबन के कारण पूर्व भाग में क्लेश नहीं उत्पन्न होने पर भी आलंबन के अधिग्रहण करने के कारण ही बाद में अवश्य उत्पन्न होने से **आरम्मणाधिग्गहितुप्पन्न** कहलाता है। कल्याणी गांव में भिक्षाटन के लिए विचरण करते महातिस्स थेर[2] को (नग्न स्त्री के) असाधारण रूप दर्शन से उत्पन्न क्लेश का यहां उदाहरण है। उनके 'उत्पन्न काम वितर्क' (म० नि० १.२६; अ० नि० २.६.५८) आदि में उनके द्वारा किया जानेवाला आयास-प्रयास या उद्योग द्रष्टव्य है। शमथ विपश्यना में किसी के भी (द्वारा) नहीं नष्ट हुआ क्लेश चित्त संतति में न आरूढ़ हो उत्पत्ति निवारक हेतु के अभाव में अविक्खम्भितुप्पन्न (अविनष्ट उत्पत्ति) कहा जाता है। वह 'भिक्षुओ, यह आनापान स्मृति समाधि के भावित तथा बहुलीकृत होने पर शांत एवं प्रणीत अमिश्रित (परम) सुख और विहार (आर्य, दिव्य और ब्रह्म विहार) के उत्पन्न होने पर पापी अकुशल धर्म शीघ्र अंतर्धान हो जाता है' (पारा० १६५) आदि में द्रष्टव्य है। शमथ विपश्यना के कारण नष्ट हुआ क्लेश भी आर्य मार्ग से जड़ से न निकाले जाने के कारण उत्पत्ति धर्म से अनतीत होकर **असमूहतुप्पन्न** कहा जाता है। आकाश मार्ग से जाते हुए आठ समापति लाभी थेर के कुसुमित वृक्ष के उपवन में पुष्पों को चुननेवाली तथा मधुरस्वर से गानेवाली स्त्री का गीतस्वर सुनकर उत्पन्न क्लेश इसका उदाहरण है। "आर्य अष्टांगिक मार्ग को बहुलीकृत करते हुए उत्पन्न पापी अकुशल धर्मों को बीच में ही अंतर्धान किया जाता है" आदि में (सं० नि० ३.५.१५७) उनके प्रयास द्रष्टव्य हैं। ये **आरम्मणाधिग्गहित, अविक्खम्भित, असमूहतुप्पन्न–** ये तीन प्रकार की उत्पत्तियां त्रैभूमिक पञ्चस्कंध में पायी जाती हैं– ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार इसमें जैसे कहे गये प्रभेद से त्रैभूमिक पञ्चस्कंध में **आरम्मणाधिग्गहित, अविक्खम्भित,** तथा **असमूहतुत्पन्न** के कारण क्रोध उत्पन्न होता है– यह जानना चाहिए। कैसे? इस प्रकार की विधि से वह दूर करने योग्य है। इस प्रकार से ही उत्पन्न को जिस किसी विनय से दूर करने में समर्थ होता है। यह जो वर्तमान, **भुत्वापगत, ओकासकत,** (अवकाशकृत) **समुदाचार** नामक उत्पत्ति है, इस संबंध में प्रयत्न निष्फल है, असमर्थ है। भुत्वापगत होने पर प्रयत्न करना और प्रयत्न करने के बीच में ही उसके निरुद्ध हो जाने के कारण निष्फल है। वैसे ही ओकासकत में। वर्तमान में समुदाचारुप्पन्न होने पर क्लेश की शुद्धि एक साथ ही एक ही स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकती है।

---

१. (अ) **समुदाचारुप्पन्न–** वर्तमान में उत्पन्न को कहते हैं।

(ब) **आरम्मणाधिग्गहितुप्पन्न–** गृहीत आलंबन के कारण वर्तमान में उत्पन्न न होकर बाद में (भविष्य में) उत्पन्न क्लेश को कहते हैं।

(स) **अविक्खम्भितुप्पन्न–** शमथ और विपश्यना दोनों में से किसी के द्वारा अविनष्ट क्लेश चित्त संतति में न आरूढ़ हो उत्पत्तिनिवारक हेतु के अभाव में अविक्खम्भितुप्पन्न कहा जाता है।

(द) **असमूहतुप्पन्न–** शमथ विपश्यना आर्यमार्ग से नष्ट किया गया धर्म उत्पत्ति से अतीत होता है अर्थात वह फिर उत्पन्न नहीं होता। अतः असमूहतुप्पन्न कहा जाता है।

२. देखें डिक्शनरी ऑफ पालि प्रोपर नेम्स भाग २ पृ० ४०५

विनेति– यहां विनय दो प्रकार के हैं और एक-एक के पांच भेद हैं। उनमें से आठ विधियों से वह शिक्षित करता है– यह कहा जाता है।

संवर विनय और प्रहाण विनय– दो प्रकार के विनय हैं। यहां दो प्रकार के विनयों में एक-एक पांच में विभक्त है।

संवर विनय के पांच प्रकार हैं– शीलसंवर, स्मृतिसंवर, ज्ञानसंवर, क्षांतिसंवर और वीर्यसंवर।

प्रहाण विनय के भी पांच प्रकार हैं– तदङ्गप्रहाण[१], विक्खम्भणप्रहाण[२], समुच्छेदप्रहाण[३], प्रतिप्रश्रब्धिप्रहाण[४] और निःसरणप्रहाण[५]।

यहां "इस प्रकार प्रातिमोक्षसंवर से उपेत (युक्त) है, समुपेत (संयुक्त) है" (विभ० ५११) इसमें तथा इस तरह के और कथनों में **शीलसंवर,** "चक्षु इंद्रिय की रक्षा करता है, चक्षु इंद्रिय में संवर (संयम) बरतता है, रखता है" इसमें तथा इस तरह के और कथनों में **स्मृतिसंवर** (दी० नि० १.२१३; म० नि० १.२९५; सं० नि० २.४.२३९; अ० नि० १.३.१६)।

"लोक में जो धाराएं (तृष्णाओं की धाराएं) हैं (भगवान ने अजित को कहा) उनको रोकनेवाली स्मृति है। मैं कहता हूं कि धाराओं का संवर हो सकता है, इन्हें प्रज्ञा से वंद कर ही किया जा सकता है" (सु० नि० १०४१)। इसमें तथा इस तरह के और कथनों में **ज्ञानसंवर;** "जाड़ा हो या गर्मी उसको जो सहन करे" (म० नि० १.२४; अ० नि० १.४.११४)। इसमें तथा और कथनो में **क्षांतिसंवर** और "उत्पन्न काम वितर्क को सहन नहीं करता, उसके सामने घुटने नहीं टेकता, उसका त्याग करता है, उसको दूर रखता है" (म० नि० १.२६; अ० नि० १.४.११४)। इसमें तथा इस तरह के और कथनों में **वीर्यसंवर** जानना चाहिए। ये सभी संवर जो यथाशक्ति रोकने योग्य और दूर हटाने योग्य हैं वे कायिक और वाचसिक अकुशल कर्मों के संवरण करने के कारण संवर हैं और दूर हटाने के कारण विनय हैं। इस प्रकार संवर विनय के पांच भाग होते हैं– यह जानना चाहिए।

यहां जो नामरूप परिच्छेद आदि में, विपश्यना के अंगों में जब तक बिना अपनी हानि के कारण प्रवृत्त रहता है, तब तक उस-उस ज्ञान से उस-उस अनर्थकारी संतान का प्रहाण होता है। उदाहरण स्वरूप– नामरूप के व्यवस्थापन (निश्चित करने) से सत्काय दृष्टि का, प्रत्यय (कारण) परिग्रह से अहेतुक और विषम हेतुक दृष्टियों का, उसके बाद कांक्षा (शंका) को दूर करने से शंका का, अनिश्चयता का, कलाप के ग्रहण से अर्थात कलाप शीघ्र उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले स्वभाव को ठीक से समझने से 'मैं' और 'मेरे' संबंधी मिथ्या दृष्टि का, मार्ग और अमार्ग के व्यवस्थापन से अमार्ग में मार्ग संज्ञा का, उदय को देखने से उच्छेद दृष्टि का, व्यय को देखने से शाश्वत दृष्टि का, भय के दर्शन से जो भय पैदा करनेवाले हैं उनमें अभय संज्ञा का, दुष्परिणाम (खतरा) देखने से आस्वादन करने की

१. किसी चीज को उसके प्रतिपक्षी से दूर करना जैसे अंधकार को प्रकाश से, उदयदर्शन से उच्छेद दृष्टि को, वय के दर्शन से शाश्वत दृष्टि को।

२. किसी को दबाकर, suppress कर दूर करना जैसे जल पर पाये जानेवाले सैवाल को जल पर घट प्रहार कर।

३ मूलोच्छेद कर दूर करना जैसे लोभ को दूर करने से लोभ मूलक सभी धर्मों का प्रहाण हो जाता है।

४. शांत कर दूर करना, फल प्राप्ति के समय क्लेशों की प्रश्रब्धि हो जाती है अर्थात वे दूर हो जाते हैं।

५. सभी संस्कारों को त्याग जब कोई उनसे बाहर निकलता है तो इस तरह के बाहर निकलने को निस्सरण प्रहाण कहते हैं। यह निर्वाणिक अवस्था है।

संज्ञा का, निर्वेद की अनुपश्यना से अभिरति (आसक्ति) का; मुक्त होने की इच्छा के ज्ञान से नहीं मुक्त होने की इच्छा का, उपेक्षा ज्ञान से विचार करने का, ध्यान देने का, धर्म में स्थित रहने तथा निर्वाण में अनुलोम (सीधे) रहने को अर्थात उनको ठीक से करने से प्रतिलोम (उल्टा) भाव का और गोत्रभू से संस्कार बनाने के लिए जो दृष्टि या पकड़ होती है उसका जो प्रहाण होता है वह **तदङ्गप्रहाण** कहलाता है। उपचार तथा अर्पणा के भेद से समाधि की बिना अपनी हानि किये जब तक प्रवृत्ति रहती है, तब तक उनसे अभिहत (नाश किये गये) नीवरणों का क्रमशः वितर्क आदि विरोधी धर्मों का अनुत्पत्ति नामक प्रहाण होता है– इसे **विष्कम्भन** (विक्खम्भण) प्रहाण कहते हैं। जो चार आर्य मार्गों की भावना करने से उस-उस मार्ग से जानेवाले का अपनी संतान में क्रमशः मिथ्या 'दृष्टियों का प्रहाण करने (ध० स० २७७) आदि नय से कहे गये समुदय पक्षीय घने क्लेश का फिर अत्यंत अप्रवृत्त (नहीं होने के) भाव से **समुच्छेद** नामक प्रहाण है– इसे समुच्छेद प्रहाण कहते हैं। जो फलप्राप्ति के क्षण में पूर्ण प्रश्रब्धि (शांति) के कारण क्लेशों का प्रहाण है– इसे **पटिप्पस्सद्धिप्रहाण** कहते हैं। जो सभी संस्कृत धर्मों से निस्सरण हो जाने के कारण प्रहाण हो जाना निर्वाण है– इसे **निस्सरणप्रहाण** कहते हैं। ये सभी प्रहाण हैं चूंकि त्याग अर्थ में प्रहाण है, विनय (दूर करने के) अर्थ में विनय है, इसलिए प्रहाण विनय कहा जाता है, उस उस प्रहाण करनेवाले का अथवा उस-उस विनय के उत्पन्न होने से प्रहाण विनय कहा जाता है। इस प्रकार प्रहाण विनय के पांच भेद होते हैं– यह जानना चाहिए। इस प्रकार एक-एक के पांच भेद होने से ये विनय दस होते हैं।

उनमें से प्रतिप्रश्रब्धि (पूर्ण प्रश्रब्धि) विनय और निस्सरण विनय को छोड़कर शेष आठ प्रकार के विनय से यह उस-उस क्रम (पर्याय) से दूर करता है, विनयन करता है– यह कहा जाता है। कैसे? शील संवर से कायिक वाचिक अकुशल कर्मों को दूर रखते हुए उनसे युक्त क्रोध को दूर करता है, दूर हटाता है; स्मृति प्रज्ञा संवर से अभिध्या (लोभ) तथा दौर्मनस्य आदि को दूर रखते हुए दौर्मनस्य युक्त क्रोध को दूर करता है, हराता है; क्षांतिसंवर से शीत आदि को सहन करते हुए उस-उस आघात की घटना से उत्पन्न क्रोध को दूर हटाता है; वीर्य संवर से व्यापाद वितर्क को दूर रखते हुए उससे युक्त क्रोध को दूर करता है। जिन धर्मों से तदङ्ग, विक्खम्भन और समुच्छेद प्रहाण होते हैं, उन धर्मों का अपने में उत्पन्न होने से उन-उन धर्मों का त्याग करते हुए तदङ्ग प्रहातव्य, विक्खम्भेतव्य समुच्छिन्दितव्य क्रोध को दूर करता है, हटाता है। इच्छानुसार यहां प्रहाण विनय से विनय संभव नहीं है। जिन धर्मों से प्रहाण होता है, उन्हें दूर रखते हुए भी, हटाते हुए भी पर्याय से 'प्रहाण विनय से दूर करते हैं, रखते हैं' यह कहा जाता है। प्रतिप्रश्रब्धि प्रहाण काल में विनेतव्य के अभाव में निस्सरण प्रहाण का ओर अनुपादेतव्य के कारण उस से कुछ भी दूर नहीं रखा जाता है, हटाया नहीं जाता है– यह कहा जाता है। इस प्रकार उनमें प्रतिप्रश्रब्धि विनय और निस्सरण विनय को छोड़कर शेष आठ प्रकार के विनय से यह उस-उस क्रम से दूर करता है, हटाता है– ऐसा कहा जाता है।

अथवा जो–

"भिक्षुओ, अगर किसी के प्रति मन में रोष या क्रोध उत्पन्न हो गया है तो उस क्रोध को पूरी तरह से दूर करने, विनोदन करने के पांच उपाय हैं। कौन-से पांच? भिक्षुओ, जिस व्यक्ति पर रोष जागे, उसके प्रति 'मेत्ता की भावना करनी चाहिए' ...करुणा... उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। उस

व्यक्ति के प्रति अस्मृति और अमनसिकार (उपेक्षा, अवहेलना) उत्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार उस व्यक्ति के प्रति रोष को दूर करना चाहिए, रोष को दबाना चाहिए। कर्मस्वकता ही उस व्यक्ति के लिए अधिष्ठातव्य है अर्थात उसको यह अधिष्ठान करना चाहिए कि उसका अपना कर्म ठीक रहे .... अपने ही कर्म का, हे आयुष्मान, वह उत्तराधिकारी होगा' (अ० नि० २.५.१६१)।

इस प्रकार दूर किये जाने योग्य पांच रोष कहे गये हैं और फिर–

"आवुसो" ये पांच रोष विनोदन करने, दबाये जाने योग्य हैं, जहां भिक्षु का उत्पन्न क्रोध सभी प्रकार से दबाये जाने योग्य है। कौन-से पांच? आवुसो, कोई व्यक्ति अपरिशुद्ध कायिक आचरणवाला होता है किंतु परिशुद्ध वाचसिक आचरणवाला, आवुसो, ऐसे व्यक्ति के प्रति आघात (रोष) को हटाना चाहिए (अ० नि० २.५.१६२)।

तथा इस तरह के नय से पांच विनोदन किये जाने योग्य रोष कहे गये हैं; उनको, जिस किसी आघात को विनोदन से दूर हटाते हुए उसे दूर हटाता है– यह कहा जाता है और चूंकि "भिक्षुओ, दोनों ओर से पकड़े जानेवाले आरे से यदि चोर या गुप्तचर अंग-प्रत्यंग को काटे और वैसी हालत में जो मन को प्रदूषित करे अर्थात मन में द्वेष लाये, वह मेरे शासन का पालक नहीं है अर्थात मेरी शिक्षा का पालन नहीं करता है (म० नि० १.२३२)।

इस तरह शास्ता के उपदेश निम्नलिखित हैं:

"वह उससे भी अधिक पापी है जो क्रुद्ध पर क्रोध करता है, क्रुद्ध पर जो क्रोध नहीं करता वह दुर्जेय संग्राम को जीतता है।"

"वह दोनों का कल्याण करता है, अपना भी और दूसरे का; जो दूसरे को क्रुद्ध देखकर स्मृतिमान होकर शांत रहता है" (सं० नि० १.१.१८८)।

'अगर किसी पुरुष या नारी में जिस पर क्रोध सवार हो ये सात धर्म हों तो वे उसके शत्रु के लिए लाभदायक और प्रसन्न करने के लिए हैं।'

कौन से सात?

भिक्षुओ? शत्रु, शत्रु के बारे में ऐसी इच्छा करता है 'ओह यह भी दुर्वर्ण हो जाय, कुरूप हो जाय। ऐसा क्यों? भिक्षुओ, शत्रु, शत्रु की सुंदरता से प्रसन्न नहीं होता। यह क्रोधी व्यक्ति, भिक्षुओ, क्रोध से अभिभूत है, क्रोध से भरा है चाहे वह अच्छी तरह से नहाया हुआ, केस दाढ़ी मूंछ ठीक से कटवाया हुआ, साफ कपड़े ही क्यों न पहना हो, फिर भी वह दुर्वर्ण होता है क्रोध से अभिभूत होने के कारण। भिक्षुओ, यह शत्रु के लिए पहला लाभदायक और प्रसन्न करनेवाला धर्म है जो स्त्री या पुरुष पर आया हुआ है (अ० नि० २.७.६४)।

फिर भिक्षुओ, शत्रु, शत्रु के बारे में ऐसी इच्छा करता है 'ओह, अच्छा होता यह दुःखी रहकर सोये ...पे०... इसको प्रचुर अर्थ न हो ...पे०... न इसके पास भोग सामग्री हो ...पे०... न यह यशस्वी हो ...पे०... न इसके मित्र हों ...पे०... मरने पर यह अपाय में, दुर्गति में पड़े, नरक में जन्म ले'। ऐसा क्यों? भिक्षुओ, शत्रु शत्रु के स्वर्ग गमन से प्रसन्न नहीं होता। भिक्षुओ, क्रोधी व्यक्ति, जो क्रोधाभिभूत

है, क्रोध से भरा है कायिक दुष्कर्म करता है, वाचसिक दुष्कर्म करता है और मानसिक अकुशल कर्म करता है। ऐसा करके अर्थात काया, वाचा और मन से अकुशल कर्म करके मरने पर वह नरक में उत्पन्न होता है और वहां भी क्रोध से भरा होता है (अ० नि० २.७.६४;)।

कुद्धो अत्थं न जानाति, कुद्धो धम्मं न पस्सति...पे०...॥
(अ० नि० २.७.६४; महानि० ५)।

"क्रोधी व्यक्ति न अर्थ (हित) जानता है और न धर्म अर्थात अपना हित भी नहीं जानता और धर्म क्या है यह भी वह देखने में सक्षम नहीं है"।

येन कोधेन कुद्धासे, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं।
तं कोधं सम्मदञ्ञाय, पजहन्ति विपस्सिनो॥ (इतिवु० ४)।

"जिस क्रोध से प्राणी क्रोधी होकर दुर्गति में जाता है अर्थात नरक में उत्पन्न होता है, उस क्रोध को अच्छी तरह जानकर विपश्यी उसका त्याग करते हैं"।

"क्रोध का त्याग करे और मान का भी और सभी संयोजनों का अतिक्रमण करे"। (ध० प० २२१)

"क्रोध अनर्थकारी है, क्रोध चित्त को (मन को) क्रोधित करता है"। (अ० नि० २.७.६४; इतिवु० ८८)

"हे भूरिप्रज्ञ, मेरे एक अपराध को क्षमा करें, पंडित क्रोध से बलवान नहीं होते"। (जा० १.१५.१९)

तथा इस तरह के और उदाहरणों से क्रोध में खतरे का प्रत्यवेक्षण करनेवाले का क्रोध दूर होता है। इसलिए इस तरह प्रत्यवेक्षण कर क्रोध को दबाते हुए भी यह दूर करता है– ऐसा कहा जाता है।

कोधं– क्रोध, 'मेरी हानि की, मेरा अनर्थ किया उसने' (दी० नि० ३.३४०; अ० नि० ३.९.२९) यह सोचकर जो रोष उत्पन्न होता है ऐसे तथा इस तरह के और नौ उदाहरण जो सुत्त में कहे गये हैं और 'मेरा उसने हित नहीं किया, इस तरह के उनके प्रतिपक्षी जो और नौ सिद्ध हैं– ये दोनों मिलाकर अट्ठारह हैं, इनके साथ यदि पेड़ का ठूंठ और कांटा जो आघात वस्तु है अर्थात जो गड़कर या लगकर मनुष्य में क्रोध उत्पन्न करता ही है– ये उन्नीस ऐसी वस्तुएं (कारण) हैं जिनसे क्रोध उत्पन्न होता है। इनमें से किसी से भी उत्पन्न हुआ रोष रोष है, क्रोध है। **विसटं–** विस्तृत, फैला हुआ। **सप्पविसं–** सांप का विष। **इव–** उपमा दिखाने के लिए, यहां 'इ' कार का लोप कर सिर्फ 'व' कहा गया है। **ओसधेहि–** औषधि से, दवा से। यहां यह कहा गया है कि जैसे विष की चिकित्सा करनेवाला वैद्य सांप से डसे हुए व्यक्ति के पूरे शरीर में फैले सर्प विष को वृक्ष की जड़ डाली, पत्ता और फूल आदि से बनी अञ्ञतरेहि या किसी अन्य तरह से बनी नाना प्रकार की दवाइयों का प्रयोग कर शीघ्र ही दूर करता है, उसी प्रकार जो कहे गये अर्थ (भाव) में उत्पन्न और चित्त संतान में व्याप्त तथा स्थित क्रोध को कहे गये जिस किसी उपाय से अर्थात क्रोध को दूर करने के तरीके से या किसी उपाय से दूर करता है, सहन नहीं करता है, त्यागता है, दूर हटाता है, समाप्त करता है।

सो भिक्खु जहाति ओरपारं– इस प्रकार क्रोध को दूर करते हुए, वह भिक्षु, चूंकि क्रोध का सब प्रकार से नाश तृतीय मार्ग में जाकर अर्थात अनागामी अवस्था में होता है, इसलिए ओरपार नाम के

इस लोक संबंधी पांच संयोजनों[१] को त्यागता है– यह जानना चाहिए। बिना किसी के भेद के पार कहते हैं तीर को इसलिए संसार सागर के दोनों तीरों को ओरपार कहा जाता है। अथवा **यो उप्पतितं विनेति कोधं विसटं सप्पविसं व ओसधेहि** अर्थात जो उत्पन्न क्रोध को वैसे ही दबाता है, दूर करता है जैसे दवा से सांप के फैले हुए विष को, वह भिक्षु अनागामी मार्ग से सब प्रकार से क्रोध को दूरकर, हटाकर अनागामी फलावस्था में स्थित हो संसार को, संसार सागर के दोनों तीरों को त्यागता है। यहां ओरं– आत्म स्वभाव, स्वकृत स्वभाव; **पारं–** पर भाव; **ओरं–** छह भीतर के आयतन; **पारं–** छह बाहर के आयतन; वैसे ही **ओरं–** मनुष्य लोक; **पारं–** देवलोक; **ओरं–** कामधातु, **पारं–** रूपारूप धातु, (रूप और अरूपधातु); **ओरं–** काम रूप भव, **पारं–** अरूप भव; **ओरं–** आत्मभाव, **पारं–** आत्मभाव को जो सुख देनेवाले उपकरण हैं। इस प्रकार इस ओरपार में चतुर्थ मार्ग से छंदराग (बलवती तृष्णा) को त्यागते हुए 'ओरपार त्यागता है' ऐसा कहा जाता है। यहां अनागामी को कामराग की प्रहीणता के कारण इस लोक में आत्मभाव आदि में छंदराग नहीं है। फिर भी तृतीय मार्ग आदि के समान उसकी प्रशंसा करने के लिए सभी प्रकार के ओरपार के भेदों का संग्रह कर उनमें छंदराग के प्रहाण से 'ओरपार का त्याग करता है'– ऐसा कहा गया है।

अब उसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उपमा कही गयी है **"उरगो जिण्णमेव तचं पुराणं"**। यहां (इस संबंध में) छाती (उर) से चलता है इसलिए **उरग–** सांप का अधिवचन है। वह दो प्रकार का होता है कामरूपी (जो इच्छानुसार रूप बदल सकता है) और अकामरूपी। कामरूपी दो प्रकार के हैं– जलज और थलज। जलज पानी में ही इच्छानुसार रूप बदलता है, जमीन पर नहीं, सङ्खपाल जातक में सङ्खपाल नागराज की तरह। थलज जमीन पर ही रूप बदलता है, पानी में नहीं। वह जर्जर भाव से जीर्ण, बहुत दिनों का होने के कारण पुराना कहलाता है। चमड़े (केंचुली) का त्याग चार प्रकार से करता है, अपने लोगों के बीच रहते हुए, लज्जा करते हुए, आधार लेकर और शक्ति से। सजाति का अर्थ लंबे सांप की जाति। सांप पांच अवसरों पर जाति की उपेक्षा नहीं करता, जाति से अलग नहीं होता– पैदा होते समय, मरते समय, गाढ़ी निद्रा में सोते समय, मैथुन करते समय और पुरानी केंचुली को गिराते समय। सांप जब केंचुली गिराता है, छोड़ता है तब अपनी ही जाति के सांपों के बीच रहकर छोड़ता है, अपनी जाति के बीच रहते हुए भी विरक्त होकर छोड़ता है। विरक्त होते हुए जब आधी केंचुली का त्याग कर चुका होता है तो शेष आधे को, जहां केंचुली लटकती है तब उसको कष्ट से छोड़ता है। इस प्रकार विरक्त होते हुए भी दंड (लकड़ी) के बीच या जड़ के बीच या पत्थर के बीच आश्रय लेकर छोड़ता है। आश्रय लेकर छोड़ते हुए भी शक्ति पैदाकर उत्साह से, वीर्य से पूंछ को टेढ़ा करके, फण फैलाकर सांस बाहर छोड़ते हुए छोड़ता है। इस तरह केंचुली छोड़कर इच्छानुसार लौट जाता है। इसी प्रकार यह भिक्षु भी जो ओरपारवाले संसार सागर को छोड़ने की इच्छावाला है, चार अवसरों पर छोड़ता है– अपनी ही जाति के लोगों के बीच रहकर, विरक्त होकर, आधार लेकर और शक्ति से। सजाति का अर्थ भिक्षु का शील जो 'आर्य-जाति में पैदा हुए' (म० नि० २.३५१) वचन से स्पष्ट है (यहां आर्य का अर्थ श्रेष्ठ है और श्रेष्ठ वही है जो राग, द्वेष, मोह का नाश कर चुका है) इसलिए ऐसा कहा, 'शील में प्रतिष्ठित होकर प्रज्ञावान मनुष्य (सं० नि० १.१.२३; पेटको० २२) आदि। इस प्रकार अपनी ही जाति में स्थित

१. सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामास, कामराग और व्यापाद– ये पांच ओरम्भागिय (अवरभागीय) संयोजन कहे जाते हैं। रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या– ये पांच उद्धम्भागीय (अपरभागीय) संयोजन कहे जाते हैं।

भिक्षु उस स्वकृत स्वभाव आदि भेद के कारण ओरपार को जीर्ण एवं पुरानी केंचुली के समान दु:ख उत्पन्न करते वहां-वहां दुष्परिणाम को देखकर घृणा करते हुए कल्याण मित्र का सहारा लेकर अत्यधिक मात्रावाला प्रयत्न नामक शक्ति उत्पन्न कर "दिन भरके चंक्रमण के बाद बैठकर वैसे धर्मों से चित्त को परिशुद्ध करते हैं जो चित्त को अवरोधन करनेवाले धर्म हैं" (अ० नि० १.३.१६; विभ० ५१९) ऐसे कहे गये रात और दिन को छ: भाग में बांटकर परिश्रम करते हुए, प्रयत्न करते हुए, पूंछ को टेढ़ा किये सांप की तरह पालथी मारकर सांप की तरह सांस को छोड़ते हुए यह भिक्षु भी अशिथिल पराक्रम से प्रयत्न करते हुए फण निकाले हुए सांप की तरह ज्ञान का विस्तार कर जैसे केंचुली छोड़ता है वैसे ही संसार-सागर को छोड़ता है। छोड़कर केंचुली उतारे सांप की तरह ही इच्छानुसार भार रहित हो अनुपादिशेष निर्वाण धातु की ओर यात्रा करता है अथवा जाता है। इसलिए भगवान ने कहा –

१. यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसटं सप्पविसंव ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥

"जो उत्पन्न हुए क्रोध को उसी तरह दूर करता है जैसे कोई औषधि से उस सर्प-विष को जो पूरी देह में फैल चुका होता है, वह भिक्षु संसार सागर के इस पार को तथा उस पार को वैसे ही छोड़ता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

इस प्रकार भगवान ने अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए यह प्रथम गाथा कही।

अब द्वितीय गाथा की अर्थवर्णना का क्रम आया, बारी आई। वहां भी 'येन यत्थ यदा यस्मा' से प्रारंभ होनेवाली मातिका है और फिर सभी गाथाओं में यह मातिका आयी है। अति विस्तार के भय से यहां से आगे मातिका को हटाकर, मात्र उत्पत्ति दिखा कर ही उस-उस गाथा का अर्थ दर्शाते हुए नीचे लिखे अनुसार अर्थवर्णना करेंगे)–

२. यो रागमुदिच्छदा असेसं, भिसपुप्फंव सरोरुहं विगय्ह।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु ने राग को नि:शेष रूप से नष्ट कर दिया है ठीक उसी तरह जैसे कोई तालाब में प्रवेश कर कमल के फूल को तोड़े, वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह त्याग देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

यह द्वितीय गाथा है।

इसकी उत्पत्ति– एक समय भगवान श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे। उस समय आयुष्मान सारिपुत्त थेर का सेवक (उपस्थाक) जो किसी स्वर्णकार का पुत्र था, उनके पास प्रव्रजित हुआ। थेर ने यह सोचकर कि 'युवकों के लिए अशुभ कर्मस्थान अनुकूल है' उसको राग को जड़ से उखाड़ने के लिए अशुभ कर्मस्थान दिया। बार-बार उसमें चित्त को लगाने का अभ्यास करने पर भी उसका चित्त न लगा। उसने थेर से कहा कि यह मेरे लिए उपकारी नहीं है। थेर ने यह सोचकर कि 'युवकों के लिए यही अनुकूल तथा कल्याणकारी है' फिर वही कर्मस्थान बताया। इस प्रकार चार महीने बीत गये, उसको कुछ भी विशेष प्राप्त न हुआ। तब थेर उसको भगवान के पास ले गये। भगवान ने

कहा, "सारिपुत्त, इसके लिए क्या अनुकूल या कल्याणकारी है यह जानना तेरा विषय नहीं है, यह बुद्ध से ही विनीत होने योग्य है"। ऐसा कहकर ऋद्धि से प्रभास्वर वर्ण का कमल निर्मित कर उसके हाथ में दिया और कहा, "देखो भिक्षु, विहार के सायादार हिस्से में इस कमल के नाल को बालू में गाड़ दो और इसके सामने पालथी मारकर बैठ जाओ और 'लाल, लाल' कहते हुए इस पर ध्यान करो।" यह पांच सौ जन्मों में स्वर्णकार ही हुआ था। इसलिए 'लाल रंग का ही निमित्त इसके लिए अनुकूल होगा'– यह जानकर भगवान ने उसे लाल रंग का कर्मस्थान दिया। जैसा भगवान ने बताया था वैसा करके उसने मुहूर्तभर में ही क्रमानुसार चार ध्यानों को प्राप्त किया और अनुलोम तथा प्रतिलोम नय से उनमें ध्यान क्रीड़ा करना प्रारंभ किया। अब भगवान ने 'वह कमल मुरझा जाय' ऐसा अधिष्ठान किया। तब वह ध्यान से उठा और उसको (कमल को) मुरझाये हुए तथा काले रंग में प्रवर्त्तित देखकर 'प्रभास्वर रूप जरा से परिमर्दित हुआ' (कुचला गया), उसे अनित्यसंज्ञा का बोध हुआ। बाद में उसने अपने भीतर भी इसे लाया अर्थात अपने अंदर भी तुलना करके देखा। इसलिए 'जो अनित्य है वह दुःख है और जो दुःख है, वह अनात्म है' ऐसा जानकर उन्होंने तीनों भवों को जलते हुए देखा। ऐसा जब वह देख रहा था, उसके निकट ही एक पद्मसर (कमलों से भरा तालाब) था। वहां लड़के पानी में उतरकर कमलों को तोड़-तोड़ कर ढेर बना रहे थे। उसको पानी में वे कमल, कमल वन में अग्निज्वाला की तरह प्रतीत हुए। गिरते हुए पत्ते प्रपात में प्रवेश करते हुए प्रतीत हुए; जमीन पर फेंके गये कमलों को आग मुरझा रही है, जला रही है ऐसा प्रतीत हुआ। अब उसने इसके अनुसार सभी धर्मों पर विचार करते हुए तीनों भवों के अत्यधिक जलते हुए होने के कारण अपने घर को शरण-स्थान, संरक्षण का स्थान नहीं है ऐसा समझा। उसके बाद भगवान ने गंधकुटी में बैठे ही उस भिक्षु के ऊपर अपनी शरीर की आभा छोड़ी। वह आभा उस भिक्षु के मुंह पर फैली। तब उसने 'यह क्या है' ध्यान करते हुए भगवान को पास में आकर निकट में बैठे देखकर आसन से उठकर और अंजलि जोड़कर प्रणाम किया। अब उसके लिए क्या अनुकूल या कल्याणकारी है यह जान कर भगवान ने धर्म देशना करते हुए गाथा कही–

यहां आनंदित करने के कारण **रागो–** पांच कामगुण ही अर्थात पांच इंद्रियों के सुख ही यहां राग का अधिवचन है। **उदच्छिदा–** उच्छेद करता है, तोड़ता है, विनाश करता है। वैयाकरण छांदस में अतीत काल के लिए भी वर्तमान क्रिया की इच्छा करते हैं या प्रयोग करते हैं। **असेसं–** अनुशय के साथ। **भिसपुप्फं** व **सरोरुहं–** तालाब में उगे हुए कमल के फूल की तरह। **विगय्ह–** डुबकी लगाकर, प्रवेश कर– यह अर्थ है। शेष पहले कहे गये की तरह। क्या कहा गया है? जैसे ये तरुण तालाब में डुबकी लगाकर कमल के फूल को तोड़ते हैं, उसी प्रकार जो भिक्षु तीन धातुओं से बने इस लोक में मनुष्यों के साथ रहकर (यह जान लेता है कि)–

"राग के समान कोई आग नहीं है" (ध० प० २०२)।

"कामराग से मैं जल रहा हूं, मेरा चित्त पूरी तरह जल रहा है" (सं० नि० १.१.२१२)।

"जो राग में आसक्त हो धारा में गिर जाते हैं, उस तरह जैसे मकड़ा अपने बनाये जाल में" (ध० प० ३४७)।

"आवुस, जो राग से अभिभूत है, अनुरक्त है, जिसका चित्त राग के अधीन है, राग ने जिसके चित्त को काबू में कर लिया है, वह हिंसा भी करता है, प्राण भी ले सकता है" (अ० नि० १.३.५६, ७२)।

इस प्रकार की पद्धति का अनुगमन कर राग रूपी खतरे के प्रत्यवेक्षण से जिस प्रकार कहे गये हैं उस प्रकार के शील संवर आदि संवरों से अपने को संयमित करके चेतन तथा जड़ वस्तुओं में अशुभ संज्ञा का ध्यान कर थोड़ा-थोड़ा राग को उखाड़ते हुए जो अनागामी मार्ग से तथा अवशेष को अर्हत मार्ग से अनवशेष रूप से पहले कहे गये की तरह उखाड़ता है, वह भिक्षु संसार-सागर के इस पार तथा उस पार को वैसे ही छोड़ता है, त्यागता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को। इस तरह भगवान ने अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए इस गाथा का उपदेश किया। देशना के अंत में वह भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुआ, उसने अर्हत्व की प्राप्ति की।

३. यो तण्हमुदच्छिदा असेसं, सरितं सीघसरं विसोसयित्वा।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु ने तृष्णा को अशेष रूप से नष्टकर दिया है जैसे कोई तेज धारवाली नदी को सुखा दे, वह भिक्षु इस तरह इसलोक तथा परलोक को छोड़ देता है जैसे सांप पुरानी केंचुली को।"

यो तण्हमुच्छिदा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। एक भिक्षु गग्गरा पुष्करिणी के तीर पर विहार करते हुए तृष्णा के कारण अकुशल सोच रहा था। भगवान ने उसका अध्याशय जानकर ज्ञान प्रकाश देनेवाली यह गाथा कही।

यहां तृषित करती है, प्यासा बनाती है इसलिए तृष्णा, विषयों से तृप्ति प्राप्त नहीं होती– यह अर्थ है। काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा का यह अधिवचन है।

सरितं– गया हुआ, प्रवृत्त हुआ, जहां तक भवाग्र है वहां तक फैलकर स्थित है– यह कहा गया है। **सीघसरं–** शीघ्र जानेवाली, शीघ्र बहनेवाली, इस लोक तथा परलोक के खतरे को बिना विचारे एक मुहूर्त में ही दूसरे चक्रवाल तथा भवाग्र में जा सकने में समर्थ है– ऐसा कहा गया है। इस प्रकार ऐसी तृष्णा जो सब तरह से शीघ्रगामिनी नदी के समान है।

"इतनी चौड़ी है कि कभी पाटी नहीं जा सकती, यह दूर-दूर तक विस्तृत है, फैली है। जो इस तृष्णा के प्रति लोभ करते हैं वे चक्रधारी हैं अर्थात वे भवचक्र में रहनेवाले होते हैं"।

"तृष्णा को ही दूसरा पुरुष कहा गया है अर्थात पुरुष पैदा होता है तृष्णा के कारण, पुरुष कभी अकेला नहीं होता उसके साथ तृष्णा है।

लंबे मार्ग पर संसरण को, इस लोक तथा दूसरे लोक में जन्म को, संसार को यह जीत नहीं पाती है।" (इतिवु० १५, १०५; महानि० १९१; चूळनि० पारायनानुगीतिगाथानिद्देस १०७)।

"महाराज, यह संसार अपूर्ण रह जाता है, अतृप्त ही रहता है, तृष्णा का गुलाम रहता है" (म० नि० २.३०५)।

इस तृष्णा में खतरे का प्रत्यवेक्षण कर कहे गये प्रकार से शील संवर आदि से जो सब प्रकार की तृष्णा को थोड़ा-थोड़ा सुखा कर अर्हत मार्ग से बिल्कुल उच्छेद कर देता है वह भिक्षु उसी क्षण में सभी

प्रकार से संसार-सागर के इस पार को तथा उस पार को त्याग देता है। देशना के अंत में वह भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुआ अर्थात अर्हत हुआ।

४. यो मानमुदब्बधी असेसं, नळसेतुंव सुदुब्बलं महोघो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु ने मान को अशेष रूप से उस तरह उखाड़ फेंका है, जिस तरह बड़ी बाढ़ बहुत कमजोर सरकंडे के पुल को, वह भिक्षु इस तरह इस लोक तथा परलोक को छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

यो मानमुदब्बधी से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। एक भिक्षु गंगा के तीर पर विहार कर रहे थे। ग्रीष्म काल में जब पानी कम था तो उस पर एक सरकंडे का पुल बना था। बाद में आई बड़ी बाढ़ में उसको बहते देखकर भिक्षु को यह जानकर कि 'संस्कार अनित्य है' संवेग उत्पन्न हुआ और उस अवस्था में वह खड़ा रहा। उसके आशय को जानकर भगवान ने ज्ञान-आलोक देनेवाली यह गाथा कही।

यहां **मानो** (सु० नि० २६९) जाति आदि के आधारपर चित्त का उन्नमन, चित्त में घमंड का होना। 'मैं उससे श्रेष्ठ हूं', मान है, 'मैं उसके सदृश हूं' मान है 'मैं (उससे) हीन हूं' यह भी मान है। इस तरह मान के तीन प्रकार हुए। फिर 'श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हूं मैं', 'श्रेष्ठ के सदृश हूं मैं' 'श्रेष्ठ से हीन हूं मै' 'बराबरवाले से श्रेष्ठ हूं मैं' 'बराबरवाले के बराबर हूं मैं' बराबरवाले से 'हीन हूं मैं' 'हीन से श्रेष्ठ हूं मैं' 'हीन की तरह हूं मैं' और 'हीन से भी हीन हूं मैं'– इस प्रकार नौ प्रकार के मान हुए। सब प्रकार के मान को–

'जो घमंड में चूर हैं, वे प्राणी दुर्गति प्राप्त करते हैं या उनकी दुर्गति होती है'। (इतिवु० ६)

ऐसे कहे गये के अनुसार उसमें खतरे का प्रत्यवेक्षण कर कहे गये प्रकार से जो शील संवर आदि से सब प्रकार के मान को थोड़ा-थोड़ा वध करते हुए, क्लेशों को थोड़ा-थोड़ा वध करते हुए जो सरकंडे के पुल के समान कमजोर और दुर्बल हैं, लोकोत्तर धर्मों से जो बड़ी बाढ़ की तरह है अर्हत्व मार्ग से थोड़ा-थोड़ा वध करते हुए अशेष रूप से उखाड़ दे, अनवशेष प्रहाण से समूलोच्छेद करते हुए, नाश करता है– ऐसा कहा गया है। उस भिक्षु ने उसी क्षण सभी तरह से संसार-सागर के इस पार को तथा उस पार को त्याग दिया। देशना के अंत में वह भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुए।

५. यो नाज्झगमा भवेसु सारं, विचिनं पुप्फमिव उदुम्बरेसु।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु ने इस संसार में किसी तरह का सार नहीं पाया जैसे किसी को गूलर के वृक्ष में फूल नहीं मिलता है वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी केंचुली को।"

यो नाज्झगमा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

इस गाथा का तथा इससे आगे की बारह गाथाओं की एक ही उत्पत्ति है।

एक समय भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। उस समय एक ब्राह्मण ने अपनी बेटी के विवाह का समय आने पर सोचा, 'अपनी बेटी को वैसे फूलों से अलंकृत कर पतिकुल में भेजूंगा, जिनको किसी वृषल ने भी कभी भोग नहीं किया हो।' उसने श्रावस्ती में तथा श्रावस्ती के बाहर भी खोजते हुए किसी तृणपुष्प को भी नहीं देखा जिसका भोग किसी न किसी ने न किया हो। अब बहुत से धूर्त ब्राह्मण तरुणों को एकत्र देख (उन्होंने सोचा) 'इन लोगों से पूछूंगा, अवश्य बहुतों में से कोई न कोई जानता होगा' ऐसा सोचकर वह उनके पास गया और पूछा। उन लोगों ने उस ब्राह्मण का मजाक उड़ाते हुए कहा, 'ब्राह्मण, गूलर का फूल है जिसको किसी ने पहले भोग नहीं किया है, उसी से अलंकृत कर अपनी कन्या का दान करो'। दूसरे दिन वह समय पर उठा। भोजन दान देकर वह समय पर अचिरवती नदी के तीर पर उदुंबरवन गया और हर एक वृक्ष में फूल खोजते हुए फूल क्या, फूल के डंठल को भी नहीं देखा। दोपहर बिताकर वह दूसरे किनारे पर गया। वहां एक भिक्षु एक सुंदर वृक्ष के नीचे दिवाविहार में बैठे कर्मस्थान की भावना कर रहे थे। वह वहां पहुंचा। भिक्षु पर बिना ध्यान दिये, वह एक बार बैठकर, एक बार उकडूं होकर, एक बार खड़ा होकर उस वृक्ष की सभी शाखाओं प्रशाखाओं और पत्तों के बीच फूल खोजते-खोजते थक गया। तब उस भिक्षु ने उसको पूछा, 'ब्राह्मण, क्या खोजते हो'? 'गूलर का फूल, भो'। ब्राह्मण, संसार में गूलर का फूल नहीं होता, यह झूठ है, अब बेकार मत थको'। अब भगवान ने उस भिक्षु को जिसके मन में उत्पन्न समाधि के प्रति बहुत अच्छा विचार था उनके अध्याशय जानकर प्रकाश बिखेरते हुए ज्ञान का आलोक देनेवाली ये गाथाएं कहीं। यो **नाज्झगमा भवेसु सारं** की तरह ही सभी वक्तव्य हैं।

यहां प्रथम गाथा में **नाज्झगमा–** प्राप्त नहीं किया था, प्राप्त नहीं करता है। **भवेसु–** कामभव, रूपभव, अरूपभव, संज्ञी तथा असंज्ञी भव और नेवसंज्ञा, नासंज्ञाभव, एकवोकार[१] चतुवोकार पंचवोकार, एक वोकार-भव, चतुवोकार-भव तथा पंच वोकार भवों में। **सारं–** नित्यभाव, आत्मभाव; **विचिनं–** प्रज्ञा से खोजते हुए। **पुप्फमिव उदुम्बरेसु–** जिस प्रकार गूलर के वृक्ष में फूल खोजते हुए इस ब्राह्मण ने नहीं पाया, उसी प्रकार जो योगावचर (साधक) प्रज्ञा से खोजते हुए सभी भवों में कुछ भी सार नहीं पाता है, वही उन धर्मों को सारहीन पाकर अनित्य और अनात्म की विपश्यना करते हुए क्रमशः लोकोत्तर धर्मों को प्राप्त करता है और संसार-सागर के इस पार को तथा उस पार को वैसे ही त्याग देता है जैसे सांप पुरानी केंचुली को। यही अर्थ योजना है। अवशेष गाथाओं में उसकी योजना न बताकर विशेष अर्थमात्र को ही कहेंगे।

यहां आये 'अंतर' शब्द का 'कारण', 'बीच में', 'चित्त' आदि बहुत से अर्थ हैं जो नीचे दिये गाथाओं से स्पष्ट है।

६. "यस्सन्तरतो न सन्ति कोपा, इतिभवाभवतञ्च वीतिवत्तो"ति। (उदा० २०)

जिस भिक्षु के भीतर (मन में) क्रोध नहीं है और जो सभी प्रकार की भवाभवताओं (संपत्ति, विपत्ति, लाभ, हानि) आदि के पार चला गया है। (उदा० २०)

१. वोकार स्कंध या खंध को कहते हैं। एकवोकार में रूप खंध है इसे असंज्ञीभव कहते हैं। चतुवोकार भव में रूप को छोड़कर चार स्कंध पाये जाते हैं इसे अरूपभव कहते हैं। पंचवोकारभव में पांचो स्कंध पाये जाते हैं। यह कामभव और रूपभव में पाया जाता है।

इस जीवन या उस जीवन को (संपत्ति, विपत्ति, लाभ, हानि) आदि को जिसने जीत लिया, उसके कारण उसमें क्रोध नहीं है। यहां यह 'अंतरशब्द' नदी तीर पर, नगर के द्वार पर, विश्राम स्थल पर, सभाओं में तथा सड़कों पर लोग एकत्र होकर विचार विमर्श करते हैं कि मेरे और तेरे बीच में क्या चल रहा है?[१] (सं० नि० १.१.२२८)

"अल्पमात्र और विशेष की प्राप्ति के बीच वह रुक गया, लापरवाह हो गया"। (अ० नि० ३.१०.८४)

"क्रोध अनर्थ को जन्म देता है, क्रोध चित्त को प्रकुपित करता है, चित्त में पैदा हुए भय को लोग नहीं समझते हैं।

इस प्रकार 'अंतर' शब्द का प्रयोग बहुत से अर्थ में किया जाता है जैसे कारण, बीच में, चित्त आदि। यहां इसका अर्थ चित्त है। (अ० नि० २.७.६४; इतिवु० ८८)

यस्सन्तरतो न सन्ति कोपा– तृतीय मार्ग (अनागामी मार्ग) से पूरी तरह से उखड़ जाने के कारण जिसके चित्त में क्रोध न हो यह अर्थ है। चूंकि **भवो–** संपत्ति है, **विभवो–** विपत्ति है, उसी प्रकार भवो वृद्धि है, विभवो हानि है, भवो शाश्वत है विभवो उच्छेद है; भवो पुण्य है विभव पाप है। विभवो और अभवो अर्थतः एक ही हैं अर्थात दोनों का अर्थ एक ही है इसलिए **इतिभवाभवतञ्च च वीतिवत्तो–** यहां जो ये संपत्ति, विपत्ति, वृद्धि, ह्रास, शाश्वत, उच्छेद, पुण्य, पाप के कारण अनेक प्रकार की भवाभवताएं कही जाती हैं, चार मार्गों[२] से यथासंभव उसकी उस-उस विधि से उस भवाभवता को जीत लेता है– यह अर्थ जानना चाहिए।

७. यस्स वितक्का विधूपिता, अज्झत्तं सुविकप्पिता असेसा।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु के वितर्क विनष्ट हो गये और जिसके अंदर के अंदर चित्त में वह अशेष रूप से छिन्न कर दिये गये वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

यस्स वितक्का– यहां जिस भिक्षु के तीन वितर्क जैसे काम वितर्क, व्यापाद वितर्क और विहिंसा वितर्क, तीन वितर्क जैसे रिश्तेदार, जनपद और अमर (मैं अमर हूं या नहीं) वितर्क, तीन और वितर्क जैसे परानुद्दयता (दूसरों के प्रति सहानुभूति) संबंधी वितर्क से संबंधित लाभ, सत्कार, प्रशंसा वितर्क और अनवज्ञप्ति (दूसरों को घृणा से न देखना) ये नौ वितर्क सबके लिए कल्याणकारी विधि से कहे गये उस-उस में खतरे को देखकर उसके प्रतिपक्षी को निश्चितकर उस-उस को प्रहाण करने में समर्थ तीन नीचे के मार्गों से बिखर गये, अधिकांश रूप से धुआं हो गये, संतापित हुए, जल गये– यह अर्थ है। इस प्रकार विखेर कर **अज्झत्तं सुविकप्पिता असेसा–** अपने अंदर में, अपनी स्कंध संतान में, अपने अंदर के भी अंदर चित्त में जिस प्रकार फिर न जनमे, न उगे, उस प्रकार अर्हत मार्ग से अशेष रूप

---

१. यहां 'सण्ठान' के स्थल पर 'पंथान' रखकर अर्थ किया गया है अर्थात विश्राम स्थल के स्थान पर 'मार्ग में' किया गया है। ऐसा रीज डेविड्स ने अपने पालि-इंगलिश शब्द-कोष में लिखा है।

२. सोतापत्ति मार्ग, सकदागामी मार्ग, अनागामी मार्ग और अरहत्त मार्ग।

से छिन्न कर दिये गये। छिन्न को ही काटा गया कहते हैं। जैसे कहा– दाढ़ी मूंछ काट दिया गया। इस प्रकार यहां अर्थ देखना चाहिए। (सं० नि० १.१.१२२; २.४.३६५) इस प्रकार यहां अर्थ देखना चाहिए।

८. यो नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं अच्चगमा इमं पपञ्चं।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

“जो भिक्षु न बहुत शीघ्रगामी है न जो पीछे छूट जानेवाला है, जिसने सारे प्रपंचों को जीत लिया है, अतिकृत कर लिया है, वह भिक्षु इसलोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।”

अब यो नाच्चसारी– यहां **यो नाच्चसारी** उसको कहते हैं जो जल्दबाजी में काम न करे, जो दौड़ा-दौड़ी न करे। **पच्चसारी–** का अर्थ जो पीछे छूट जाय अर्थात भेद से। कहने का क्या अर्थ? अति प्रयत्नशील होने से उद्धतपन में गिरकर लक्ष्य चूक जाता है, सीमा के पार चला जाता है और अत्यंत शिथिलता के कारण आलस्य में पड़कर लक्ष्य तक पहुंच ही नहीं पाता। उसी प्रकार भवतृष्णा से अपने को थका कर लक्ष्य चूक जाता है और कामतृष्णा से कामसुख को प्राप्त करने में अपने को लगाकर पीछे रह जाता है, लक्ष्य तक पहुंच नहीं पाता। शाश्वत दृष्टि से लक्ष्य चूक जाता है, उच्छेद दृष्टि से पीछे रह जाता है। अतीत के बारे में शोक कर लक्ष्य चूकता है और भविष्य की इच्छा करते हुए पीछे रह जाता है। पूर्वांतानुदृष्टि से लक्ष्य चूक जाता है, अपरांतानुदृष्टि से पीछे रह जाता है। इसलिए जो इन दो अंतों को छोड़ कर मध्यम मार्ग पर चलता है, मध्यम मार्ग का अनुगमन करता है वह न तो लक्ष्य चूकता है और न पीछे रहता है। **सब्बं अच्चगमा इमं पपञ्चं–** उस अर्हत मार्ग, मध्यम मार्ग पर पूरी तरह चलकर इस वेदना, संज्ञा, वितर्क से उत्पन्न तृष्णा, मान, मिथ्या दृष्टि नामक तीन प्रकार के प्रपंचों को जीतकर, उनका अतिक्रमण कर जाता है, पूरी तरह से अतिक्रमण कर जाता है यह अर्थ है–

९. यो नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं वितथमिदन्ति ञत्वा लोके।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

“जो भिक्षु न बहुत शीघ्रगामी है, न पीछे छूट जानेवाला है, जिसने यह जान लिया है कि सब कुछ असत्य है, झूठ है, निस्सार है वह भिक्षु इसलोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।”

इसके बाद की गाथाओं में जो विशेष है वह यह है **सब्बं वितथमिदन्ति ञत्वा लोके**। इसका अर्थ– **सब्बं** का अर्थ अनवशेष, पूरा का पूरा, जरा भी कम नहीं– कहा गया है। ऐसा होने पर भी यहां विपश्यना की ओर जानेवाले लौकिक स्कंध, आयतन, धातु आदि जो भेद हैं, उन्हीं से अभिप्राय है। **वितथं–** जो सत्य नहीं है, विगत सत्य भाव। नित्य, सुख, शुभ और आत्मा को जिस तरह क्लेशराग के कारण मूर्खों द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसका अभाव होने के कारण उन्हें वितथ (असत्य) कहा जाता है।

इदं– प्रत्यक्ष रूप से उन सबों को दिखाते हुए कहा।

ञत्वा– मार्गप्रज्ञा से जानकर, प्रज्ञा से जानकर, मोह के कारण नहीं, इंद्रिय ज्ञान से नहीं।

लोके– मनुष्य लोक में जो कुछ स्कंध आदि भेद हैं वे धर्म से उत्पन्न (प्रतीत्यसमुत्पन्न है) असत्य ही हैं– यह जानकर। यहां यह संबंध है।

१०. यो नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं वितथमिदन्ति वीतलोभो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

११. यो नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं वितथमिदन्ति वीतरागो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

१२. यो नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं वितथमिदन्ति वीतदोसो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

१३. यो नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं वितथमिदन्ति वीतमोहो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

अब इसके आगे की चार गाथाओं में वीतलोभ, वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह– ये विशेष हैं। यहां लुभाने के कारण **लोभो**[1] सबको संग्रह करनेवाला होने से यह प्रथम अकुशल मूल का अधिवचन है, पर्याय है, **विषमलोभ**[2] का भी।

जो लोभ 'कभी-कभी माता तथा माता की उम्रवाली औरतों में होता है, बहन तथा बहन की उम्रवाली औरतों में होता है, बेटी तथा बेटी की उम्रवाली लड़कियों में होता है' (सं० नि० २.४.१२७) वह इस प्रकार लोभ कहा गया है।

आनंद देने के कारण रागो। पांच कामगुणों में राग का यह नाम है, पर्याय है।

द्वेष करने के कारण दोसो। पहले जो क्रोध कहा गया है, उसका यह पर्याय है।

भूलने के कारण, विस्मृत करा देने के कारण मोहो। चार आर्य सत्यों को नहीं जानना– इसका पर्याय है।

चूंकि इस भिक्षु ने लोभ में रुचि पैदा न करते हुए विपश्यना भावना करना प्रारंभ किया, 'कब मैं लोभ को दूर हटा कर, वीतलोभ होकर विहार करूँगा' ऐसा सोचा, इसलिए उस लोभ को प्रहाण करने के उपाय को, सभी संस्कारों के असत्य होने के दर्शन को, लोभ को प्रहाण करने के लाभ को और ओर-पार प्रहाण को अर्थात संसार-सागर के दोनों तीरों के नाश को दिखाते हुए यह गाथा कही। इसके बाद की गाथाओं में भी यही विधि है। किसी ने कहा या कोई कहते हैं– "कहे गये प्रकार से इन धर्मों में रुचि पैदा न करते हुए उस-उस भिक्षु के लिए जिन्होंने विपश्यना भावना आरंभ की, एक-एक गाथा कही गयी अर्थात कुल मिलाकर ये गाथाएं कही गईं। जो जिसको पसंद है, जो जिसको अच्छा लगे, वही

---

१. जो भिक्षु न बहुत शीघ्रगामी है और न पीछे छूट जानेवाला है जिसने यह जान लिया है कि सब कुछ असत्य है और लोभ, राग, द्वेष और मोह रहित हो गया है वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।

२. यहां लोभ के ऊबड़-खाबड़ स्वभाव को बताया गया है। कहीं भी, किसी में भी लोभ उत्पन्न हो सकता है।

ग्रहण करे। यही विधि इसके बाद की चार गाथाओं में भी लागू की गयी है।"

१४. यस्सानुसया न सन्ति केचि, मूला च अकुसला समूहतासे।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

यहां यह अर्थवर्णना है, भाष्य है। संतान में (चित्त धारा में) जो बिना प्रहीण हुए सोये रहते हैं वे **अनुसया–** अनुशय हैं कामराग, प्रतिघ, मान, मिथ्या दृष्टि, विचिकित्सा और भवराग अविद्या के पर्याय हैं। संप्रयुक्त धर्मों का अपने आकार और अनुविधान अर्थ से **मूल अर्थात जड़**[1] क्षेम रहित होने के अर्थ में अकुसल; धर्मों का आधार होना ही **मूल** है; सावद्य (सदोष) एवं दुःख विपाक अर्थ में **अकुसला**; ये दोनों ही लोभ, द्वेष और मोह के पर्याय हैं। "भिक्षुओ, लोभ अकुशल भी है ओर अकुशल का मूल भी" उसको इस तरह निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार ये अनुशय उस-उस मार्ग से प्रहीण होकर जिस व्यक्ति में शेष नहीं रहते, ये अकुशल मूल भी वहीं **समूहतासे–** जड़ से उखड़ जाते हैं। शब्द लक्षण में कुशल अर्थात वैयाकरण या ध्वनिशास्त्रज्ञ अलग से बहुवचन में **'से'** का आगम चाहते हैं। अर्थकथाचार्य **'से'** को निपात रूप में वर्णन करते हैं। जो अच्छा लगे, उसे ही ग्रहण करें। यहां लेकिन इस प्रकार का वह भिक्षु चाहे जैसे भी क्षीणाश्रव होता है, वह न तो लेता है और न छोड़ता है, त्याग करता है। छोड़कर स्थित है– ऐसा कहा गया है। फिर भी वर्तमान में वर्तमान वचन लक्षण से 'ओरपार' को छोड़ता है कहा जाता है। अथवा अनुपादिशेष निर्वाण धातु से परिनिर्वाण प्राप्त करते हुए भी अपने अंदर और बाहर के आयतन नामक ओरपार को छोड़ता है– यह जानना चाहिए।

यहां दो प्रकार से अनुशयों के अभाव को जानना चाहिए, क्रमशः क्लेश का नाश करना (अर्थात एक क्लेश के बाद दूसरे क्लेश के क्रम से) तथा क्रमशः मार्ग पर चलकर अभाव करना। कामराग तथा प्रतिघ अनुशयों का तृतीय मार्ग से अर्थात अनागामी मार्ग से, मान अनुशय का चतुर्थमार्ग से (अर्हत मार्ग से) मिथ्यादृष्टि और विचिकित्सा अनुशयों का प्रथम मार्ग से (श्रोतापत्ति मार्ग से) और भवराग तथा अविद्या अनुशयों का चौथे मार्ग से अर्थात अर्हत मार्ग से नाश होता है। एक मार्ग के बाद दूसरे मार्ग के क्रम से प्रथम मार्ग से मिथ्या दृष्टि तथा विचिकित्सा अनुशयों का, द्वितीय मार्ग से (सकदागामी मार्ग से) काम राग और प्रतिघ अनुशयों को पतला किया जाता है, क्षीण किया जाता है, तृतीय मार्ग से अर्थात अनागामी मार्ग से सभी प्रकार से उनका अभाव होता है, चौथे मार्ग से मान, भवराग और अविद्या अनुशयों का अभाव होता है। यहां चूंकि सभी अनुशय अकुशल मूलक नहीं हैं, कामराग और भवराग ये दो अनुशय ही लोभ अकुशल मूल के साथ संगृहीत होते हैं, प्रतिघ और अविद्या द्वेष अकुशल मूल और मोह अकुशल मूल कहे जाते हैं। चूंकि मिथ्या दृष्टि, मान और विचिकित्सा ये अकुशल मूल यहां नहीं होते इसलिए अनुशय के अभाव के कारण, अकुशल मूल को उखाड़ने के कारण क्लेशों का प्रहाण स्थापित होता है, इसलिए भगवान ने यह गाथा कही–

"जिसको कोई अनुशय नहीं है और जिसके सभी अकुशल मूलों का उच्छेद हो गया है" ऐसा भगवान ने कहा।

---

१. जिस भिक्षु में कोई आसक्ति नहीं रह गयी है, जिसने अकुशल मूलों को उखाड़ फेंका है वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।

१५. यस्स दरथजा न सन्ति केचि, ओरं आगमनाय पच्चयासे।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु में पुनर्भव में आने का कोई क्लेश शेष नहीं है वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

यस्स दरथजा– यहां भी जो क्लेश पहले उत्पन्न होते हैं वे जलाते हैं– इस अर्थ में दरथ कहे जाते है। बाद में उन दरथों से उत्पन्न जो क्लेश हैं, तृष्णाएं है वे दरथजा कहीं जाती हैं।

ओरं– सत्काय को कहा जाता है।

जैसे कहा गया है– 'भिक्षु, यह ओरिम तीर (संसार-सागर के इस पार) सत्काय का ही पर्याय है। (सं० नि० २.४.२३८)

आगमनाय– उत्पन्न होने से

पच्चयासे– प्रत्यय ही।

क्या कहा गया है? जिसको पंच उपादान स्कंध के ग्रहण से, उसके आधार होने से, कोई दरथज क्लेश, आर्य मार्ग से प्रहीण होने के कारण नहीं रहते, पहले कहे गये की तरह वह भिक्षु संसार-सागर के इस पार को तथा उस पार को छोड़ देता है।

१६. यस्स वनथजा न सन्ति केचि, बिनिबन्धाय भवाय हेतुकप्पा।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिवत्तचं पुराणं॥

"जिस भिक्षु में पुनर्भव में आने की कोई तृष्णा शेष नहीं रहती वह भिक्षु इस लोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

यस्स वनथजा– यहां भी **दरथजा** की तरह **वनथजा** को जानना चाहिए। (वनथजा क्यों कहा गया है)– वचन अर्थ में यह विशेष है– इच्छा करता है, इच्छा की, तृष्णा की याचना करता है, संगति करता है, हृदय लागाता है, भजता है, यह अर्थ है। तृष्णा ही इसका पर्याय है। वही (तृष्णा ही) विषयों की इच्छा करना, याचना करना, संगति करना, 'वन' कहा जाता है। उसके व्याप्त होने से वन फैलता है, बढ़ता है, विस्तृत होता है इसलिए **वनथ** कहा जाता है। तृष्णा अनुशय का पर्याय (अधिवचन) है। वनथ से उत्पन्न होने के कारण **वनथजा**। कुछ लोग कहते हैं– घना होने के अर्थ में सभी क्लेश (तृष्णाएं) वनथ कहे जाते हैं और बाद में इनसे जो उत्पन्न होते हैं उन्हें वनथजा कहा जाता है। यही अर्थ यहां उरगसुत्त में अभिप्रेत है, धर्मपद गाथा में दूसरा अर्थ अभिप्रेत है।

बिनिबन्धाय भवाय– भव में निबद्ध करने से अथवा चित्त को विषयों में निबद्ध करने से भविष्य में उत्पन्न होने से– यह अर्थ है। हेतु ही हेतुकल्प है, कारण है।

१७. यो नीवरणे पहाय पञ्च, अनिघो तिण्णकथङ्कथो विसल्लो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्ण मिवत्तचंपुराणं॥

"जिस भिक्षु ने पांचों नीवरणों को त्याग दिया है, जिसको कोई दुःख और खतरा नहीं है, जो निष्पाप है, जो संदेह रहित है, जो शल्य (राग, द्वेष, मोह, मान और दृष्टि) रहित हो गया है, वह भिक्षु इसलोक तथा परलोक को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।"

यो नीवरणे– यहां नीवरण उन्हें कहे गये हैं जो चित्त कल्याणकारी आचरण को बाधित करे, ढंके, आच्छादित करे।

पहाय– छोड़कर, प्रहाण कर।

पञ्चा– उनकी संख्या सीमा बतायी गयी है। दुःख का, खतरे का अभाव **अनीघो**। संदेह को पार करने के कारण **तिण्णकथङ्कथो**। विगतशल्य होने के कारण अर्थात जिसके शल्य निकल गये हैं वह विसल्लो। क्या कहा गया है? जो भिक्षु कामच्छंद आदि पांच नीवरणों को सब तरह से कल्याणकारक कहे गये नय से सामान्य तथा विशेष रूप से खतरा समझ कर उस-उस मार्ग से (उनका) प्रहाण कर, उनके प्रहीण हो जाने के कारण दुःख नामक खतरे के अभाव से **अनीघो**; 'मैं अतीत में था या नहीं' (म० नि० १.१८; सं० नि० १.२.२०) ऐसे तथा इस तरह से सोचने से जो संदेह उत्पन्न होता है उससे उत्तीर्ण होने के कारण **तिण्णकथङ्कथो**, "यहां पांच शल्य कौन हैं? राग शल्य, द्वेष शल्य, मोह शल्य, मान शल्य और दृष्टि शल्य" इस तरह कहे गये पांच शल्यों के विगत होने से **विसल्लो**। वह भिक्षु पहले कहे गये की तरह संसार-सागर के इस पार तथा उस पार को छोड़ देता है।

यहां भी एक क्लेश के बाद दूसरे क्लेश के क्रम से तथा एक मार्ग से दूसरे मार्ग के क्रम से उत्तरोत्तर दो तरह से नीवरणों का प्रहाण जानना चाहिए। एक के बाद दूसरे क्लेश के क्रम से तृतीय मार्ग से (अनागामी मार्ग से) कामच्छंद और ब्यापाद नीवरणों का प्रहाण होता है; चौथे मार्ग से (अर्हत मार्ग से) स्त्यानमृद्ध ओर औद्धत्य नीवरण का प्रहाण होता है। प्रथम मार्ग से (श्रोतापत्ति मार्ग से) 'निश्चय ही मैंने कुशल कर्म नहीं किया' (म० नि० ३.२४८; नेत्ति० १२०) ऐसे तथा इस तरह से सोचने से जो पश्चात्ताप नामक कौकृत्य नीवरण है वह और विचिकित्सा का प्रहाण होता है। एक मार्ग से दूसरे मार्ग के क्रम से उत्तरोत्तर कौकृत्य और विचिकित्सा का प्रथम मार्ग से प्रहाण होता है, कामच्छंद और व्यापाद नीवरणों को द्वितीय मार्ग से क्षीण किया जाता है, दुर्बल बनाया जाता है, तृतीय मार्ग से इन्हीं का अनवशेष प्रहाण होता है, चतुर्थ मार्ग से स्त्यानमृद्ध और औद्धत्य नीवरणों का प्रहाण होता है।

इस प्रकार जो पांच नीवरणों का प्रहाण कर भयातीत, वीतशल्य और वीतसंदेह हो जाता है वह भिक्षु संसार-सागर के इस पार को और उस पार को वैसे ही छोड़ता है जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुली को।

भगवान ने अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए देशना दी। देशना के अंत में वह भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुए। कोई-कोई यह कहते हैं कि उन भिक्षुओं में जिस-जिस से जो-जो गाथा कही गयी, उस-उससे उस-उस गाथा के अंत में वे-वे भिक्षु अर्हत्व में प्रतिष्ठित हुए।

उरगसुत्तवर्णना समाप्त।

२. धनियसुत्तवण्णना

१८. पक्कोदनो दुद्धखीरोहमस्मि (इति धनिय गोपो), अनुतीरे महिया समानवासो।
छन्ना कुटि आहितो गिनि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"मैंने भात पका लिया है, दूध दुह लिया है। मैं मही नदी के तीर पर अपने परिवार के साथ रह रहा हूं। मेरी कुटी छायी हुई है और जल रही आग में जलावन का ढेर है। अब, देव, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो बरसो"। ऐसा धनिय गोप ने कहा–

पक्कोदनो से प्रारंभ होनेवाला धनिय सुत्त है।

इसकी क्या उत्पत्ति है?

भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। उस समय धनिय गोप मही नदी के तीर पर निवास कर रहा था। उसका पूर्व-कर्म यह है– भगवान कस्सप के प्रवचन में आनंद लेते हुए वह बीस हजार वर्षों तक प्रतिदिन संघ को शलाकाओं द्वारा चयनित किये बीस भिक्षुओं को भोजन कराता था। वहां से च्युत होकर वह देवों में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार देवलोक में दो बुद्धों में अंतराल बिताकर हमारे बुद्ध के काल में विदेह राष्ट्र में पर्वतराष्ट्र के धम्मकोरंड नगर में श्रेष्ठिपुत्र होकर उत्पन्न हुआ। गौओं के झुंड के सहारे अपनी जीविका चलाता था। उसके पास तीस हजार गायें थीं, सत्ताईस हजार गायें दुही जाती थीं अर्थात दूध देनेवाली थीं। गोप का अर्थ ही होता है– सदा एक जगह नहीं रहनेवाला। वर्ष के चार महीने सूखी जमीन पर रहना और शेष आठ महीने वहां-वहां रहना जहां आसानी से घास और पानी मिल जाय। वह या तो नदी का तीर होता था, नहीं तो झील का किनारा।

अब उसने वर्षाकाल में अपने गांव से निकलकर गायों के आराम से रहने के लिए जगह खोजते हुए उस बीच के द्वीप को देखा जो महामही के दो धाराओं में बंटने से बना था। महामही दो धाराओं में बंटकर एक कालमही और दूसरी महामही नाम से बहती हुई पुनः एक होकर समुद्र में मिल जाती थी।

दोनों धाराओं के बीच जो द्वीप बना था, वहीं धनिय अपनी गायों के साथ आया। वहां आकर उसने बछड़ों के लिए रहने का स्थान तथा अपने लिए रहने का घर बनाया और रहने लगा। उसको सात पुत्र, सात पुत्रियां, सात पतोहुएं और बहुत मजदूर थे।

गोप लोग वर्षा होगी या नहीं, इसे चिह्न या शकुन देखकर जानते हैं। जब पक्षी अपने घोंसले वृक्ष के अग्रभाग पर बनाते हैं और केंकड़े जल के निकट के द्वार को बंदकर जमीन के निकट के द्वार का उपयोग करते हैं, तब अच्छी वर्षा होती है– ऐसा ग्रहण किया जाता है, माना जाता है। और जब पक्षी अपने घोंसले नीची जगह में जल के निकट बनाते हैं और केंकड़े जमीन के निकट के द्वार को बंदकर पानी के निकट के द्वार का उपयोग करते हैं, उससे आते-जाते हैं तो अच्छी वर्षा नहीं होगी– ऐसा ग्रहण

किया जाता है, माना जाता है या अनुमान लगाया जाता है।

धनिय सुवृष्टि होगी ऐसे चिह्नों को देखकर वर्षा के समीप आने पर बीचवाले द्वीप से निकलकर और महामही नदी के दूसरे किनारे पर सात सप्ताह तक लगातार वर्षा होते रहने पर भी पानी से जो स्थान नहीं डूबे वहां अर्थात वैसी जगह पर वह अपना निवास स्थान बनाकर, चारों ओर से घेर कर बछड़ों के लिए घर बनाकर वहीं निवास करने लगा। जब उसने लकड़ी, घास आदि को जमा कर लिया था तब उसने अपनी पत्नी और सभी बेटे और जितने मजदूर थे उनको पास बुला लिया था। नाना प्रकार की खाद्य-भोज्य सामग्रियां तैयार कर ली थीं, तब चारों दिशाओं से बादल मंडराने लगे। उसने गायों को दुहवाकर, गोशाला में बछड़ों को ठीक से बंधवाकर, गायों की चारों दिशाओं में धुआं कराकर, सभी परिजनों को भोजन कराकर, सभी कामों को करवाकर यहां-वहां दीप जलवा कर, स्वयं दूध में पका भात अर्थात खीर खाकर, बड़े खाट पर सोते हुए अपनी श्री संपत्ति को देखा और प्रसन्न चित्त हो पश्चिम दिशा में बादल को गरजते सुनकर लेटे-ही-लेटे ये उदान गाथाएं कहीं अर्थात अपने उद्गार प्रकट किये–

यहां यह अर्थ है–

पक्कोदनो– जिसने भात पका लिया है।

दुद्धखीरो– जिसने गायों को दुहवाकर दूध जमा कर लिया है।

अहं– स्वयं को दरसाता है, अपने बारे में कहता है।

अस्मि– अपना भाव। मैं वैसा हूं जिसने भात पका लिया है और दूध दुह लिया है।

इति– ऐसा कहा– यह अर्थ है।

निद्देस नामक ग्रंथ में (चूळनि० अजितामाणवपुच्छानिद्देस) "इति का अर्थ ऐसा वर्णित है– पदसंधि, पदसंसर्ग, पदपूरण, अक्षरसमवाय; व्यंजन; को श्लिष्ट अर्थात व्यंजन को संयुक्त रखने के लिए पद के बाद ही यह आता है।"

यह भी उसी के बारे में है– जानना चाहिए। जो-जो पद पहले पद से कहे गये, उस-उसको इस प्रकार कहा– इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए ही 'इति' शब्द का बाद के पद से जैसे मेत्तेय्य या बुद्ध पद आदि से संधि होती है, दूसरे से नहीं।

धनियो गोपो– उस श्रेष्ठिपुत्र का नाम। वह, जो पांच अचल संपत्तियां हैं, उनमें दान, शील आदि साथ जानेवाले धर्म को छोड़कर खेत, वस्तु, आराम (बगीचा) आदि अचल संपत्ति से, गाय, घोड़ा आदि चल संपत्ति से, सोना तथा आभूषण आदि के जमा किये जानेवाले धन से, शिल्प आदि अपना अङ्ग बने धन से, जो संसार के लिए पांच गोरस प्रदान करने के लिए बहुत उपकारी है जिनके बारे में ऐसा कहा गया है कि 'गो समान धन नहीं है' (सं० नि० १.१.१३; नेत्ति० १२३) ऐसे विशिष्ट गोधन से समन्वागत होने के कारण **धनियो,** गायों को पालने से **गोपो** (कहलाता था)। जो अपनी गायों को पालता है, वह 'गोप' कहलाता है। जो वेतनभोगी होकर दूसरे की गायों को पालता है वह गोपालक कहलाता है। यह तो अपना ही है– इसलिए गोप कहा गया है।

अनुतीरे– तीर के निकट।

महिया– महामही नामक नदी के।

अनुकूल व्यवहार करनेवाले जो बराबरी के परिजन हैं उनके साथ जो वास करता है वह **समानवासो** कहलाता है। यह भी (धनिय गोप भी) वैसा ही है। इसलिए कहा "**समानवासो**"ति।

छन्ना– घास पत्ते से छाकर ऐसी बनायी गयी कुटी कि वह चूए नहीं।

कुटी– कुटिया, रहनेवाले घर का पर्याय है।

आहितो– लायी गयी, जलायी गयी।

गिनि– आग। हर जगह अग्नि को 'गिनी' कहा जाता है।

अथ चे पत्थयसि– अब यदि चाहते हो– ऐसा कहा गया।

पवस्स– चुओ, सींचो, जल बरसाओ।

देव– मेघ को संबोधित करता है।

यहां तक यह पद का अर्थ है।

यह अर्थवर्णना है। इस प्रकार यह धनिय गोप अपने शयन गृह में बड़े खाट पर लेटे हुए मेघगर्जन को सुनकर "मैंने भात पका लिया है" ऐसा बोलकर कायदुःख को शांत करने के उपाय को, कायसुख के लिए जो अपने पास रखा है, सन्निहित किया है उसको दिखाता है; "मैंने दूध दुह लिया है" बोलकर मानसिक दुःख को शांत करने के उपाय को, मानसिक सुख के लिए जो स्वयं किया है उसको दिखाता है। "मही नदी के किनारे" कहकर निवासस्थान संपत्ति को, 'अपने परिवार के साथ मैं रह रहा हूं' कहकर उस वर्षाऋतु में आसन्न कारण प्रियवियोग से उत्पन्न होनेवाले शोक के अभाव को, 'कुटी छायी हुई है' से शारीरिक दुःख को दूर करने की बात दिखाई गयी है। 'आग जलायी गयी' का क्या अर्थ है? चूंकि गोपालक तीन प्रकार की आग जलाते हैं, चारों तरफ आग जलाते हैं; धुआं के लिए आग जलाते हैं और ठंढ से बचने के लिए लकड़ी जलाते हैं, वे सब उसके घर में जलायी गयी हैं, इसलिए सभी दिशाओं में जो आग जलाते हैं उसके विषय में 'आग जलायी गयी है' कहकर यह दिखाता है कि भयानक पशुओं का उससे निवारण हो गया है, गायों के बीच गोइंठा जलाकर धुआं के विषय में कहकर यह दिखाता है कि गायें डंस तथा मच्छरों से परेशान न होंगी और गोपालकों के शयन स्थान में लकड़ी की आग के विषय में कहकर यह दिखाता है कि वे ठंढ से बच सकेंगे, ठंढ का प्रतिघात करेंगे। वह इस प्रकार अपने या गायों को या परिजनों को जो वर्षा के कारण कष्ट होता है उसके अभाव से प्रसन्न चित्त हो कहता है 'हे मेघ (देव), चाहो तो अब बरसो।'

जेतवन महाविहार की गंधकुटी में रहते हुए भगवान ने विशुद्ध और मानवी श्रोत को अतिक्रांत करनेवाले दिव्य श्रोत से धनिय को इस प्रकार यह गाथा बोलते हुए सुना। सुनकर बुद्धचक्षु से संसार का अवलोकन करते हुए धनिय को और उसकी पत्नी को देखा। "ये दोनों ही हेतुसंपन्न हैं, यदि मैं जाकर धर्मोपदेश करूंगा तो दोनों प्रव्रजित होकर अर्हत्व प्राप्त करेंगे। अगर न जाऊंगा, तो कल ये बाढ़ से नष्ट हो जायंगे, बाढ़ में डूब जायंगे"– ऐसा सोचकर उसी क्षण श्रावस्ती से सात सौ योजन दूर धनिय के निवास स्थान पर, आकाश मार्ग से जाकर उसकी कुटी के ऊपर खड़े हुए। धनिय उस गाथा को

बार-बार बोल रहा था, बोलना समाप्त नहीं कर रहा था, भगवान के वहां जाने पर भी बोल ही रहा था। उसको सुनकर भगवान ने सोचा, 'इतने से ही संतोष या विश्वास नहीं होगा, बल्कि इस प्रकार होगा' और इसको दिखाने के लिए भगवान ने यह गाथा धनिय गोप की गाथा के उत्तर में कही, जो व्यञ्जनतः समान है अर्थात देखने में उससे मिलती जुलती है, पर अर्थतः समान नहीं है अर्थात जिसका अर्थ भिन्न है।

१९. अक्कोधनो विगतखिलोहमस्मि (इति भगवा), अनुतीरे महियेकरत्तिवासो।
विवटा कुटि निब्बुतो गिनि, अथ ये पत्थयसी पवस्स देव॥

"मैं क्रोध रहित हूं, मेरी सभी अनुर्वरताएं समाप्त हो गयी हैं, मेरी कुटी विवृत है और मेरी आग बुझ गयी है, मैं एक रात मही के तीर पर रहने आया हूँ। इसलिए देव! चाहो तो बरसो"।

'पक्कोदनो' और **'अक्कोधनो'** आदि पद अर्थतः वैसे ही एक समान नहीं हैं जैसे समुद्र के इस पार का तीर और उस पार का तीर। व्यञ्जन अर्थात अक्षरों में यहां कुछ-कुछ साम्य है इसलिए ये व्यञ्जनतः समान कहे गये हैं। यहां पहली गाथा के समान पदों का अर्थ जैसा कहा गया है वैसा जानना चाहिए।

विशेष पदों का यह शब्द तथा अर्थ के अनुसार वर्णन है–

अक्कोधनो– क्रुद्ध नहीं होने का स्वभाव। जो पहले कहे गये प्रकार के आघात के कारण उत्पन्न क्रोध किसी में इतना कम होता है कि उत्पन्न होकर हृदय को संतप्त कर शांत हो जाता है; उससे अधिक उपजा हुआ क्रोध किसी के चेहरे पर विकार मात्र पैदा करता है; उससे भी अधिक क्रोध किसी को कड़ी बात कहने के लिए मात्र मुख संचालन कराता है अर्थात सिर्फ मुंह खुलवाता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई कठोर वचन बोलता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई दंड या शस्त्र खोजने के लिए इधर-उधर देखता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई दंड या शस्त्र उठाता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई दंड या शस्त्र लेकर मारने के लिए दौड़ता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई एक या दो बार प्रहार करता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई संबंधी तथा बंधु-बांधव की हत्या करता है; उससे भी अधिक क्रोध के कारण कोई बाद में पश्चात्ताप कर अपने को ही मार डालता है– सिंहल द्वीप में कालगामवासी अमात्य की तरह। यहां तक क्रोध बढ़ सकता है अर्थात क्रोध बढ़ते-बढ़ते इतनी दूर तक बढ़ सकता है। उस क्रोध को भगवान ने बोधिमंड में ही सभी प्रकार से नष्ट कर दिया था, ताल वृक्ष की तरह काटकर जड़ से उखाड़ दिया था ऐसा कर दिया था कि वह फिर उग नहीं सके, इसलिए भगवान ने कहा, 'मैं क्रोध रहित हूं।'

विगतखिलो– जिसने अनुर्वरताओं को नष्ट कर दिया है, चित्त को ऐसा बांझ (अनुर्वर) बनानेवाला कि वहां कुछ भी उत्पन्न हो ही नहीं सकता। चित्त को बांधकर रखने के लिए या कठोर बनाने के लिए पांच चेतोखिल कहे गये हैं (जैसे बुद्ध, धर्म, संघ तथा बुद्ध की शिक्षा में संदेह होना और सब्रह्मचारियों के प्रति क्रोध करना), जिस तरह इस कठोर या अनुर्वर बने चित्त में, जैसे अनुर्वर जमीन में चार महीनों तक वर्षा होने पर भी धान की फसल नहीं उगती, वैसे सद्धर्म श्रवण आदि कुशल हेतुओं की वर्षा होने से भी कुशल नहीं उत्पन्न होते, उन खिलों (कठोरताओं, अनुर्वरताओं) को भगवान ने सभी प्रकार से बोधिमंड में ही प्रहीण कर दिया था, इसलिए भगवान ने "विगतखिलोहमस्मी"ति अर्थात मेरी सभी अनुर्वरताएं नष्ट हो गयी हैं, मेरा चित्त उर्वर हो गया है कहा–

उनका वास एक रात के लिए है– इसलिए एकरत्तिवासो अर्थात एक रात रहनेवाला हूं– कहा। जिस प्रकार धनिय वहां वर्षा ऋतु के चार महीने तक रहने के लिए गया था, उस प्रकार भगवान नहीं आये थे। भगवान सिर्फ उस रात को ही उसके हित के लिए वहां रहने के लिए गये थे। इस लिए 'रात भर रहनेवाला हूँ' ऐसा कहा–

विवटा– खुली हुई, विवृत, जिसका छादन हटा लिया गया है।

कुटी– आत्मभाव, 'स्व' का भाव, शरीर। 'अत्तभाव' अलग अलग उद्येश्य से, हेतु से, शरीर, गुफा, देह, मनुष्य की देह, नाव, रथ, व्रण, ध्वज, दीमक की वांबी, कुटी या कुटिका कहा जाता है।

यहां लकड़ी आदि से बने घर नामक कुटी की तरह अस्थि आदि से बने होने के कारण यही नाम पाकर कुटी कहा गया– जैसा कहा है–

"आवुसो, जैसे काठ, वल्ली, मिट्टी, और घास से जगह घिरी होने पर अगार (घर) कहलाती है उसी प्रकार अस्थि, नस, मांस, और चमड़े से आकाश घिरे होने पर 'रूप' कहलाता है अर्थात रूप नाम से जाना जाता है। (म० नि० १.३०६)

चित्त रूपी बंदर के निवास होने के कारण यह कुटी कहलाता है। जैसे कहा–

'अस्थि कंकाल ही यह कुटी है'– यहीं वंदर रहता है। पांच द्वारोंवाली कुटी से वह बाहर बार-बार जाकर द्वार पर ही आकर टकराता रहता है, (थेरगा० १२५) घूमता है, प्राणियों की यह कुटी चूंकि तृष्णा मान, और मिथ्या दृष्टि आदि से छायी हुई है, अतः बार-बार इसमें राग आदि क्लेशों की वर्षा होती है। जैसे कहा है–

'छायी रहने पर खूब वर्षा होती है, नहीं छायी रहने (विवृत) पर अधिक वर्षा नहीं होती। इसलिए जो छादन है उसे खोल दो, इस प्रकार अधिक वर्षा नहीं होगी।' (उदा० ४५; थेरगा० ४४७; परि० ३३९)

यह गाथा दो जगह खंधक और थेरगाथा में कही गयी है। खंधक में 'जो अपराध को ढकता है, उसको क्लेश और अपराध बार-बार होते हैं, जो ढकता नहीं अर्थात छिपाता नहीं, उसको नहीं होते'– इस अर्थ को लेकर (यह गाथा) कही गयी है। थेरगाथा में 'जिसका राग आदि छादन है, उसका पुनः इष्ट आलंबन आदि में राग उत्पन्न होकर छायी कुटी में भी चूता है। जो उत्पन्न क्लेश से हार मान लेता है उसकी ही अपनी कुटी में क्लेशों के सामान से जो छादन बना है, वहां बार-बार क्लेश की वर्षा होती है। जिसका क्लेश का छादन या राग का छादन अर्हत मार्ग ज्ञान की हवा से विध्वंस कर दिये जाने से, उड़ा दिये जाने से, विवृत है– खुला है, उसकी कुटी में वर्षा नहीं होती। यही अर्थ यहां अभिप्रेत है। भगवान ने इस प्रकार के छादन को कहे गये प्रकार से ही विध्वंस किया, उड़ा दिया, इसलिए 'कुटी छायी नहीं है'– यह कहा–

निब्बुतो– निवृत्त, शांत, उपशांत,

गिनि– आग। जिन ग्यारह[१] प्रकार की आगों से यहां सब आदीप्त है, जल रहा है।

---

१. रागअग्नि, द्वेषअग्नि, मोहअग्नि, आहुनेय्य (यज्ञाग्नि) गहपतिअग्गि (गृहपति द्वारा जो पवित्र आग बराबर जलाये रखी जाती है।), दाक्खिणेय्यअग्गि (दाक्षिणेय्य की आग), कट्ठअग्गि (काष्ठाग्नि की आग), दुक्खअग्गि (दुःख अग्नि) भवदुक्खअग्गि (भवदुःख अग्नि), विप्पटिसार (पश्चात्ताप की आग), सोकअग्गि (शोकाग्नि)

जैसे कहा है– 'राग की आग से जल रहा है' यह विस्तार है। भगवान की वह आग बोधिवृक्ष की जड़ में ही जब वे बैठे तो आर्यमार्ग जल के अभिषेक से बुझ गयी, इसलिए **'निब्बुतो गिनि'–** आग बुझ गयी ऐसा कहा–

इस प्रकार बोलते हुए असंतोषक से संतुष्ट होते हुए धनिय को संपूर्ण ज्ञान (अर्हत) के कथन से बुरा-भला कहते हैं, उपदेश देते हैं और प्रबोधित कर प्रोत्साहित करते हैं। कैसे? मैं 'अक्कोधनो' अर्थात क्रोधमुक्त हूँ ऐसा कह रहा हूं और धनिय तुम 'इससे खुश हो कि 'मैंने भात पका लिया है।' भात का पकाना तो जीवनभर धन की हानि से किया जाता है, धन की हानि पहरा देने आदि दुःख का आसन्न कारण है, ऐसा होने पर दुःख ही से तुम संतुष्ट हो। किंतु मैं 'क्रोध रहित हूं, क्रोध विमुक्त हूं' ऐसा कहते हुए संतुष्ट होते हुए सांदृष्टिक अर्थात 'इस लोक के दुःख और संपरायिक अर्थात दूसरे लोक के दुःख के अभाव होने से संतुष्ट हूं'– ऐसा स्पष्ट करते हैं, प्रकाशित करते हैं। मैं कहता हूं कि मेरा चित्त 'विगतखिल' अर्थात ऐसा अनुर्वर हो गया है जहां संदेह नहीं बढ़ते और तुम यह कहकर संतुष्ट हो कि 'मैंने दूध दुह लिया है', तुम अकृतकृत्य होकर 'कृतकृत्य हो' ऐसा मानकर संतुष्ट हो, किंतु मैं 'विगतखिल हूं' अर्थात 'अनुर्वर चित्त हूं' से संतुष्ट होते हुए कृतकृत्य के समान संतुष्ट हूं– ऐसा प्रकाशित करते हैं।[1]

'अनुतीरे महियेक रत्तिवासो' अर्थात जब मैं कहता हूं कि मही नदी के तीर पर एक रात्रि के वास के लिए आया हूं तो तुम मही के तीर पर अपने परिजनों के साथ चार महीने तक लगातार रहने से संतुष्ट हो। लगातार रहना आवास की आसक्ति से होता है और वह दुःख है– ऐसा होने पर दुःख से ही तुम संतुष्ट हो। किंतु मैं एक ही रात के वास से तुष्ट होते हुए लगातार नहीं रहने से संतुष्ट हूं। लगातार नहीं रहना आवास के प्रति आसक्ति नहीं होने से होता है अर्थात लगातार एक जगह नहीं रहने का अर्थ है आसक्ति का अभाव और आसक्ति का अभाव सुख है– 'मैं सुख से संतुष्ट हूं'– ऐसा प्रकाशित करते हैं।

'विवटा कुटी– कुटी विवृत है, छायी नहीं है'– मैं बोलता हूं तो तुम छायी हुई कुटी से अर्थात छाये घर से संतुष्ट हो, घर छाये रहने पर भी तुम्हारा आत्मभाव जो कुटी है वहां क्लेश की वर्षा बहुत होती रहती है जिससे उत्पन्न जो चार प्रकार की बाढ़ हैं उनसे डुबाये जाकर तुम दुर्भाग्य में पड़ोगे, दुःख पाओगे, ऐसा होने पर जो संतोष नहीं देनेवाला है (असंतोषक है) उससे खुश हो। मैं किंतु 'विवृत कुटी' से संतुष्ट होकर आत्म-भाव की जो मेरी न छायी कुटी है उसी से खुश हूं। इस प्रकार मेरी विवृत कुटी में क्लेश की अधिक वर्षा नहीं होती जिससे उत्पन्न जो चार प्रकार की बाढ़ हैं उनमें डुबाये जाकर मैं दुर्भाग्य में पड़ूं, दुःख पाऊं– ऐसा होने पर भी मैं संतोष देनेवाले (संतोषक) को पाकर खुश हूं– यह स्पष्ट करते हैं। **'निब्बुतो गिनि'** आग बुझ गयी– जब मैं कहता हूं तो तुम आग जलायी गयी है (**"आहितो गिनी"**ति) कहकर यह सोचकर खुश होते हो कि मैंने न किये उपद्रव का निवारण कर लिया है जबकि वस्तुतः तुमने निवारण नहीं किया है। तुम यह मानकर खुश हो। दूसरी ओर मैं **"निब्बुतो गिनी"**ति**–** आग बुझ गयी है' कहकर ग्यारह प्रकार की आगों के परिदाह तथा जलन के अभाव से उपद्रवों के निवारण कर लेने से मैं खुश हूं– यह भगवान स्पष्ट करते हैं। **'अथ चे पत्थयसी पवस्स देवाति–** अव यदि चाहो तो, हे देव, बरसो' ऐसा बोलते हुए मुझ सदृश को ये बातें शोभा देती हैं, क्योंकि मैं दुःखातीत हूं, सुखप्राप्त

१. भगवान यहां स्पष्ट कर रहे हैं कि तुम वास्तव में कृतकृत्य नहीं हो, मैं हूं– इसलिए तुम्हारा संतुष्ट होना सही नहीं है, मेरा होना सही है।

हूं, सभी कर्त्तव्य मैंने कर लिए हैं, उसके बरसने से या नहीं बरसने से न तो मेरी हानि है और न मेरा लाभ, लेकिन तुम ऐसा क्यों कह रहे हो– यह स्पष्ट करते हैं। इसलिए जो यह कहा गया कि इस प्रकार बोलते हुए धनिय को, जो असंतोषक से संतुष्ट हो रहा था, संपूर्ण ज्ञान के कथन से बुरा-भला कहते हैं, उपदेश देते हैं और प्रबोधित कर प्रोत्साहित करते हैं" वह ठीक प्रकार से कहा गया।

२०. अन्धमकसा न विज्जरे, (इति धनियो गोपो) कच्छे रुळ्हतिणे चरन्ति गावो।
वुट्ठिम्पि सहेय्युमागतं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"यहां डाँस नहीं हैं, कछार में बढ़ी हुई घास को गायें चरतीं हैं। ये वर्षा को भी सह लेंगी। अतः हे देव, यदि चाहो तो बरसो।"

भगवान द्वारा इस तरह कही गयी गाथा सुनकर धनिय गोप ने यह नहीं पूछा कि 'यह गाथा कौन कह रहा है' परंतु उसके सुभाषित भाव से परितुष्ट होकर वैसी ही गाथा सुनने की इच्छा से **अन्धमकसा** से प्रारंभ होनेवाली दूसरी गाथा कही। यहां **अन्धका–** काली मक्खियों का पर्याय है, कुछ लोग गोमक्खियों का भी पर्याय मानते हैं। **मकसा–** मक्खियां, **न विज्जरे–** नहीं हैं। दो प्रकार के दलदल होते हैं– नदी दलदल और पर्वत दलदल। यहां इसका अर्थ है नदी दलदल। **रुळ्हतिणे–** बढ़ी हुई घास को, **चरन्ति–** खाती हैं।

वुट्ठिं– वात वृष्टि आदि अनेक प्रकार की वृष्टियां हैं, जिनका प्रकाशन या वर्णन आलवकसुत्त में करेंगे। यहां वर्षा वृष्टि के बारे में कहा गया है।

सहेय्युं– सहन करे।

शेष तो स्पष्ट ही है। कह रहा है जो गोमक्खियां जमा होकर, खून चूसते हुए क्षणभर में ही गायों को कष्ट देने लगती हैं, इसलिए गोपालक (अर्थात धनिय के मजदूर) उनके आते ही उन मक्खियों को धूल छींटकर या शाखा से मारते हैं, उनके अभाव में गायों की सुख-शांति को, नदीकच्छ में बढ़ी हुई घास चरने से बहुत दूर तक चरने जाने के लिए जो परिश्रम करना पड़ता, उसके भी अभाव को धनिय ने बताकर उनकी भूख तथा थकान के अभाव को स्पष्ट करते हुए ऐसा कहा "जिस प्रकार दूसरे की गायें गोमक्खियों से काटे जाकर, बहुत दूर तक जाने से थककर भूख से कुम्हलाकर एक वर्षा भी न सह सकती हैं वैसी मेरी गायें नहीं हैं, मेरी गायें इन तकलीफों के अभाव में दो या तीन वर्षा भी सह सकती हैं।"

२१. बद्धासि भिसी सुसङ्खता (इति भगवा), तिण्णो पारगतो विनेय्य ओघं।
अत्थो भिसिया न विज्जति, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"वस्तुतः एक अच्छी तरह से बेड़ा बंधा तैयार है (भगवान ने कहा), मैं उत्तीर्ण हूं, दूसरे तीर पर चला आया हूं, बाढ़ों को मैंने जीत लिया है। अब बेड़े की आवश्यकता नहीं है, अतः हे देव, यदि चाहो तो बरसो।"

उसके बाद चूंकि धनिय ने द्वीप में रहते हुए भय देखकर बेड़ा बांध कर, महामही नदी के पार उतरकर, उस नदीकच्छ में आकर 'मैं सुष्ठुभाव से आ गया, सुरक्षित स्थान पर स्थित हूं' मानते हुए ऐसा कहा। जब कि जहां वह स्थित था, वह स्थान भय से भरा था, इसलिए उसके आगमन स्थान से अपने आगमन स्थान को अधिक श्रेष्ठ और अधिक बढ़िया बताते हुए बुद्ध ने **"बद्धासि भिसी"**ति से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही जो अर्थतः समान है, व्यञ्जनतः नहीं।

यहां **भिसि** फैलाकर, चौड़ा बनाकर बांधा गया बेड़ा संसार में **भिसि** (बेड़ा) कहलाता है। आर्य के धर्मविनय में आर्यमार्ग इसका पर्याय है। आर्य मार्ग ही मार्ग, पद्य (पथ), पंथ, सीमा, अञ्जस, मार्ग, अयन, नाव, श्रेष्ठ पुल, बेड़ा, छोटी नाव, पार होने का पुल (चूळनि० पारायनत्थुतिगाथानिद्देस १०१), और राष्ट्रीय मार्ग मूल (स्रोत) ही जहां-तहां प्रकाशित हैं।

इस गाथा द्वारा भगवान ने पहले की तरह उसको उपदेश देते हुए यह अर्थ कहा– यह जानना चाहिए, "धनिय, तुम बेड़ा बनाकर, मही नदी पार कर यहां आये हो, पुनः तुम्हें बेड़ा बांधना पड़ सकता है, यह स्थान सुरक्षित नहीं है। मेरे द्वारा एकाग्रचित्त में मार्ग के सभी (आठ) अंगों को मिलाकर ज्ञान के बंधन से नाव बंधी है। वह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों से परिपूर्ण होने के कारण, एक रस भाव (परिवर्त्तन न होनेवाले स्वभाव) को प्राप्त होने के कारण, एक दूसरे को नहीं लांघने या पार करने से अर्थात एक दूसरे को अतिक्रांत नहीं करने से फिर से इसे बांधने के प्रयोजन के अभाव में, किसी भी देव– मनुष्य के खोलने में असमर्थ होने के कारण यह अच्छी तरह बंधी है, तैयार की गयी है। उससे मैं उत्तीर्ण हूं, पहले जहां जाने की कामना की थी, वहां (उस पार) आ गया हूं। जाते हुए सोतापन्न आदि की तरह कोई प्रदेश नहीं गया। अब पार होकर सभी आश्रवों को क्षय कर सभी धर्मों के पार परम सुरक्षित स्थान जो निर्वाण है उसको प्राप्त कर लिया है।"

तिण्णो– सर्वज्ञता प्रात की है।

पारगतो– अर्हत्व प्राप्त किया है।

क्या दूर कर, अर्हत्व पाया है?

विनेय्य ओघं– कामोघ[1] आदि चार ओघों (बाढ़ों) को पारकर, उनका अतिक्रमण कर उनके पार चला गया।

अब मुझे फिर से तैरकर पार होने की आवश्यकता नहीं है इसलिए बेड़े की आवश्यकता नहीं है– **अत्थो भिसिया न विज्जति**। इसलिए मेरे लिए ही यह कहना कि 'अब चाहो तो, हे देव, बरसो' उपयुक्त है।

२२. गोपी मम अस्सवा अलोला (इति धनियो गोपो), दीधरत्तं संवासिया मनापा।
तस्सा न सुणामि किञ्चि पापं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"मेरी पत्नी मेरी बातों को सुनती है, उन पर ध्यान देती है, लोभी नहीं है, वह मेरे साथ दीर्घकाल से रह रही है और प्रिय है। मैं जरा भी उसके बारे में खराब बात नहीं सुनता। अतः हे देव! यदि चाहो तो बरसो।"

१. काम ओघ, भव ओघ, दृष्टि ओघ, अविद्या ओघ

उसको भी सुनकर धनिय ने पहले ही की तरह **'गोपी मम अस्सवा'** से प्रारंभ होनेवाली यह गाथा कही।

गोपी– पत्नी को निर्देश करता है।

अस्सवा– बात को सुननेवाली, आज्ञाकारिणी।

अलोला– स्त्री पांच लोभों से चंचल होती है– आहार लोभ, अलंकार लोभ, दूसरे पुरुष का लोभ, धन लोभ, और घूमने फिरने का लोभ। वैसी ही स्त्री भात, पुआ, सुरा आदि कई प्रकार के आहारों में लोभ करती है, अंत में अंतिम दर्जे के चावल का भात खाती है, जैसे हाथ सूखता है फिर खाती है, दुगुणा धन देकर भी सुरा पीती है। आभूषण के प्रति लोभ होने के कारण अन्य अलंकार नहीं मिलने पर अंत में पानी एवं तेल से ही केश संवारकर, चिकना कर चेहरा साफ करती है। दूसरे पुरुष के प्रति लोभ होने के कारण, पुत्र द्वारा निमंत्रित किये जाने पर भी यदि स्थान वैसा हो तो पहले पाप की ही बात, असद्धर्म की बात ही सोचती है। धन के लोभ के कारण 'सोने की तरह पंखवाले हंसराज के सारे पंख धन के लिए नोच लेती है।'

घूमने फिरने के लोभ के कारण आराम आदि उन स्थानों में जाकर सब धन का विनाश करती है। यहां धनिय ने यह दिखाते हुए कि 'मेरी पत्नी में एक भी लोभ नहीं है' उसे **अलोला–** निर्लोभी कहा।

दीघरत्तं संवासिया– दीर्घ काल से साथ रहते हुए, जब दोनों कुंआरे थे, तभी से एक साथ पले, बढ़े। इससे यह दिखाता है कि वह दूसरे पुरुषों को नहीं जानती है।

मनापा– इस प्रकार दूसरे पुरुष को नहीं जानकर मुझमें ही ध्यान लगाये रहती है, मुझसे ही प्रेम करती है– यह दिखाता है।

तस्सा न सुणामि किञ्चि पापं 'इस नाम के व्यक्ति के साथ वह हंसी या उस नाम के व्यक्ति के साथ बात-चीत की' ऐसा कुछ आचरण दोष उसके बारे में मैं न सुनता हूं– यह दिखाता है।

२३. चित्तं मम अस्सवं विमुत्तं (इति भगवा), दीघरत्तं परिभावितं सुदन्तं।
पापं पन मे न विज्जति, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"मेरा चित्त मेरी बातों पर ध्यान देता है अर्थात सावधान है। पूरी तरह विमुक्त है। यह दीर्घ काल तक भावित किया गया है और सुदांत है, अच्छी तरह नियंत्रित है। और मुझमें कोई पाप भी विद्यमान नहीं है। अतः हे देव, यदि चाहो तो बरसो।"

अब भगवान ने इन गुणों के कारण पत्नी से संतुष्ट धनिय को उपदेश देते हुए पहले की तरह ही **'चित्तं मम अस्सवं'** से प्रारंभ होनेवाली यह गाथा कही जो अर्थतः और व्यञ्जनतः एक समान है। यहां सभी पद स्पष्ट ही हैं। यह अभिप्राय है– धनिय, तुम संतुष्ट हो कि 'मेरी पत्नी मेरी बातों को सुनती है' लेकिन वह तुम्हारी आज्ञाकारिणी है या नहीं; दूसरे का चित्त जानना बड़ा कठिन है, विशेष कर स्त्री का। स्त्री को पेट में संभालकर रखने से भी उसे रख पाना मुश्किल है। इस प्रकार कठिनाई से संरक्षित होनेवाले चित्त के कारण ही यह तुम नहीं जान सकते हो कि तुम्हारी स्त्री निर्लोभी है, एक साथ रहनेवाली है, प्रिय है और निष्पाप है। किंतु दूसरी ओर मेरा चित्त मेरी बात को सुनता है, मेरा

कहा करता है और मेरे वश में रहता है, मैं उसके वश में नहीं हूं। उनका चित्त उनके वश में है– यह बात यमक प्रातिहार्य करते समय जब छः रंगों की अग्निधारा और जलधारा बह निकलती है, लोगों को स्पष्ट हो जाती है। अग्नि निर्माण में तेज कसिण पर ध्यान करते हैं, जल निर्माण में उदक कसिण पर और नील आदि रंगों के निर्माण में नील आदि कसिणों पर ध्यान लगाते हैं उन पर ध्यान करते हैं। बुद्धों के दो चित्त एक साथ प्रवृत्त नहीं होते, एक चित्त ही उनकी बात मानने के कारण उनके वश में रहता है। सब प्रकार के बंधनों को दूर कर देने के कारण उस विमुक्त चित्त को विमुक्ति के कारण, **विमुत्तं**, (बिना लोभ के) **अलोलं,** तुम्हारी पत्नी ऐसी नहीं। दीपङ्कर बुद्ध के समय से ही दान शील आदि से दीर्घकाल तक परिभावित करने से (मेरा चित्त) **संवासियं** (एक साथ रहनेवाला), तुम्हारी पत्नी ऐसी नहीं। उसको सर्वोत्तम रूप से दमन किया गया है, दमित होने के कारण वह **सुदन्तं** है; अच्छी तरह से दांत होने के कारण छ इंद्रिय द्वारों का सेवन त्याग कर वह मेरे वश में रहता है, मेरे अभिप्राय के अनुसार काम करता है इसलिए **मनापं** (प्रिय) है, तुम्हारी पत्नी नहीं।

पापं पन मे न विज्जति– इस तरह भगवान उसको अपने चित्त के पापाभाव को दिखाते हैं जैसे धनिय अपनी पत्नी का दिखाता है। उनका यह पापाभाव न केवल जब वे सम्यक संबुद्ध बने तब था, बल्कि उन उनतीस वर्षों में भी जब वे रागयुक्त थे और घर से बेघर नहीं हुए थे, तब भी था– यह जानना चाहिए। उस समय भी, जब वे गृहस्थ थे, बुद्धिमानों द्वारा दोषपूर्ण कहे जानेवाले जो कायिक, वाचसिक और मानसिक कर्म हैं वे पहले उत्पन्न नहीं हुए। उसके बाद मार ने भी अभिसंबोधि प्राप्त करने के छः वर्ष पूर्व और प्राप्त करने के एक वर्ष बाद– इस तरह सात वर्षों तक यह सोचकर उनका पीछा किया 'कि बाल का अग्रभाग चुभने मात्र भी अर्थात छोटा-से छोटा पाप या अकुशल आचरण देखूं', नहीं देखकर उदास होकर यह गाथा कही–

"भगवान के पीछे-पीछे मैं सात वर्षों तक चला, किंतु स्मृतिमान सम्यक संबुद्ध का (कुछ भी) दोष न देख सका।" (सु० नि० ४४८)

जब वे बुद्ध बन गये थे, उस समय भी उत्तर नामक तरुण ब्राह्मण ने भगवान बुद्ध के छोटे-से-छोटे कर्त्तव्य को भी देखने की इच्छा से सात महीनों तक पीछा किया था। कुछ भी दोष न पाकर, न देखकर वह इस नतीजे पर पहुंचा कि 'भगवान के सभी आचरण परिशुद्ध हैं'। तथागत के चार अरक्षेय्य हैं अर्थात वे जिन्हें रक्षा की आवश्यकता न हो। जैसा कहा है (अ० नि० २.७.५८)।

"भिक्षुओ, तथागत की चार चीजें ऐसी हैं जिन्हें उन्हें छिपाने की आवश्यकता हो। कौन-से चार? भिक्षुओ, तथागत, के सभी कायिक कर्म परिशुद्ध हैं, तथागत का कोई कायिक कर्म ऐसा है ही नहीं, जिसको छिपाने की आवश्यकता हो, कि 'मेरा यह कर्म कोई दूसरा न जान ले'; तथागत के सभी वाचसिक कर्म परिशुद्ध हैं, तथागत का कोई वाचसिक कर्म ऐसा है ही नहीं, जिसको छिपाने की आवश्यकता हो कि 'मेरा यह कर्म दूसरा न जान ले'; तथागत के सभी मानसिक कर्म परिशुद्ध हैं, तथागत का कोई मानसिक कर्म ऐसा नहीं है, जिसके छुपाने की आवश्यकता हो कि 'मेरा यह कर्म कोई दूसरा न जान ले' और भिक्षुओ, तथागत की आजीविका परिशुद्ध है, भिक्षुओ, तथागत गलत तरीके से आजीविका प्राप्त नहीं करते, जिसको दूसरों से छिपाने की आवश्यकता हो कि 'मेरा यह गलत तरीका कोई दूसरा न देख ले'।

इस तरह चूंकि तथागत के मन में, न केवल सम्यक संबोधि प्राप्त करने पर, बल्कि उसके पूर्व भी पाप नहीं था, इसलिए कहा, 'मुझमें पाप नहीं है'। उसका अभिप्राय यह है– मेरे मन में पाप है– यह कोई कह ही नहीं सकता– ऐसी बात तुम्हारी पत्नी के बारे में नहीं कही जा सकती। इसलिए यदि इन गुणों से संतुष्ट होकर 'हे देव, यदि चाहो तो बरसो' किसी को कहना चाहिए तो मुझे ही कहना चाहिए।

२४. अत्तवेतनभतोहमस्मि (इति धनियो गोपो), पुत्ता च मे समानिया अरोगा।
तेसं न सुणामि किञ्चि पापं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"मै दूसरे का नौकर नहीं हूं, अपने कमाता हूं, खाता हूं; मेरे पुत्र मेरे साथ स्वस्थ रहकर रह रहे हैं, मैं उनके बारे में भी कोई पाप की बात नहीं सुनता। अब यदि चाहो तो, हे देव, बरसो"।

उसको भी सुनकर धनिय ने उसके बाद सुभाषित अमृत के पान करने की इच्छा से अपनी स्वतंत्रता दिखाने के लिए या यह बताने के लिए कि वह किसी का नौकर नहीं हैं **'अत्तवेतनभतोहमस्मी'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही। यहां **अत्तवेतनभतो–** अपने से ही अर्जित रोटी-कपड़े से पालित-पोषित हूं, अपने से ही काम कर जीविका अर्जन करता हूं, जीता हूं, दूसरे से वेतन लेकर उसका काम नहीं करता, अर्थात मैं वेतनभोगी नहीं हूं– यह दिखाता है।

पुत्ता– बेटियां और बेटे, उन सबों को मिलाकर पुत्र ही कहा गया है।

समानिया– साथ में, बिना अनुपस्थित हुए।

अरोगा– बिना रोग के, सभी लंबे-चौड़े हैं और बाहुबली हैं– यह बताता है।

तेसं न सुणामि किञ्चि पापं– उनके बारे में यह नहीं सुनते हैं, कि वे चोर हैं, व्यभिचारी हैं, दुःशील हैं– इस तरह पाप की कोई बात नहीं सुनता।

२५. नाहं भतकोस्मि कस्सचि (इति भगवा), निब्बिट्ठेन चरामि सब्ब लोके।
अत्थो भतिया न विज्जति, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"मैं भी किसी का भृत्य नहीं हूं। मैं भी पूरी दुनिया में अपने से ही जीविका अर्जित कर घूमता हूं। मजदूरी की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए हे देव, यदि चाहो तो बरसो।"

ऐसा कहे जाने पर अर्थात धनिय की बातों को सुनने पर भगवान ने पहले की ही तरह धनिय को उपदेश देते हुए **नाहं भतको** से प्रारंभ होनेवाली यह गाथा कही। यहां भी पदों के अर्थ स्पष्ट ही हैं। यह अभिप्राय है– तुम यह मान कर संतुष्ट हो कि 'तुम किसी के दास नहीं हो, स्वतंत्र हो' लेकिन परमार्थतः अपना काम करके जीते हुए भी तुम तृष्णा के दास होने के कारण दास ही हो, तुम भृत्य नहीं हो इस वाद से तुम मुक्त नहीं हो। यह कहा गया है, 'यह लोक तृष्णा का दास होने से अतृप्त रह जाता है, न्यून रह जाता है (म० नि० २.३०५)।' अर्थात सभी की तृष्णा पूरी नहीं होती लेकिन परमार्थतः मैं किसी का दास नहीं हूं– **नाहं भतकोस्मि कस्सचि।** मैं किसी का भी दास नहीं हूं न अपना और न दूसरे का। किस कारण से? चूंकि पूरी दुनिया में स्वयं जीविका अर्जित कर घूमता हूं। दीपंकर बुद्ध के पैरों पर जब मैं बैठा तब से लेकर बोधि प्राप्ति तक मैं सर्वज्ञता ज्ञान का भृत्य था। सर्वज्ञता प्राप्त कर मैं उस

राजभृत्य की तरह हो गया जो स्वयं मजदूरी करता है और स्वयं जीविका अर्जन करता है।

अपने से अधिगत उस सर्वज्ञता भाव से प्राप्त लोकोत्तर समाधि सुख से जीता हूं। अब जो आगे मुझ अभ्यस्त को जो कार्य करणीय है उसके अभाव से मैं उन लोगों की तरह हो गया हूं जिनकी प्रतिसंधि प्रहीण हो गयी है और वैसों को **'अत्थो भतिया न विज्जति'–** मजदूरी की आवश्यकता ही नहीं है। 'भटिया' भी पाठ है। इसलिए स्वतंत्र होने से संतुष्ट होकर यदि 'हे देव, चाहो तो बरसो' कहा जाय तो मेरे ही द्वारा कहा जाना चाहिऐ।

उसको भी सुनकर सुभाषित अमृत से अतृप्त धनिय ने पांच प्रकार के गो मंडल की परिपूर्णता दिखाते हुए **'अत्थि वसा'** आदि कहा।

२६. अत्थि वसा अत्थि धेनुपा, (इति धनियो गोपो) गोधरणियो पवेणियोपि अत्थि।
उसभो पि गवम्पतीध अत्थि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देवा॥

"मेरे पास बछड़े हैं तरुण बाछे भी हैं, वियाई हुई गाये हैं अर्थात दूध देनेवाली गायें हैं, और वियानेवाली तथा तरुण गायें भी हैं। गायों का पति सांढ़ भी है। यदि चाहो तो हे देव बरसो"।

यहां–

वसा– बड़े बाछे जिन्हें दमित नहीं किया है।

धेनुपा– तरुण बाछे जो अभी दूध पीते हैं, और दूध देनेवाली गायें।

गोधरणियो– गाभिन गायें।

पवेणियो– वय प्राप्त बछियां जो सांढ़ के साथ मैथुन करना चाहती हैं।

उसभोपि गवम्पति– गोपालक प्रातःकाल ही गवंपति को नहलाकर-धुलाकर पांच अंगुलियों का निशान देकर, माला धारण करवाकर इन शब्दों के साथ कि 'तात, जाओ, गायों को चरने के स्थान पर ले जाओ, उनकी रक्षा करो और फिर ले आओ' भेजते हैं, इस प्रकार भेजे जाने पर उन गायों को अगोचर स्थान में न ले जाकर, गोचर भूमि में चरा कर, सिंह, बाघ आदि भयानक जानवरों से रक्षा कर लाता है, वैसा वृषभ भी, गवंपति भी मेरे इस गोमंडल में है– यह दिखाता है।

ऐसा कहे जाने पर भगवान ने उसी प्रकार धनिय को उपदेश देते हुए **'नत्थि वसा'** से प्रारंभ होनेवाली यह विरोधी गाथा, प्रत्यनीक गाथा कही–

२७. नत्थि वसा नत्थि धेनुपा (इति भगवा), गोधरणियो पवेणियो पि नत्थि।
उसभोपि गवम्पतीध नत्थि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"मेरे पास न बछड़े हैं न दुधारू गायें हैं, न तरुण तथा बियानेवाली गायें नहीं हैं। गायों का पति सांढ़ भी नहीं है। अब, हे देव, चाहो तो बरसो"।

यहां यह अभिप्राय है– मेरे इस शासन में जो दमित नहीं किये गये हैं वैसे बड़े बाछे, तरुण बाछे, बाछों को जन्म देनेवाली जो दूध देनेवाली गायें हैं प्रघरण अर्थ में जो दूध पीनेवाले तरुण बाछे रूपी

अनुशय हैं, प्रतिसंधि गर्भ धारण अर्थ में जो वियानेवाली, पुण्य, अपुण्य और आनेञ्ज अभिसंखार चेतना नामक गाभिन गायें हैं, संयोग की इच्छा अर्थ में बड़ी हुई बाछियां जो तृष्णा हैं, आधिपत्य अर्थ में पहले जानेवाले श्रेष्ठ अर्थ में गायों के पति वृषभ नामक जो अभिसंस्कार विज्ञान है वे मेरे पास नहीं हैं तो वह मैं इन सभी प्रकार की चीजों के नहीं रहने से जो सुरक्षा है, योगक्षेम है, निर्वाण है उससे मैं संतुष्ट हूं। जबकि तुम्हारे पास जो-जो शोक उत्पन्न करनेवाली वस्तुएं हैं उनसे तुम संतुष्ट हो। इसलिए पूर्ण सुरक्षित होने के कारण मुक्त तथा संतुष्ट को ही यह कहना युक्त है कि 'हे देव, चाहो तो बरसो'।

उसको भी सुनकर और भी सुभाषित अमृतरस को प्राप्त करने की इच्छा से धनिय ने अपनी गायों को ठीक से, मजबूती से बांधकर रखनेवाले खूंटे तथा रस्सी आदि संपत्ति को बताते हुए 'खिला निखाता' आदि कहा।

२८. खिला निखाता असम्पवेधी (इति धनियो गोपो), दामा मुञ्जमया नवा सुसण्ठाना।
न हि सक्खिन्ति धेनुपापि छेत्तुं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"खूंटे ऐसे गाड़े गये हैं कि हिलते नहीं, मुञ्ज घास की बनी मजबूत रस्सियां हैं जिनसे गायें बांधी जाती हैं, वे ऐसी मजबूत रस्सियां हैं कि उन्हें तरुण बछड़े भी तोड़ नहीं सकते। यदि चाहो तो, हे देव बरसो"।

खिला– गायों को बांधने के खूंटे।

निखाता– जमीन कोड़कर, छोटे-बड़े गड्ढे खोदकर उनमें डाल कर ठोंके गये खूंटे।

असम्पवेधी– नहीं हिलनेवाला।

दामा– बछड़ों को बांधने के लिए बांटकर बनायी गयी रस्सी जिसमें गांठें हों।

मुञ्जमया– मुञ्ज घासवाली।

नवा– नया, पुराना नहीं।

सुसण्ठाना– अच्छी तरह, मजबूती से बांटी गयी रस्सी।

न हि सक्खिन्ति– नहीं सकेंगे।

धेनुपापि छेत्तुं– तरुण बाछे भी तोड़ने में समर्थ नहीं होंगे।

ऐसा कहने पर भगवान ने धनिय के बारे में यह जानकर कि इसकी इंद्रियों के परिपक्व होने का समय आ गया है पहले की तरह ही उपदेश देते हुए **'उसभोरिव छेत्वा'** ति से प्रारंभ होनेवाली चार आर्यसत्यों को प्रकाशित करनेवाली गाथा कही।

२९. उसभोरिव छेत्वा बन्धनानि (इति भगवा), नागो पूतिलतं व दालयित्वा।
नाहं पुनुपेस्सं गब्भसेय्यं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव॥

"वृषभ के समान बंधनों को तोड़कर, हाथी की तरह पूतिलता (गलोची) की लता को तोड़कर मैं पुनः गर्भ में नहीं आऊंगा। अतः देव, यदि चाहो तो बरसो।"

उसभो– गायों का स्वामी, रक्षक; गायों का नेता, रक्षक; गायों के झुंड का मालिक, बैल। कुछ लोगों के अनुसार सौ गायों में ज्येष्ठ उसभ, हजार में ज्येष्ठ वसभ और लाख में ज्येष्ठ निसभ कहलाता है। दूसरे लोगों के अनुसार 'एक गांव क्षेत्र में ज्येष्ठ उसभ, दो में ज्येष्ठ वसभ और सर्वत्र जो बिना रोके-टोके आ जा सके उसे निसभ कहते हैं।' ये सभी प्रपंच हैं, इसलिए उसभ, वसभ और निसभ इन सबों को अतुलनीय अर्थ में जानना चाहिए अर्थात ये सभी अप्रतिसम हैं, इनका जोड़ा नहीं है। जैसे कहा– श्रमण गोतम निसभ (वृषभ) की तरह हैं। (सं० नि० १.१.३८) र-कार पदों को मिलाने या संधि करानेवाला है।

बन्धनानि– रस्सी के बंधन तथा तृष्णा के बंधन।

नागो– हाथी।

पूतिलतं– एक प्रकार की लता (लताएं तो कमजोर होती ही हैं)। जिस प्रकार स्वर्णवर्णा शरीर भी पूतिकाय (गंदगी से भरा) कहा जाता है, सौ वर्ष का सुनख भी कुत्ता कहा जाता है, उसी दिन का जनमा हुआ सियार भी जरशृगाल या बूढ़ा शृगाल कहा जाता है, उसी प्रकार पूति लता या गलोची लता नयी होने पर भी असार या निस्सार होने के कारण पूतिलता ही कहलाती है।

दालयित्वा– काटकर, तोड़कर।

गब्भसेय्यं गर्भ और शय्या– यहां गर्भ धारण करने से गर्भ से उत्पन्न होनेवाले और शय्या ग्रहण करने से अवशेष सभी। गर्भशय्या कहकर वे सभी कह दिये गये हैं– यह जानना चाहिए। यहां शेष पदों का अर्थ स्पष्ट ही है।

यहां यह अभिप्राय है– धनिय, तुम बंधन से, बंधन में रहकर संतुष्ट हो, किंतु मैं बंधन से तकलीफ में पड़कर चिंतित होकर या बंधनों को घृणा की दृष्टि से देखकर सामर्थ्य शक्ति प्राप्तकर महावृषभ की तरह पांच ऊर्ध्वभागीय संयोजन रूपी बंधनों को चतुर्थ आर्य मार्ग की शक्ति सामर्थ्य से जिस प्रकार हाथी पूतिलता को काटता है उस प्रकार काटकर, वैसे ही पांच अवरभागीय इस लोक संबंधी संयोजन रूपी बंधन को प्रथम तीन मार्ग की शक्ति सामर्थ्य से काटकर अथवा वृषभ के समान अनुशय में पड़े बंधनों को, हाथी जैसे पूतिलता को काटता है, वैसे ही पूर्व संकल्पों अथवा अनुशयों तथा संयोजनों को मैंने काट दिया है। इसलिए मैं फिर गर्भ में न पड़ूंगा। मैं गर्भ प्राप्त न करूंगा। मैं जन्म आदि सभी दुःखों से परिमुक्त होकर शोभा पा रहा हूं, शोभ रहा हूं यह कहते हुए कि 'हे देव, चाहो तो बरसो।' इसलिए यदि तुम भी मेरी ही तरह बोलना चाहते हो तो उन बंधनों को काटो, तोड़ो। यहां बंधन समुदय सत्य, गर्भशय्या दुःख सत्य **'न उपेस्सं'** (नहीं पड़ूंगा) यहां न प्राप्त करूंगा, अनुपादिशेष निर्वाण प्राप्तकर **"छेत्वा दालयित्वा"**ति यहां छेदन और पदालन सोपादिशेष निर्वाण के कारण निरोधसत्य और जिससे काटता है, तोड़ता है वह मार्गसत्य है।

इस प्रकार चार सत्यों को प्रकाशित करनेवाली गाथा सुनकर गाथा के अंत में धनिय और उसकी पत्नी तथा उनकी दो बेटियां चारों श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुए। अब धनिय ने तथागत में पूर्ण तथा अचल श्रद्धा के योग से प्रज्ञा में प्रतिष्ठित प्रज्ञाचक्षु से भगवान की धर्मकाया को देखकर धर्मता से प्रेरित हृदय से 'मैंने बंधनों को काट डाला, मेरा पुनर्जन्म भी नहीं होगा' अवीचि से भवाग्र तक ऐसा सीहनाद भगवान को छोड़कर कौन कर सकता है? मेरे शास्ता आ गये हैं– ऐसा सोचा। उसके बाद भगवान ने

छः रंगोंवाले किरणजाल से चित्रित अमृत सींचनेवाले रक्तवर्ण से अपने शरीर की आभा को धनिय के घर पर बरसाया और मानो कहा 'अब सुखपूर्वक देखो'।

३०. निन्नञ्च थलञ्च पूरयन्तो, महामेधो पवस्सि तावदेव।
सुत्वा देवस्स वस्सतो, इममत्थं धनियो अभासथ॥

"उसी समय जोरों की वर्षा हुयी और नीची ऊंची जमीन जल से भर गयी। बरसते बादल (मेघ) को देखकर धनिय ने यह बात कही।"

अब धनिय ने अपने घर को वैसा प्रकाशित देखा जैसे या तो घर के भीतर सूर्य और चंद्रमा प्रवेश कर गये हों या हजार दीप उसमें प्रज्वलित हो गये हों और 'भगवान आ गये हैं' ऐसा उसको मन में हुआ। ठीक उसी समय मेघ भी बरसने लगे इसलिए संगीतिकारों ने ऐसा कहा– ऊंची तथा नीची जमीन (गड्ढों) को भर दिया।

निन्नं– छोटा तालाब, दलदल जमीन।

थलं– जमीन, ढलवान। इस प्रकार सभी नीची और ऊंची जमीन को, गड्ढे और ढलवान को भरते हुए मेघ बरसा, बरसना आरंभ हुआ– ऐसा कहा।

तावदेव– जिस क्षण भगवान ने अपने शरीर की आभा छोड़ी, मुक्त की, धनिय ने भी यह कहकर कि 'मेरे शास्ता आ गये हैं' श्रद्धा से चित्त की आभा छोड़ी। उसी क्षण वर्षा हुई। कुछ लोग यह वर्णन करते हैं कि 'उस समय सूर्योदय हुआ' अर्थात सूर्योदय जैसा दृश्य हुआ।

इस प्रकार उस धनिय में श्रद्धोत्पाद हुआ तथा तथागत ने जब आभा छोड़ी उस समय सूर्योदय के क्षण में वर्षा की आवाज सुन वह प्रीति तथा सौमनस्य से भर गया और **'लाभा वत'** से प्रारंभ होनेवाली दो गाथाएं उसने कहीं।

३१. लाभा वत नो अनप्पका, ये मयं भगवन्तं अद्दसाम।
सरणं तं उपेम चक्खुम, सत्था नो होहि तुवं महामुनि॥

"यह हमलोगों के लिए कम लाभ नहीं है कि हमने भगवान को देख लिया है, चक्षुमान! हमलोग आपकी शरण में जाते हैं। हे महामुनि! आप हमारे शास्ता बनें।"

३२. गोपी च अहञ्च अस्सवा, ब्रह्मचरियं सुगते चरामसे।
जातिमरणस्सपारगू, दुक्खस्सन्तकरा भवामसे॥

"मैं और मेरी आज्ञाकारिणी पत्नी दोनों ही बुद्धधर्म का पालन करेंगे। सुगत की उपस्थिति में ही हमलोग ब्रह्मचर्य का जीवन जीयेंगे। हमलोग जन्म, मरण के पार चले जायेंगे। हमलोग दुःख का अंत करेंगे।"

यहां चूंकि धनिय ने, पत्नी तथा बेटी के साथ आर्य मार्ग के प्रतिवेधन से भगवान की धर्मकाया को देखकर, लोकोत्तर चक्षु से रूपकाय देखा, लौकिक चक्षु से श्रद्धा लाभ किया, इसलिए कहा, 'यह हमलोगों

के लिए कम लाभ नहीं है कि हमलोगों ने भगवान को देख लिया। यहां **वत** विस्मय अर्थ में निपात है।

नो– हमारा।

अनप्पकं– विपुल, बहुत।

शेष तो स्पष्ट ही है।

सरणं तं उपेम– यहां उसके मार्गप्रतिवेध से कुछ न कुछ उसका शरण गमन निश्चित रूप से सिद्ध है। अब इसको कहकर, वचन से अपने को सौंप देने का काम करता है। मार्ग से या अपने को सौंप कर जो शरण गमन किया, वह अचल शरणगमन है, इसको दूसरे को वाणी से कह कर प्रकट करते हुए प्रणिपात शरणगमन करता है।

चक्खुमा– भगवान मांसचक्षु, दिव्यचक्षु, प्रज्ञाचक्षु, समंतचक्षु और बुद्धचक्षु– से समन्वित होने के कारण चक्षुमान हैं। उनको संबोधित करते हुए कहा– 'हे चक्षुमान, आपकी शरण जाता हूं।'

"सत्था नो होहि तुवं महामुनी"ति (हे महामुनि, आप हमलोगों के शास्ता होवें)– यह कर अर्थात इस वचन से शिष्यभाव से शरणगमन को पूर्ण बनाने के लिए कहता है–

'गोपी च अहञ्च अस्सवा, ब्रह्मचरियं सुगते चरामसे'ति।

मेरी आज्ञाकारिणी पत्नी और मैं– हम दोनों आपके धर्म का पालन करेंगे और जाति तथा मरण को पारकर दुःख का अंत करनेवाले हो जायंगे।

ब्रह्मचरियं– मैथुन विरति, मार्ग, श्रमण धर्म, बुद्ध शासन, अपनी पत्नी से ही संतोष पाने (म० नि० १.८३) का पर्याय है।

ब्रह्मचारी (म० नि० १.८३) ऐसे, इस तरह के और उदाहरणों में मैथुन विरति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

"पंचशिख, मेरा यह ब्रह्मचर्य एकांत निर्वेद के लिए है" (दी० नि० २.३२९)। ऐसे कथनों में मार्ग का पर्याय है।

"सारिपुत्त, मैं चार अंगों से समन्वागत ब्रह्मचर्य को पालन करना भली-भांति जानता हूं" (म० नि० १.१५५) । आदि कथनों में श्रमण धर्म का पर्याय है।

"यह ब्रह्मचर्य संपन्न एवं स्फीत (समृद्ध) है" (दी० नि० ३.१७४)। आदि कथनों में शासन का पर्याय है।

"हमलोग पत्नियों का अतिक्रमण नहीं करते अर्थात पत्नियों को छोड़ते नहीं, दूसरी स्त्रियों के पास नहीं जाते और न पत्नियां हमें अतिक्रमित करती हैं या हमें छोड़कर दूसरों के साथ जाती हैं। इसलिए हमलोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और जवानी में नहीं मरते" (जा० १.१०.९७) आदि कथनों में सदार संतोष अर्थात अपनी पत्नी से संतुष्ट रहते हैं, सदार-संतोष एक पत्नीव्रत का पर्याय है।

पहले ब्रह्मचर्य का पालन कर जो श्रमण धर्म पालन किया जाता है अर्थात उच्चतर, श्रेष्ठतर मार्ग ब्रह्मचर्य यहां अधिप्रेत है। **सुगते–** सुगत के निकट। भगवान दोनों अंतों को छोड़कर ठीक से, सम्यक

रूप से गये, ठीक से जाने के कारण, शोभन आर्य मार्ग से समन्वागत होने के कारण, सुंदर निर्वाण नामक स्थान पर जाने के कारण, सुगत कहे जाते हैं। समीप होने के कारण सप्तमी विभक्ति है इसलिए सुगत के निकट अर्थ है।

चरामसे– हमलोग आचरण करते हैं। जिसको संस्कृत में **'चरामसि'** कहा जाता है, उसे यहां चरामसे कहा गया है। अर्थकथाचार्य 'से' को निपात कहते हैं। इसलिए यहां आयाचन अर्थ में **चरेम से** विकल्प से पाठ करते हैं। जिसे जो पसंद हो, वैसा ही ग्रहण करे।

इस प्रकार धनिय ने ब्रह्मचर्य जीवन जीने के बहाने भगवान से प्रव्रज्या की याचना की और प्रव्रज्या के प्रयोजन को दिखाते हुए कहा– **"जातिमरणस्स पारगू, दुक्खस्सन्तकरा भवामसे"**ति (जन्म-मरण के पार तथा दुःख का अंत करनेवाले बने)।

जातिमरणस्स पारं अर्थात जन्म और मरण के पार अर्थात निर्वाण, वहां अर्हतमार्ग से जायंगे।

दुक्खस्स– भवचक्र का दुःख।

अन्तकरा– अभाव, दुःखों का अंत।

भवामसे– हमलोग हों, अथवा ओह! हमलोग दुःख का अंत करनेवाले हों!

चरामसे– यहां चरामसे के बारे में जो भवामसे के बारे में कहा गया है वह जानना चाहिए।

ऐसा बोलकर पुनः दोनों ने भगवान की वंदना की और 'भगवान हमें प्रव्रजित करें' कहकर प्रव्रज्या की याचना की।

जब पापी मार ने धनिय तथा उसकी पत्नी दोनों को भगवान की वंदना कर प्रव्रज्या की याचना करते देखा तो सोचा कि ये मेरे विषय का अतिक्रमण करना चाहता है, क्यों न मैं विघ्न पैदा करूं?' और वहां आकर गृहस्थ जीवन की प्रशंसा करते हुए, इस जीवन का गुण बखान करते हुए यह गाथा कही **'नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा'**।

३३. नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा (इति मारो पापिमा), गोमा गोहि तथेव नन्दति।
उपधी हि नरस्स नन्दना, न हि सो नन्दति यो निरुपधि॥

"जिनको बेटे हैं वे बेटा होने से आनंदित होते हैं, जिनको गायें हैं, वे गाय होने से आनंदित होते हैं। योग या उपधि (विषय भोग), धन-पुत्र की प्राप्ति ही मनुष्य की खुशी है। जो बिना उपधि के है, वह सुखी नहीं होता।"

यहां नन्दति– संतुष्ट होता है, मोद मनाता है।

पुत्तेहि– पुत्रों तथा पुत्रियों के साथ, सहयोग तथा करण वचन में तृतीया विभक्ति, पुत्रों के साथ आनंद मनाता है, पुत्रों के कारण ही आनंद मनाता है– यह कहा गया है।

पुत्तिमा– पुत्रवान व्यक्ति।

इति– ऐसा कहा।

मारो– वशवर्ती भूमि में एक दामरिक देवपुत्र। वह वैसे व्यक्ति को जो उसके क्षेत्र का अतिक्रमण करना चाहता है, यदि मार सकता है तो मारता है। जिसको मार नहीं सकता, उसकी भी मृत्यु चाहता है। इसलिए 'मार' कहा जाता है।

पापिमा– नीच व्यक्ति, पापाचारी व्यक्ति। यह वचन संगीतिकारों का है। सभी गाथाओं में इसी तरह।

जैसे पुत्र होने के कारण पुत्रवान पिता आनंद मनाता है उसी प्रकार गाय होने से गोप आनंद मनाता है। जिसको गाय है वह भी गायवाला होने के कारण, गायों के साथ, गाय के कारण उसमें आनंद मनाता है।

ऐसा कहकर अब उसके हित के जो साधन हैं उनको निर्देश करता है, दिखाता है **'उपधी हि नरस्स नन्दना'** कहकर। यहां **उपधि–** चार उपधियां हैं– कामोपधि, स्कंधोपधि, क्लेशोपधि, अभिसंस्कारोपधि। 'पांच इंद्रियों से जो सुख सौमनस्य उत्पन्न होता है और उनका जो आस्वाद है वह काम है, कामुकता है' (म० नि० १.१६६)। इस प्रकार कहे गये सुख के अधिष्ठानभाव होने से पुनर्जन्म कराता है। यहां सुख ही इस वचन से उपधियां कही जाती हैं। इसी तरह स्कंध भी स्कंधमूलक दुःख के अधिष्ठान होने से, क्लेश भी अपायदुःख के अधिष्ठान भाव से और अभिसंस्कार भी पुनर्जन्म के दुःख के अस्तित्व होने से उपधि कहे जाते हैं। यहां कामोपधि अभिप्रेत है। वह प्राणियों के संस्कार के कारण दो प्रकार के होते हैं। यहां सत्त्व को बांधने का प्रयास उसको दिखाते हुए 'पुत्रों से, गायों से' कह कर कारण बताया कि 'उपधि ही मनुष्य को आनंदित करती है।' उसका अर्थ– चूंकि ये कामोपधियां मनुष्य को आनंदित करती हैं, मनुष्य में प्रीति सौमनस्य का ढेर लगाकर आनंदित करती हैं, इसलिए यह जानना चाहिए कि 'पुत्रवान बेटों से आनंदित होता है, उसी प्रकार गोप गायों से आनंदित होते है, तुमको तो पुत्र भी है और तुम गायवाले भी हो, इसलिए आनंद मनाओ, प्रव्रजित होने की इच्छा मत करो। प्रव्रजितों को ये उपधियां नहीं होतीं, ऐसा होने पर तुम दुःख के अंत की कामना करते हुए भी, तुम दुःखी ही होगे।'

अब उस हित के साधन को निर्देश करता है, दिखाता है यह कहकर **"न हि सो नन्दति, यो निरुपधी"**ति। उसका अर्थ– चूंकि जिसको ये उपधियां नहीं हैं, वह प्रियजनों से, रिश्तेदारों से अलग रहकर साधनहीन होकर आनंदित नहीं होता, इसलिए तुम इन उपधियों से यदि दूर रहोगे, उनको रखने से मना करोगे तो प्रव्रजित होकर दुःखी ही होगे।

अब भगवान ने यह जानकर कि यह पापी मार इन दोनों को बाधा देने के लिए आया है फल ही से फल को गिराने के समान उसी उपमा से जिसको मार ने दिया था मारवाद को (मार के विचार को) तोड़ते हुए उसी की कही गाथा को परिवर्तित करते हुए 'उपधि ही शोक का कारण है' दिखाते हुए यह कहा– **सोचति पुत्तेहि पुत्तिमा।**

३४. **"सोचति पुत्तेहि पुत्तिमा, (इति भगवा) गोमा गोहि तथेव सोचति।**
उपधीहि नरस्स सोचना, न हि सो सोचति यो निरूपधी"ति॥

"जिसको बेटे हैं, वह बेटे के कारण शोक करता है (भगवान ने कहा), गायवाला गायों के कारण दुःखी होता है, क्योंकि उपधि (आसक्ति) मनुष्य के दुःख का कारण है। जो उपधिविहीन है वह शोक नहीं करता"।

यहां सभी पद स्पष्ट ही हैं। अभिप्राय यह है, 'हे पापी मार, ऐसा मत कहो कि बेटेवाले ही आनंदित होते हैं। सभी प्रिय और सुंदर वस्तुओं से विछोह होता ही है– यही विधान है जो अनतिक्रमणीय है; उनको प्रिय पुत्र, पत्नी का, गाय, घोड़ा, घोड़ी, हिरण्य, स्वर्ण का जब अभाव होता है, विछोह होता है तो हृदय में अधिक शोक का शल्य चुभता है जिससे प्राणी पागल हो जाते हैं, विक्षिप्त चित्त हो जाते हैं, मृत्यु का अनुभव करते हैं और मरना मात्र तो दुःख है। इसलिये ऐसा ग्रहण करो– **सोचति पुत्तेहि पुत्तिमा**। जिस प्रकार पुत्रों से पुत्रवान वैसा ही गोप भी गायों को प्राप्त कर दुःख करता है। क्या कारण है? क्योंकि उपधि ही मनुष्य का शोक है। चूंकि उपधि मनुष्य का शोक है, इसलिये ही 'वह शोक नहीं करता जो उपधिरहित है। जो आसक्ति का प्रहाणकर निरुपधि या उपधि रहित होता है, वह संतुष्ट होता है उतने ही चीवर से जितने से शरीर की रक्षा हो जाय और संतुष्ट होता है उतने ही भोजन से जिससे पेट की रक्षा हो, भूख से वच सके। जहां-जहां जाता है, उन्हें लेकर जाता है। जैसे पक्षी....पे० अब उसका पुनर्जन्म नहीं होगा इसको अच्छी तरह जानता है। इस प्रकार सभी शोकों का उच्छेदन कर, उपधि रहित होकर वह शोक नहीं करता है'। इस तरह भगवान ने अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए अपनी देशना समाप्त की।

जो उपधि विहीन है, जो क्लेश रहित है, वह शोक नहीं करता। जब तक क्लेश रहते हैं, तभी तक सभी उपधियां शोक देनेवाली होती हैं। क्लेशों के प्रहाण होने पर शोक नहीं होता। इस प्रकार भी अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए देशना समाप्त की। देशना के अंत में धनिय तथा उसकी पत्नी दोनों ही प्रव्रजित हुए। भगवान आकाश मार्ग से जेतवन गये। वे (धनिय तथा उसकी पत्नी) प्रव्रजित हुए और उन्होंने अर्हत्व का साक्षात्कार किया। जहां वे निवास करते थे, वहां गोपालकों ने विहार बनवाया। आज भी वह गोपालक विहार के नाम से जाना जाता है।

धनियसुत्तवण्णना समाप्त।

३. खग्गविसाणसुत्तवर्णना

सब्बेसु भूतेसु– से प्रारंभ होनेवाला खग्ग विसाणसुत्त है।

इसकी क्या उत्पत्ति है?

जितने भी सुत्त हैं, उनकी उत्पत्ति चार प्रकार से कही गयी है– अपनी इच्छा से, दूसरे की इच्छा से, ब्याख्या करने से, और प्रश्न पूछे जाने पर। द्वयतानुपस्सना आदि सुत्तों की उत्पत्ति अपनी इच्छा से, मेत्तसुत्त आदि की दूसरे की इच्छा से, उरगसुत्त आदि की व्याख्या करने से और धम्मिकसुत्त आदि की प्रश्न पूछे जाने पर हुई है। यहां खग्गविसाणसुत्त की विना किसी विशेष प्रश्न पूछे जाने पर उत्पत्ति हुई है। यहां चूंकि कुछ गाथाएं पूछे जाने पर अलग-अलग प्रत्येकबुद्धों द्वारा कही गयी हैं, कुछ गाथाएं बिना किसी से पूछे जाने पर अपने से प्राप्त मार्गानुरूप उदान कहने से, इसलिए कुछ गाथाओं की उत्पत्ति प्रश्न पूछे जाने पर और कुछ की अपनी इच्छा से कहे जाने पर हुई है।

जिसकी उत्पत्ति बिना किसी विशेष प्रश्न पूछे जाने पर हुई है, उसे प्रारंभ से इस प्रकार जानना चाहिए– एक समय भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। तब एकांत में ध्यान कर रहे आयुष्मान आनंद के मन में यह विचार उठा, "बुद्धों की प्रार्थना (इच्छा) और दृढ़संकल्प तो दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही श्रावकों के भी, किंतु प्रत्येकबुद्धों की दिखाई नहीं पड़ते, मुझे भगवान के पास जाकर उनसे पूछना चाहिए।" वे ध्यान से उठकर भगवान के पास गये और क्रमानुसार इसके बारे में पूछा। तब भगवान ने उनको पुब्बयोगावचरसुत्त (पूर्वयोगावचर सूत्र) कहा।

"आनंद, पांच लाभ हैं पहले से रहे योगावचर को, इसी लोक में वह पहले ज्ञान प्राप्त करता है, अगर इसी लोक में पहले प्राप्त नहीं करता है तो मृत्यु के समय प्राप्त करता है; अगर मृत्यु के समय प्राप्त नहीं करता है तो देवपुत्र होकर ज्ञान प्राप्त करता है; बुद्धों के सम्मुख क्षिप्र अभिज्ञावाला होता है और सबसे अंत में प्रत्येकसंबुद्ध होता है।"

ऐसा कहकर फिर कहा–

"आनंद, प्रत्येकबुद्ध संकल्पसंपन्न पूर्वयोगावचर होते हैं। इसलिए बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और श्रावक सभी को प्रार्थना (कामना) और दृढ़संकल्प की इच्छा करनी चाहिए।

आनंद ने पूछा, "भंते, बुद्धों की प्रार्थना कितने समय तक रहती है?"

"आनंद, बुद्धों की प्रार्थना कम-से-कम चार असंखेय्य और एक लाख कल्पों[१] तक, अधिक से अधिक सोलह असंखेय्य और एक लाख कल्पों तक और इन दोनों के मध्य आठ असंखेय्य और एक

१. (क) एक बड़ा ठोस पर्वत हो, एक योजन लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन ऊंचा। कोई पुरुष हर सौ वर्ष में आकर उस पर्वत को काशी के (महीन) वस्त्र से रगड़े। तो वह पर्वत मिट जायगा, पर कल्प समाप्त नहीं होगा।

(ख) एक लोहे का नगर हो एक योजन लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन ऊंचा। वह सरसों के दाने से भरा हो। हर सौ वर्ष में आकर कोई पुरुष उसमें से सरसों का एक दाना चुने तो सरसों की राशि समाप्त हो जायगी, पर कल्प का अंत नहीं होगा।

लाख कल्पों तक रहती है। ये (तीन प्रकार के) भेद प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य की मात्रा की अधिकता से जानने चाहिए। जिन बुद्धों में प्रज्ञा की मात्रा अधिक है, उनमें श्रद्धा कम होती है और प्रज्ञा तीव्र; जिन बुद्धों में श्रद्धा अधिक होती है, उनकी प्रज्ञा मध्यम कोटि की और श्रद्धा बलवती होती है; जिनमें वीर्य की मात्रा अधिक है उनमें श्रद्धा और प्रज्ञा मंद होती है और वीर्य बलवान। बिना चार असंखेय्य और एक लाख कल्प पूरा किये हुए वेस्संतर की तरह प्रतिदिन दान देने पर भी, उसके अनुरूप शील आदि सभी पारमिताओं का संग्रह करने पर भी बीच में वह बुद्ध होगा यह असंभव है। क्यों? इसलिए कि ज्ञान का गर्भाधान नहीं होता, यह विपुलता को प्राप्त नहीं करता अर्थात इसकी वृद्धि नहीं होती और इसका परिपाक नहीं होता अर्थात यह प्रौढ़ नहीं होता। जैसे तीन महीने, चार महीने और पांच महीने बीतने पर ही जो धान पकता है, (इसलिए) उतना समय न बीतने पर चाहे लाख कोई प्रतिदिन उसे हजार बार दुलरावे, पानी से सींचे, बीच में वह एक पक्ष में या एक महीने में पक जाय यह असंभव है। क्यों? इसलिए कि धान का पौधा गर्भाधान नहीं करता, नहीं बढ़ता और प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं करता अर्थात नहीं पकता। इस प्रकार चार असंखेय्य और एक लाख कल्प बिना बीते... पे0.... यह असंभव है। इसलिए जितने समय तक पारमिताओं को पूरा करने की बात कही गयी है, उतने समय तक ज्ञान के परिपाक के लिए पारमिताओं को पूरा करना ही चाहिए। इतने समय तक बुद्धत्व की प्रार्थना करते हुए दृढ़संकल्प के लिए आठ संपत्तियों की इच्छा करनी चाहिए, ये हैं– मनुष्यजाति में जन्म, पुरुष होना, हेतु, शास्ता का दर्शन, प्रव्रज्या, गुण (ध्यान आदि) की संपत्ति, अधिकार (कर्त्तव्य), काम करने की इच्छा इन आठों के एक साथ होने से ही अभिनीहार (दृढ़संकल्प) सफल होता है (बु0 वं0 २.५९)।

अभिनीहारो– मूल प्रणिधान (दृढ़संकल्प, आकांक्षा) का यह पर्याय है। यहां **मनुस्सत्तं–** मनुष्यजाति। मनुष्य जाति को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं, देवजाति में जन्म लेने पर भी, दृढ़संकल्प सफल नहीं होता। यहां रहने पर भी बुद्धत्व के लिए जो प्रार्थना (अभिलाषा) करता है उसे दान आदि पुण्य कर्म करते हुए मनुष्य जाति में जन्म लेने की ही अभिलाषा करनी चाहिए। वहीं रहकर दृढ़संकल्प करना चाहिए। इस प्रकार ही (उसकी प्रार्थना) सफल होती है। **लिङ्गसम्पत्ति–** पुरुष होना, मनुष्य जाति में होते हुए भी स्त्री, नपुंसक तथा उभयलिङ्गी का संकल्प सफल नहीं होता। ऐसे होने पर यदि वे बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा करते हों तो दान आदि पुण्यकर्म करके पुरुषभाव की ही अभिलाषा करनी चाहिए। उन्हीं अवस्थाओं में उन्हें संकल्प करना चाहिए। इस प्रकार उनकी अभिलाषा सफल होगी।

हेतु– अर्हत बनने की जो उपनिश्रय (आधार) संपत्ति है। जो स्वयं परिश्रम करके अर्हत्व प्राप्त करने में समर्थ है, उसीका संकल्प सफल होता है, दूसरे का नहीं, जैसे सुमेध पंडित का। वे दीपङ्कर के पाद मूल में प्रव्रजित हुए और अपने से परिश्रम कर ही अर्हत्व प्राप्त करने में समर्थ हुए।

सत्थारदस्सनं– बुद्धों को सामने देखना, अपने सम्मुख देखना। इस प्रकार ही सफल होता है, दूसरे प्रकार से नहीं। जैसे सुमेध पंडित का। उन्होंने दीपङ्कर बुद्ध को सामने देख कर दृढ़संकल्प किया।

पब्बज्जा– घर से बेघर होना, अनागारिक भाव। वह बुद्ध शासन में हो या कर्मवादी, क्रियावादी तापस परिव्राजकों के संप्रदाय में हो जैसे सुमेध पंडित का। सुमेध नामक तपस्वी होकर उन्होंने दृढ़संकल्प किया।

गुण संपत्ति– ध्यान आदि गुणों का लाभ। गुणसंपन्न प्रव्रजित का प्रणिधान सफल होता है, दूसरों

का नहीं, जैसे सुमेध पंडित का। उन्होंने पांच अभिज्ञाओं[१] को तथा आठ समापत्तियों[२] के लाभ का संकल्प किया था।

अधिकारो– श्रेष्ठ काम करना, त्याग– यह अर्थ है। जीवन आदि के परित्याग करनेवाले का ही संकल्प सफल होता है, दूसरे का नहीं, जैसे सुमेध पंडित का। उन्होंने इस प्रकार जीवन परित्याग का दृढ़संकल्प किया था। 'मुझ पर पैर रखते हुए ही बुद्ध शिष्यों के साथ जायं। उनका पैर कीचड़ में न पड़े। यह मेरे हित (कल्याण) के लिए होगा।' (बु० वं० २.५३)

छन्दता– काम करने की इच्छा। जिसकी यह वलवती होती है, उसीका संकल्प सफल होता है। यदि कोई कहे कि 'कौन चार असंखेय्य और एक लाख कल्प तक नरक में दुःख भोग कर बुद्धत्व की कामना (अभिलाषा) करता है' तो यह सुनकर यदि कोई 'मैं' कहने के लिए उत्साहित हो तो, उसीकी इच्छा बलवती कहनी चाहिए। और यदि कोई यह कहे कि 'कौन सभी चक्रवालों के दहकते अंगारों के ढेर पर चलते हुए उनको अतिक्रांत कर, उस पर चलकर बुद्ध बनने की इच्छा करता हो, कौन सभी चक्रवालों पर जो शक्तिशूलों से आकीर्ण हैं, चलते हुए उन्हें अतिक्रमण कर बुद्धत्व चाहता है, कौन सभी चक्रवालों में, जो पानी से परिपूर्ण हैं, तैर कर बुद्ध बनना चाहता है, कौन सभी चक्रवालों को जो निरंतर बांस की शाखाओं से संच्छन्न हैं उनका मर्दन करते हुए, उनको अतिक्रांत कर बुद्ध बनना चाहता है' यह सुनकर जो यह बोलने के लिए उत्साहित हो कि ऐसा 'मैं' करना चाहता हूं, तो जानना चाहिए कि उसकी इच्छा बलवती है। इस प्रकार की करने की इच्छा से, उत्साह से समन्वागत सुमेध पंडित ने दृढ़संकल्प किया।

जिस बोधिसत्त्व का दृढ़ संकल्प या अभिलाषा इस प्रकार सफल होती है वे इन अट्ठारह अयोग्य स्थानों को प्राप्त नहीं करते। उनका दृढ़संकल्प जब से लेकर पूरा होता है तब से लेकर वे कभी जन्मांध नहीं होते, जन्म से बहरे नहीं होते, पागल नहीं होते, बहरे तथा गूंगे नहीं होते, लूले-लंगड़े नहीं होते, न बर्बर जाति में पैदा होते हैं और न दासी की कोख से पैदा लेते हैं, न निश्चित रूप से मिथ्या दृष्टिवाले होते है, उनका लिङ्ग कभी परिवर्तित नहीं होता, न वे कभी पांच अंतराय कर्म (जैसे मातृहत्या, पितृहत्या, अर्हत हत्या, बुद्ध का खून बहाना, संघभेद करना) करनेवाले होते हैं, न कुष्ठरोगी होते हैं, न अंतिम जन्म में वत्तक आदि तिरश्चीन योनि में जन्म लेते हैं, और न वैसे प्रेत होकर जन्म लेते हैं जो सदा भूखे तथा प्यासे ही रहते हैं तथा जो तृष्णा से बराबर पीड़ित रहते हैं, न काल कञ्चिक असुरों में जन्म लेते हैं, न अवीचि नरक में, न चक्रवाल में स्थित नरक में पैदा होते हैं, न कामावचर में मार होते हैं, न रूपावचर में असंज्ञीभव में पैदा होते हैं, न सुद्धावासभव में पैदा होते हैं, न अरूपभव में, न किसी अन्य चक्रवाल में संक्रमण करते हैं।

ये चार जो बुद्ध भूमियां हैं अर्थात बुद्ध बनने के आधार हैं जैसे, उत्साह (वीर्य), प्रज्ञा, अवस्थान (अचल अधिष्ठान) और हितचर्या (मेत्ताभावना) इनसे वे समन्वागत होते हैं।

उस्साहो (उत्साह) को वीर्य कहा जाता है, **उम्मङ्ग** को प्रज्ञा कहा जाता है, **अवत्थानं** (अवस्थान)

१. अभिज्ञा (विशेष ज्ञान) पांच हैं। क) ऋद्धि शक्ति, ख) दिव्य श्रोत, ग) परचित्त विजानन, ग) पूर्वेनिवासानुस्मृति (पूर्व जन्मों का संस्मरण) और घ) दिव्य चक्षु अर्थात दूसरे के पुनर्जन्म के बारे में जानना।

२. विमोक्ष मुक्ति की अवस्थाओं या चरणों को कहते हैं। ये आठ हैं। क) रूपी होकर रूप को देखता है, ख) अपने अरूपी होकर बाहर रूप को देखता है, ग) सोचता है यह सुंदर है उसके प्रति आसक्त होता है, घ) रूप संज्ञा का अतिक्रमण कर प्रतिघ संज्ञा को हर-वार नष्ट कर नाना प्रकार की संज्ञाओं को बिना मन में लाये अनंत आकाश, ड़) अनंत विज्ञान, च) अनंत आकिञ्चञ्ञायतन, छ) अनंत नेवसंज्ञानसंज्ञा है। (चार रूपावचर और चार अरूपावचर समाधि)

को अधिष्ठान और हितचर्या यहां मेत्ताभावना को जाननी चाहिए। ये छः प्रकार के जो आशय हैं जैसे संसार को त्याग करने का आशय (इच्छा), एकांत में रहने की इच्छा, लोभ न करने की इच्छा, द्वेष न करने की इच्छा, मोह में न पड़ने की इच्छा, बाहर (संसार-चक्र से) निकलने की इच्छा वे बोधि को परिपक्व करते हैं, उनसे समन्वागत होने के कारण संसार त्याग करने की इच्छावाले बोधिसत्त्व, काम में दोष देखनेवाले की इच्छा; एकांत में रहने की इच्छावाले बोधिसत्त्व मनुष्य समाज में दोष देखनेवाले, अलोभी होने की इच्छावाले बोधिसत्त्व, लोभ में दोष देखनेवाले, अद्वेषी होने के आशयवाले बोधिसत्त्व, द्वेष में दोष देखनेवाले, ज्ञानी (मोह में नहीं रहना) होने के आशयवाले होने से बोधिसत्त्व मोह में दोष देखनेवाले तथा संसार चक्र से निकलने के आशयवाले बोधिसत्त्व सभी भवों में दोष देखनेवाले कहे जाते हैं, उनसे वे समन्वागत होते हैं।

प्रत्येकबुद्धों की प्रार्थना (अभिलाषा) कितने समय में पूरी होती है अर्थात कितने दिनों के बाद उनकी अभिलाषा पूरी होती है? प्रत्येकबुद्धों की अभिलाषा दो असंखेय्य और एक लाख कल्प तक रहती है अर्थात इतने दिनों में पूरी होती है, इससे ज्यादा समय नहीं लगता, इस सीमा के पार नहीं जाता। पूर्व में जैसे कहा गया है यहां वे ही कारण जानने चाहिए। इतने समय में प्रत्येकबुद्ध बनने की अभिलाषा करते हुए दृढ़संकल्प के लिए पांच संपत्तियों की प्राप्ति करने की इच्छा करनी चाहिए वे हैं मनुष्य जाति में जन्म, पुरुष का भव, जो वीताश्रव हैं जैसे बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा श्रावक उनका दर्शन, त्याग और काम करने की इच्छा, ये ही दृढ़संकल्प के कारण हैं।

यहां **विगतासवदस्सनं** वीताश्रवों को देखना अर्थात– बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा श्रावकों में से जिस किसी का भी दर्शन– यह अर्थ है। शेष कहे गये के अनुसार।

अब श्रावकों की अभिलाषा कितने समय में पूरी होती है अर्थात श्रावकों को कितने समय तक अभिलाषा करती रहनी चाहिए।

दो अग्रश्रावकों को एक असंखेय्य और एक लाख कल्प तक, अस्सी महाश्रावकों को एक लाख कल्प तक, वैसे ही बुद्ध के माता-पिता को, बुद्ध के सेवक (उपस्थाक) को तथा बुद्ध के पुत्र को। इससे अधिक समय नहीं लगेगा। कहे गये के अनुसार ही कारण हैं। इन सबों का दृढ़संकल्प दो अंगों से युक्त होता है– त्याग तथा काम करने की इच्छा से।

इस प्रकार की कामना से, ऐसे दृढ़संकल्प से, जैसा ऊपर बताया गया है, उतने समय तक पारमिताओं को पूरा कर बुद्ध जब लोक में उत्पन्न होते हैं तो ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं; प्रत्येकबुद्ध क्षत्रिय, ब्राह्मण या गृहपति कुल में से किसी एक में; अग्रश्रावक भी बुद्ध की तरह ही क्षत्रिय, ब्राह्मण कुलों में। सभी बुद्ध उत्तरोत्तर घटते हुए कल्प में पैदा नहीं होते, विवर्त्तमान (उत्तरोत्तर बढ़ते हुए) कल्प में पैदा होते हैं। प्रत्येकबुद्ध बुद्धों से तो नहीं मिलते लेकिन उनकी उत्पत्ति का जो काल है उसमें उत्पन्न होते हैं।

बुद्ध स्वयं बूझते हैं, बोधि प्राप्त करते हैं, और दूसरों को भी समझाते हैं, बुझाते हैं। प्रत्येकबुद्ध स्वयं तो बोधि प्राप्त करते हैं, लेकिन दूसरों को नहीं समझाते। अर्थरस तो समझते हैं, लेकिन धर्मरस नहीं समझते। वे लोकोत्तर धर्मों की प्रज्ञप्तियों का खंडन कर देशना नहीं कर सकते। जैसे गूंगा देखे सपने का

और बनचर या देहात में रहनेवाला शहरी व्यंजन रस खाकर वर्णन नहीं कर सकता ठीक उसी तरह उनको धर्म का स्पष्ट ज्ञान है। वे जानते हैं लेकिन दूसरों को बता नहीं सकते। सभी प्रत्येकबुद्ध ऋद्धि, समापत्ति, प्रतिसंभिदाओं को प्राप्त करते हैं। गुण विशिष्टता के कारण वे बुद्धों से नीचे और श्रावकों से ऊपर होते है, दूसरों को प्रव्रजित कर आभिसमाचारिक (विनय के छोटे-छोटे नियम) सिखाते हैं, "मन की कड़ी तपस्या करनी चाहिए, परिपूर्णता बिना प्राप्त किये (बीच में) छोड़ना नहीं चाहिए" इस उद्देश्य से उपोसथ करते हैं– 'आज उपोसथ है' ऐसा कहकर जब उपोसथ करते हैं तो गंधमादन पर्वत पर मंजूषक वृक्षमूल में रतनमाल में इकट्ठे होकर करते हैं।

इस तरह भगवान ने आयुष्मान आनंद को प्रत्येकबुद्धों की सब तरह से परिपूर्ण अभिलाषा एवं अभिनीहार (दृढ़संकल्प) के बारे में कहा। अब इस अभिलाषा और इस अभिनीहार से उत्पन्न उन-उन प्रत्येकबुद्धों के बारे में **'सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्ड'**न्ति आदि कहने की विधि से इस खग्गविसाणसुत्त को कहा। यह खग्गविसाणसुत्त की अविशेष पृच्छावसित (प्रश्न पूछे जाने पर, प्रश्न से संबद्ध) उत्पत्ति है।

अब विशेष वक्तव्य है। यहां इस गाथा की इस प्रकार उत्पत्ति जाननी चाहिए– यह प्रत्येकबुद्ध प्रत्येकबोधिसत्त्वभूमि में डुबकी लगाते हुए दो असंखेय्य और एक लाख कल्प तक पारमी पूरा करते हुए भगवान कस्सप के शासन में प्रव्रजित होकर आरण्यक (जंगल में रहनेवाले) हुए तथा गतप्रत्यागत व्रत (कर्मस्थान पर जाते और लौटते समय ध्यान करना) पूरा करते हुए श्रमणधर्म का पालन किया। बिना इस व्रत को पूरा किये प्रत्येकबोधि प्राप्त करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। क्या है यह गत-प्रत्यागत व्रत? हरण-प्रत्याहरण? यह जैसे स्पष्ट हो, वैसे ही हम व्याख्या करेंगे।

कुछ भिक्षु कर्मस्थान के साथ जाते हैं किंतु वापस नहीं लौटते; कोई कर्मस्थान के साथ लौटते हैं, ले नहीं जाते; कोई न तो ले जाते हैं, न वापस लाते हैं, कोई ले जाते हैं और वापस भी लाते हैं। यहां जो भिक्षु सबेरे उठकर चैत्य का आंगन और बोधि-आंगन का व्रत कर अर्थात उन्हें झाड़ू से साफ कर, बोधिवृक्ष को जल से सींचते हैं, जलघट को भरते हैं और जलघट के स्थान पर रखते हैं; आचार्य तथा उपाध्याय के प्रति जो कर्त्तव्य हैं उन्हें करते हैं और बयासी छोटे-छोटे व्रत तथा चौदह महाव्रतों को लेकर पालन करते हैं, वे शौच आदि कर्म करके, शयनासन में प्रवेश कर जब तक भिक्षाचार के लिए समय न हो तब तक एकांत में आसन पर बैठ, समय बिताकर, समय हो गया– यह जान चीवर धारण कर, कायबंधन बांध, उत्तरासंग पहन, एक कंधे पर संघाटी रख, पात्र को कंधे से लटका कर, कर्मस्थान पर ध्यान करते हुए, चैत्य के आंगन में पहुंच, चैत्य तथा बोधि की वंदना कर, गांव के समीप आकर ठीक से चीवर से शरीर को ढक कर, पात्र लेकर गांव में पिंड (भोजन) के लिए प्रवेश करते हैं। इस प्रकार प्रवेश कर लाभी भिक्षु पुण्यवान उपासकों द्वारा सत्कृत, गुरुकृत होकर सेवा करनेवाले के कुल में या विश्रामशाला में लौटकर उपासकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हैं, बिना विक्षेप के धर्मदेशना करते हैं और उन्हें विचार करते छोड़कर बाहर आ जाते हैं, विहार आनेपर भिक्षुओं द्वारा पूछे प्रश्नों का उत्तर देते हैं, धर्मोपदेश करते हैं और इस या उस काम में लगते हैं।

भोजन के बाद, रात्रि के प्रथम प्रहर तथा मध्य प्रहर में इसी प्रकार भिक्षुओं के साथ प्रपंचकर (गप लड़ाकर) रात्रि के अंतिम प्रहर में सोते हैं, कर्मस्थान पर ध्यान नहीं करते। इसको कहते हैं **हरति** अर्थात आलस्य के कारण कर्मस्थान पर ध्यान पहले तो करते हैं किंतु **न पच्चाहरति** अर्थात बाद में उस

पर ध्यान नहीं करते।

जो भिक्षु व्याधिबहुल हैं, रोगी हैं, जिनको खाया हुआ भोजन सुबह तक ठीक से नहीं पचता है और जो सबेरे उठकर ऊपर कहे गये व्रत नहीं कर सकते हैं, और न कर्मस्थान पर ध्यान करते हैं, किंतु निश्चित रूप से यवागु या दवाई की इच्छा करते हुए समय रहते पात्र और चीवर लेकर गांव में जाते हैं, वहां यवागु या दवाई या भोजन खाकर भोजन-क्रिया समाप्त कर, प्रज्ञप्त आसन पर बैठ कर कर्मस्थान पर ध्यान करते हैं, कुछ विशेष की प्राप्ति कर या नहीं कर, विहार आते हैं और उसी तरह ध्यान करते हुए विहार करते हैं। इसे **पच्चाहरति** कहते हैं अर्थात वह भिक्षु गांव जाते समय कर्मस्थान पर ध्यान नहीं करते पर वहां से आते समय करते हैं। इस तरह के भिक्षुओं ने यवागु (जौ की कांजी) पीकर, विपश्यना का आरंभ कर बुद्ध शासन में अर्हत्व पाया, कितनों ने पाया यह गिनती से बाहर है। सीहलद्वीप (श्रीलंका) के गांव-गांव के आसनशाला[1] में कोई ऐसा आसन नहीं, जहां यवागु पीकर भिक्षु अर्हत न हुए हों।

जो प्रमाद विहारी हैं, आलसी हैं, जिन्होंने अपना उत्तरदायित्व एक ओर रख दिया है अर्थात जिन्होंने उत्तरदायित्व को एक किनारे कर दिया है और सभी व्रतों को तोड़ कर अर्थात उनका पालन न कर पांच प्रकार के चेतोखिल[2] से अपने चित्त को बांध रखा है, और बिना कर्मस्थान पर ध्यान करते विहार करते हैं तथा गांव में भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते हैं और गृहस्थों के प्रपंच में पड़कर खाली हाथ लौटते हैं उसे कहते हैं जो न गांव जाते समय कर्मस्थान पर ध्यान करते हैं और न लौटते समय करते हैं।

जो प्रातःकाल उठकर पहले कहे गये के अनुसार सभी व्रतों को पूरा कर भिक्षाटन की बेला तक, पालथी मार कर बैठते हैं और कर्मस्थान पर ध्यान लगाते हैं। कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं: **सर्वार्थक** (अर्थात वैसे कर्मस्थान जिस पर किसी भी परिस्थिति में ध्यान किया जाय) और **पारिहारिय** अर्थात वैसे कर्मस्थान जो मन को एकाग्र करने के लिए हो। **सर्वार्थक** कर्मस्थान हैं मेत्ता और मरणस्मृति– उसकी सर्वत्र इच्छा करनी चाहिए, इसलिए इन्हें 'सर्वार्थक' कहते हैं। आवास आदि में सर्वत्र मेत्ता की इच्छा करनी चाहिए। आवास में मेत्ताविहारी भिक्षु सब्रह्मचारियों को प्रिय होते हैं, वे सुखपूर्वक विना किसी से लड़े, किसी को क्रोधित किये विहार करते हैं। देवताओं में मेत्ताविहारी देवता द्वारा रक्षित होकर सुख से विहार करते हैं। राजाओं में, राजा के महामात्यों में, मेत्ताविहारी उनका प्रिय पात्र होकर सुख से रहते हैं। गांव, निगम आदि में मेत्ता विहारी सर्वत्र भिक्षाचार आदि में मनुष्यों द्वारा सत्कृत एवं सम्मानित होकर सुख से रहते हैं। मृत्यु की भावना करने से जीवित रहने की इच्छा का परित्याग कर अप्रमाद से विहार करते हैं।

दस अशुभ कसिण (कृत्स्न) अनुस्मृतियों में किसी एक को या चार धातुओं में एक को अपने चरित (चरित्र, स्वभाव) के अनुसार लेकर जो सदा संभाले रखने योग्य है, रक्षा करने योग्य है, भावना करने योग्य है उसे ही **पारिहारिय** अर्थात वैसा कर्मस्थान जो मन को एकाग्र करनेवाला है, कहा जाता है, यही मूल कर्मस्थान भी है। यहां जो पहले सर्वार्थक कर्मस्थान पर ध्यान कर बाद में पारिहारिय कर्मस्थान पर ध्यान करता है, उसको चार धातुओं के व्यवस्थापन बतला कर दिखायेंगे।

---

१. एक हॉल जहां बैठने की व्यवस्था हो।

२. बुद्ध, धर्म, संघ एवं बुद्ध की शिक्षा में संदेह तथा सब्रह्मचारियों के प्रति क्रोध

इस यथास्थित (जैसा है वैसा) यथा संकल्पयुक्त काय का धातुशः प्रत्यवेक्षण करता है– जो इस शरीर के बीस भागों में खुरदुरा है, कठोरता है, वह पृथ्वी धातु है; जो बारह भागों में बांधने का काम करनेवाला तेलिया पदार्थ या चिकनाई है वह जल धातु है; जो चार भागों में गर्मी भोजन को पचानेवाली गर्मी है, वह अग्निधातु है, जो छः भागों में विस्तार करती है, फैलाती है वह वायु धातु है। और जो छेद या विवर चार महाभूतों से नहीं छूआ जाता वह आकाश धातु है और जो जाननेवाला चित्त है वह विज्ञान धातु है। इसके परे न तो अन्य सत्त्व है न पुद्गल, यह केवल शुद्ध संस्कार का पुंज है।

इस प्रकार आदि मध्य और अवसान (अंत) में कर्मस्थान पर ध्यान लगाकर, समय जानकर, आसन से उठकर, चीवर पहन, पहले कहे गये की तरह भिक्षा के लिए गांव जाता है। जाते समय जैसे मूर्ख पृथकजन चलने आदि में "आत्मा जाती है, आत्मा द्वारा चलने की क्रिया पैदा हुयी है" या "मैं चलता हूं, मेरे द्वारा चलने की क्रिया उत्पन्न की गयी है" सोचकर विमूढ़ित होता है और भूल जाता है, उसी तरह विना भूले हुए 'मैं चलता हूं' यह बात जब चित्त में उत्पन्न होती है, उसी चित्त के साथ चित्त को उत्पन्न कर उसे संधारण करने के लिए वायु धातु उत्पन्न होती है। वह पृथ्वी आदि धातुओं से बने इस शरीर में रहनेवाली हड्डियों के जोड़ को फैलाती है, उसके बाद चित्तक्रिया से वायुधातु के फैलने से यह शरीर के साथ रहनेवाले जो हड्डियों के जोड़ हैं वे चलते हैं। इस प्रकार चलते हुए उसके एक-एक कदम उठाने में चारों धातुओं में वायु धातु के अनुगत (पीछे) अग्नि धातु प्रबल होती है, अन्य धातुएं मंद। लाने में, ले जाने में, हरने में अग्निधातु के अनुगत वायुधातु प्रवल होती है, अन्य धातुएं मंद। ऊपर चढ़ने में पृथ्वी धातु के अनुगत जलधातु का प्राबल्य होता है, अन्य धातुएं मंद। फेंकने में, दबाने में जलधातु के अनुगत पृथ्वी धातु प्रबल मात्रा में रहती है तथा अन्य धातुएं कम मात्रा में। इस तरह ये धातुएं अपने उत्पादक उस-उस चित्त के साथ वहीं वहीं टूट-टूट जाती हैं। तब कौन चलता है, किस एक का चलना होता है? इस प्रकार एक-एक कदम उठाने से, पादनिक्षेप से एक-एक प्रकार से उत्पन्न धातुएं तथा उनसे न ही पृथक हुए शेष रूप धर्म, उसको उत्पन्न करनेवाला चित्त और उससे संप्रयुक्त शेष अरूप धर्म– ये सभी रूपारूप धर्म हैं।

उसके बाद लाने, ले जाने आदि में अन्य पद्धति लागू नहीं होती है, वहीं-वहीं टूट-टूट जाती है अर्थात एक क्रिया में जो पद्धति लागू है, वह दूसरे में लागू नहीं होती। एक की समाप्ति के बाद ही दूसरी उत्पन्न होती है। इसलिए अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःख है और जो दुःख है वह अनात्म है। इस तरह सभी तरह से परिपूर्ण कर्मस्थान पर ध्यान करते हुए ही जाते हैं। हित की कामना करनेवाले कुलपुत्र शासन में प्रव्रजित होकर दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर या सौ भी एक साथ रहते हुए निश्चय करके (कुछ करणीय करने का दृढ़ निश्चय कर) विहार करते हैं, "आवुसो, तुम न ऋण में होने के कारण अर्थात ऋणी होने के कारण, न भय के कारण और न जीविका का साधन नहीं है इसलिए प्रव्रजित हुए हो, दुःख से छुटकारा पाने की इच्छा से प्रव्रजित हुए हो। इसलिए जाने में जो कष्ट या क्लेश उत्पन्न होता है उसे जाने में ही निग्रह करो, स्थान पर बैठने में तथा सोने में जो क्लेश उत्पन्न हो उसे जाने में उठे क्लेश की तरह ही निग्रह करो। वे इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके भिक्षाटन के लिए जाते हुए आधा उसभ[१], उसभ, आधा गावुत[२] तथा गावुत की दूरी पर पत्थर होते हैं; उन्हीं को सोचकर कर्मस्थान बना उस पर ध्यान करते जाते हैं। यदि किसी को जाने में क्लेश (कष्ट) उत्पन्न होता

१. दूरी का विशेष नाप

२.. दूरी का विशेष नाप

है, वहीं उसे (वह) निग्रह करता है। वैसा न कर सकने पर ठहर जाता है। तब उसके पीछे आनेवाला भी रुक जाता है। वह अपने को यह कह कर कि 'यह भिक्षु तुम्हारे मन में उठे वितर्क को जानता है, यह तुम्हारे योग्य नहीं है– यह तुम्हारे लिए समीचीन नहीं है' कहकर अपने पर दोषारोपण करता है और विपश्यना भावना को बढ़ाकर वहीं आर्यभूमि में प्रवेश करता है। ऐसा न कर सकने पर बैठ जाता है। तब उसके पीछे आनेवाला भी उसी की तरह बैठ जाता है। वह (फिर पहले की तरह ही अपने पर दोषारोपण करता है) वैसे ही करता है। आर्यभूमि में प्रवेश न कर सकने के कारण उस क्लेश को दबाकर, दूर कर कर्मस्थान पर ध्यान लगा कर ही जाता है। कर्मस्थान विप्रयुक्त चित्त से कदम नहीं उठाता है। यदि उठाता है तो वापस लौटकर वहीं आता है जहां पहले था सिंहलद्वीप में आलिन्दकवासी महाफुस्सदेव थेर की तरह।

उन्नीस वर्ष तक वे गत-प्रत्यागत व्रत को पूरा करते ही रहे। रास्ते में लोग हल चलाते, बीज बोते, खेत रौंदते तथा और काम करते हुए थेर को इस तरह जाते देखकर वे आपस में इस तरह की बातचीत करते कि 'यह थेर बार-बार वापस लौटकर जाते हैं, क्या यह रास्ता भूल गये हैं अथवा इनकी याददाश्त खो गयी है।' उस पर ध्यान न देकर कर्मस्थानयुक्त चित्त से श्रमणधर्म करते हुए बीस वर्ष के भीतर वे अर्हत हुए। अर्हत्व प्राप्ति के दिन उनके चंक्रमण शिखर पर रहनेवाले देवता अंगुलियों से दीप जलाकर खड़े रहे। चार महाराज[1] और देवेंद्र शक्र, सहंपति ब्रह्मा उनकी सेवा के लिए आये। उनके आने से जो प्रकाश हुआ उसको देखकर वनवासी महातिस्स थेर ने दूसरे दिन उनसे पूछा– रात में आयुष्मान के निकट प्रभूत प्रकाश हुआ, वह क्या था? थेर ने विक्षेप करते हुए (प्रश्न को टालते हुए) 'प्रकाश तो दीपक का होता है, मणि का होता है' आदि कहा। उन्होंने कहा कि 'आप छिपाते हैं'। ऐसा लगातार कहने पर उस थेर ने स्वीकार कर 'हां' कहा और सूचित किया।

और कालवल्लिमंडपवासी महानाग थेर की तरह। उन्होंने भी गत-प्रत्यागत व्रत पूरा करते हुए 'तब तक भगवान की पहले खूब प्रयत्न (प्रधान)[2] कर पूजा करूंगा' सोचकर सात वर्षों तक चंक्रमण के स्थान पर दृढ़संकल्प किया। फिर सोलह वर्षों तक गत-प्रत्यागत व्रत पूरा कर अर्हत्व प्राप्त किया। इस प्रकार कर्मस्थानयुक्त चित्त से कदम उठाते और कर्मस्थान विप्रयुक्त चित्त से यदि कदम उठाया जाता या उठ जाता तो वापस लौटकर गांव के समीप जाकर 'गाय हूं या कि प्रव्रजित हूं" ऐसा सोचकर आशंकावाली भूमि पर खड़ा होकर, संघाटी पहनकर पात्र लेकर, गांव के द्वार पर पहुंच कर कांख से लटकते पात्र से जल मुंह में भर कर गांव में प्रवेश करते और जो मनुष्य भिक्षा देने या वंदना करने आते उनको 'दीर्घायु हो' भी नहीं कहते ताकि कर्मस्थान का विक्षेप न हो। यदि कोई यह पूछता कि 'भंते, आज सप्तमी है या अष्टमी' तो पानी पीकर कहते। अगर कोई तिथि पूछनेवाला न होता तो गांव से बाहर निकलने के समय गांव के द्वार पर जल फेंक कर जाते।

सिंहल द्वीप में कलंब तीर्थ विहार में वर्षावास करने गये पचास भिक्षुओं की तरह। उन लोगों ने वर्षा ऋतु आने के पूर्व उपोसथ के दिन निश्चय किया था कि 'जव तक अर्हत्व प्राप्त न करेंगे, परस्पर

---

१. चारो दिशाओं के रक्षक देवता– पूर्वदिशा के धतरट्ठ, दक्षिण दिशा के विरूलहक, पश्चिम दिशा के विरुपक्ख और उत्तर दिशा के वेस्सवण।

२. (पधान चार तरह के होते हैं– संवर, प्रहाण, भावना और अनुरक्खण– इंद्रियों का संवर, बुरे विचारों का प्रहाण, समाधि की भावना और अपने चरित्र का अनुरक्षण)

वार्त्तालाप नहीं करेंगे'। गांव में भिक्षाटन के लिये प्रवेश करते समय गांव के द्वार पर मुंह में पानी भर लेते तब प्रवेश करते, कोई तिथि पूछता तो पानी पीकर कहते, नहीं पूछे जाने पर गांव के द्वार पर मुंह का पानी फेंक कर विहार आते। पानी फेंकने के स्थान को देखकर लोग जान जाते थे कि आज एक भिक्षु आये कि दो आये थे। इस प्रकार वे सोचते कि ये हमारे ही साथ नहीं बोलते हैं या परस्पर भी नहीं बोलते। यदि परस्पर बातचीत नहीं करते हैं तो निश्चय ही इन लोगों में झगड़ा हुआ है, हमलोगों को उनके पास जाकर इनको परस्पर क्षमा करने को कहना चाहिए। (ऐसा सोच) वे सभी विहार आये। वहां वर्षावास करनेवाले पचास भिक्षुओं में दो भिक्षु भी एक जगह पर न दिखाई पड़े। तब उनमें जो बुद्धिमान (चक्षुमान) व्यक्ति था उसने कहा, "झगड़ा करनेवालों का निवास स्थान ऐसा नहीं होता। चैत्य का आंगन तथा बोधिवृक्ष का आंगन अच्छी तरह बुहारा हुआ है, झाड़ू ठीक से रखे गये हैं, पानी के बर्तन ठीक से स्थापित हैं"। वे वहां से लौट गये। उन भिक्षुओं ने तीन महीने के भीतर विपश्यना आरंभ कर अर्हत्व प्राप्त किया और महापवारणा से विशुद्धि पवारणा किया।

इस प्रकार कालवल्लिमंडपवासी महानाग थेर की तरह और कलंब तीर्थ विहार में वर्षावास के लिए गये भिक्षुओं की तरह कर्मस्थान युक्तचित्त से कदम उठाते और गांव के निकट पहुंचकर, मुंह में जल ले, गलियों पर ध्यान देकर, जहां शराबी, नशेबाज, धूर्त्त आदि झगड़नेवाले तथा प्रचंड (भयानक) हाथी घोड़े नहीं रहते, उसी गली में जाते, आरूढ़ होते। वहां भिक्षाटन करते हुए जल्दी-जल्दी वेग से नहीं चलते, जल्दी-जल्दी वेग से भिक्षाटन करना धुतांग नहीं है। ऊबड़-खाबड़ जमीन पर चलना होता तो वैसे निश्चल होकर चलते जैसे पानी से भरी गाड़ी। घर-घर में प्रवेश कर कौन देनेवाला है कौन नहीं देनेवाला है इसका ख्यालकर उसी के अनुसार प्रतीक्षा करते और भिक्षा लेकर अनुकूल जगह पर बैठकर कर्मस्थान पर ध्यान करते हुए आहार के प्रति प्रतिकूलसंज्ञा (जुगुप्सा की भावना) जगाकर, उपस्थित कर, धूरी टूटे गाड़ी की तरह, घाव पर मरहम डालने की तरह तथा बेटे के मांस की तरह प्रत्यवेक्षण करते हुए आठ अंगों से युक्त आहार को ग्रहण करते, न क्रीड़ा के लिए, न अहंकार के लिए ...पे०... भोजन कर, हाथ-मुंह धो, मुहूर्त भर के लिए भोजन-जन्य आलस को शांत कर, भोजन करने के पूर्व जैसे ही, भोजन करने के बाद प्रथम याम और अंतिम याम में कर्मस्थान पर ध्यान करते। इसे ही **हरति चेव पच्चाहरति** कहते हैं। इस प्रकार इसको **हरण पच्चाहरण** या **गतपच्चागत** व्रत कहा जाता है।

इसको पूरा करते हुए यदि उपनिश्रय संपन्न अर्थात निर्वाण प्राप्ति के लिए आश्रय संपन्न होता है तो प्रथम वय में ही (जवानी में ही) अर्हत्व प्राप्त करता है। अगर प्रथम वय में प्राप्त नहीं करता है तो मध्यम वय में प्राप्त करता है, अगर मध्यम वय में भी प्राप्त नहीं करता तो मृत्यु के समय प्राप्त करता है। अगर मृत्यु के समय भी प्राप्त नहीं करता है तो देवपुत्र होकर प्राप्त करता है। अगर देवपुत्र होकर भी प्राप्त नहीं करता है तो प्रत्येकबुद्ध होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है, अगर प्रत्येकबुद्ध होकर भी परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करता है तब बुद्धों के निकट क्षिप्रप्रज्ञ (अभिज्ञ) होता है जैसे बाहिय थेर; महाप्रज्ञ होता है जैसे सारिपुत्त।

यह प्रत्येक बोधिसत्त्व भगवान कस्सप के शासन में प्रव्रजित हो, अरण्यविहारी हो, बीस हजार वर्षों तक इस गत-प्रत्यागत व्रत को पूरा कर, मृत्यु प्राप्त कर कामावचर देवलोक में पैदा हुए। वहां से च्युत हो वाराणसी राजा की प्रधान महिषी की कोख में प्रतिसंधि ग्रहण किया। कुशल स्त्रियां जिस दिन

गर्भ ठहरता है उसी दिन जान जाती हैं, वह राजमहिषी तो उनमें से एक थीं, इसलिए गर्भ प्रतिष्ठान की बात उन्होंने राजा से निवेदित की। यह धर्मता है कि पुण्यवान प्राणी के गर्भ में आने से स्त्री गर्भ संरक्षण प्राप्त करती है। इसलिए राजा ने उनके गर्भ का संरक्षण दिया। उसके बाद उसे न तो कोई चीज अत्यंत गर्म खाने को दी जाती थी, न अत्यंत ठंढी, न अधिक खट्टी, न अधिक नमकीन, न अधिक कड़वी, न अधिक तीता। माता द्वारा अत्यंत गर्म चीज खा लेने पर उसके गर्भ का वास वैसा होता है जैसे लौह कुंभी नरक में वास, अत्यधिक ठंढी वस्तु खा लेने पर गर्भ का वास वैसा होता है जैसे निरय का वास; अत्यंत खट्टी, नमकीन, कड़वी तथा तीता खा लेने पर गर्भस्थ शिशु के अंगों में तीव्र संवेदनाएं वैसी होती हैं, जैसे शस्त्र द्वारा चीरे गये अंगों को खटाई आदि रसों से सींचने पर होती हैं। गर्भस्थ शिशु के पेट में संचलन से दर्द न हो इसके लिए उन्हें अधिक चंक्रमण करने, बैठने, और सोने से मना करती है। कोमल भूमि पर बिछाये गये कोमल अस्तरण पर मात्रा भर चंक्रमण करने को मिलता है और वर्णगंध संपन्न सुस्वादु एवं लाभप्रद अन्न-जल प्राप्त होता है। पकड़कर उन्हें चंक्रमण करवाया जाता है, बैठाया तथा उठाया जाता है।

इस प्रकार संभाली जाती हुई उन्होंने प्रसव काल में प्रसूतिगृह में प्रवेश किया और प्रत्यूषकाल में पुत्र को जन्म दिया, वैसे पुत्र को जो पके तेल से मर्दित मनोशिलापिंड[१] के समान था और सौभाग्य तथा पुण्य लक्षणों से समुपेत (युक्त) था। पांचवें दिन उसको अलंकार आदि पहना, तैयार कर राजा को दिखाया गया। राजा संतुष्ट हुए और छियासठ दाइयों को सेवा में उपस्थित किया। सभी संपत्तियों को प्राप्त करते बढ़ते हुए शीघ्र ही वे बालिग हुए। सोलह वर्ष के होने पर राजा ने उसे राज्य के लिए अभिषेक किया और उसके लिए नाना प्रकार के नाटकों को उपस्थित किया। ब्रह्मदत्त नामक अभिषिक्त राजकुमार पूरे जंबुद्वीप के बीस हजार नगरों पर राज्य करते थे। जंबुद्वीप में पहले चौरासी हजार नगर थे। उनके ध्वंस होने पर साठ बचे, फिर कुछ और के ध्वंस होने पर चालीस बचे। सब के ध्वंस होने के समय बीस बचे। ये ब्रह्मदत्त उस समय पैदा हुए जिस समय इसका अवनति-काल था। इसलिए उसके पास बीस हजार नगर थे, बीस हजार प्रासाद थे, बीस हजार हाथी, बीस हजार घोड़े, बीस हजार रथ, बीस हजार पैदल, बीस हजार स्त्रियां जिनमें रनिवास की स्त्रियां तथा नृत्य कुमारियां शामिल थीं और बीस हजार अमात्य थे। महाराज्य करते हुए ही चित्त एकाग्र करने की साधना की व्यवस्था कर पांच अभिज्ञाओं और आठ समापत्तियों को प्राप्त किया। चूंकि अभिषिक्त राजा को न्यायालय में न्याय करने के लिए अवश्य बैठना चाहिए, इसलिए एक दिन सबेरे नाश्ता कर न्याय करने के स्थान पर जा बैठे। वहां बड़ा हल्ला, भारी शोरगुल हो रहा था। 'यह हल्ला ध्यान समापत्ति के लिए उपक्लेश है'– ऐसा सोचकर वे प्रासाद के उपरी तले पर चढ़े और वहां यह सोचकर बैठे कि 'समापत्ति (ध्यान) प्राप्त करूंगा' पर ध्यान नहीं कर सके। राज्य के विक्षेप से समाधि (समापत्ति) परिहीन हो गयी। तब उन्होंने चिंतन किया कि 'राज्य श्रेष्ठ है अथवा श्रमणधर्म'। तब यह जानकर कि "राज्यसुख थोड़ा है, इसमें अनेक खतरे हैं, श्रमण धर्म का सुख बड़ा है, इसके बड़े लाभ हैं और यह उत्तम पुरुष द्वारा सेवित है" किसी अमात्य को आज्ञा दी कि 'इस राज्य का धर्म से और समभाव से शासन करो, अधर्म मत करो' ऐसा कह कर और सब कुछ समर्पित कर (देकर) प्रासाद पर चढ़ ध्यानसुख से विहार करते। उनके पास कोई नहीं जाता, सिर्फ मुख धोने के लिए दंतवन देने तथा भोजन ले जानेवाले को छोड़कर।

---

१. लाल संखिया (arsenic) का पिंड

मात्र आधा महीना ही बीता था कि राजमहिषी ने पूछा, 'राजा न तो उद्यान जाते हैं, न सैनिक-शक्ति देखने जाते हैं और न जहां नाटक होता है वहां दिखाई पड़ते हैं, कहां गये हैं'? उनको इस बारे में कहा गया। उन्होंने अमात्य को बुलवाया। 'राज्य के ग्रहण करने पर मुझे भी ग्रहण किया गया है अर्थात तुमने राज्य करना स्वीकार किया है तो मुझे भी स्वीकारो, आओ मेरे साथ रहो'। अमात्य ने सुनते ही दोनों कान बंद कर लिए और 'यह मेरे लिए सुनने योग्य नहीं है' कहकर प्रतिक्षेप (निषेध) किया। राजमहिषी ने फिर दो तीन बार बुलवाया और उसकी अनिच्छा देखकर धमकाया, 'यदि मेरा कहा नहीं करोगे अर्थात मेरे साथ नहीं रहोगे, तो पद से तुम्हें च्युत तो करूंगी ही, तुम्हें अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ेगा'। वह डर गया और यह सोचकर कि 'स्त्री का नाम ही दृढ़ निश्चय है, कभी ऐसा भी करवा सकती है' एक दिन वह चुपचाप, गुप्तरूप से गया और राजमहिषी के साथ राजकीय शय्या पर उनके शयन कक्ष में सहवास किया। वह पुण्यवती थी और उनका स्पर्श सुखद था, अतः वह (आमत्य) उसके स्पर्शराग से अनुरक्त हो वहां पहले बार-बार शंकित होकर ही जाता। क्रमशः अपने घर के मालिक की तरह निःशंक प्रवेश करने लगा।

बाद में राजा के लोगों ने इस घटना को राजा से कहा। राजा ने विश्वास नहीं किया। दूसरी बार, तीसरी बार भी कहा। तब राजा ने छिपकर स्वयं देखा और सभी अमात्यों का सम्मेलन बुलवा कर कहा। उन अमात्यों ने कहा, "यह राजा का अपराधी है, इसकी सजा है कि इसका हाथ-पांव काटा जाय और जब तक इसे सूली पर मृत्युदंड के लिए न चढ़ाया जाय, तब तक इसको शारीरिक दंड भी दिया जाय"– ऐसी राय दी। राजा ने कहा, "इसको वध करने से, बांधने से, सजा देने से मुझे कष्ट होगा, मारने से हिंसा होगी, इसका धन ले लेने से अदत्तदान होगा अर्थात चोरी होगी। छोड़ो, ऐसा मत करो, इसे मेरे राज्य से निकाल दो।" अमात्यों ने उसे राज्य से निकाल दिया। तब आवश्यक धन और पुत्र एवं पत्नी को लेकर वह दूसरे प्रदेश में गया। वहां के राजा ने सुना तो पूछा, 'किसलिए आये हो'? 'देव, मैं आपकी सेवा करना चाहता हूं।' राजा ने स्वीकृति दी। कुछ दिन बीतने पर जब अमात्य ने राजा का विश्वास प्राप्त कर लिया तो राजा से कहा, 'महाराज, बिना मधुमक्खी का मधु देख रहा हूं, उसको खानेवाला कोई नहीं है।' राजा ने कहा 'यह क्या मजाक की बात करते हो' और उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। कुछ समय के बाद फिर अच्छी तरह से वर्णन कर कहा। राजा ने पूछा, 'यह क्या है'? 'देव, वाराणसी राज्य।' राजा ने कहा, 'मुझको ले जाकर मरवाना चाहते हो?' उसने कहा, 'नहीं देव, ऐसा मत कहिये, यदि विश्वास न हो तो अपने आदमियों को भेजिये।'

राजा ने आदमियों को भेजा। वे वहां गये और द्वार खोदकर राजा के शयनकक्ष में खड़े हुए।

राजा ने देखा और पूछा, 'किसलिए आये हो'? 'महाराज, हम चोर हैं।' राजा ने उन लोगों को धन दिलवा कर 'फिर ऐसा मत करना' उपदेश देकर भेज दिया। उन्होंने आकर राजा से यह बात कही। उन्होंने दो-तीन बार उसी प्रकार मीमांसा कर (परीक्षण कर) 'राजा शीलवान है' और चतुरंगिनी सेना तैयार कर राज्य की सीमा पर बसे एक नगर में जाकर वहां के एक अमात्य को बुलवाया और कहा 'या तो नगर दो या युद्ध करो।' उस अमात्य ने इस विषय में ब्रह्मदत्त को कहवाया, "आज्ञा दें, देव, कि 'युद्ध करें अथवा नगर दे दें।" राजा ने यह सूचना भिजवायी– 'युद्ध नहीं करना है, नगर देकर यहां आ जाओ।' उसने ऐसा ही किया। चढ़ाई करनेवाले राजा ने नगर लेकर अवशेष नगरों में भी इसी प्रकार

दूत भिजवाया। उन अमात्यों ने भी ब्रह्मदत्त को ऐसा कहा। राजा ने यह कहा कि 'युद्ध नहीं करना है, यहां आ जाओ।' और वे वाराणसी आये।

तब अमात्यों ने ब्रह्मदत्त से कहा– 'महाराज, उसके साथ हमलोग युद्ध करेंगे।' राजा ने यह कह कर कि 'मुझे हिंसा होगी' मना किया। अमात्यों ने कहा– 'महाराज, उसको जिंदा पकड़कर यहां लायेंगे' (इस तरह) नाना उपायों से राजा को समझाकर 'महाराज, आप आयें' कहा और वे जाने लगे। राजा ने कहा, 'यदि जीव हत्या करने का, अपहरण तथा लूटपाट करने का काम न करो तो चलता हूं।' अमात्यों ने कहा, 'देव, न करेंगे, भय दिखाकर भगा देंगे।' और चतुरंगिनी सेना तैयार कर, घड़ों में जला दीप रखकर रात में गये।

प्रतिराजा (शत्रु राजा) उस दिन वाराणसी के निकट नगर लेकर 'अब क्या होगा' सोचकर, रात में कवच खुलवाकर सेना सहित प्रमत्त हो सो गया।

इसके बाद अमात्यों ने वाराणसी राजा को लेकर प्रतिराजा की छावनी में जाकर सभी घड़ों से दीपों को निकालकर उनकी रोशनी में सेना का शोर किया अर्थात सेना द्वारा आक्रमण का शोर किया। प्रतिराजा का अमात्य बड़ी सैन्यशक्ति देखकर डर गया और अपने राजा के पास जाकर 'उठिये, मधुमक्खी रहित मधु खाइये' कहकर बहुत शोर किया। वैसे ही दूसरे ने तथा तीसरे ने भी किया। प्रतिराजा उनके द्वारा किये शोर से जाग गया और भय और संत्रास से भर गया। सौ बार तक यह शोर जारी रहा। 'दूसरे की बात पर विश्वास कर शत्रु के हाथ पड़ गया' सोचकर वह पूरी रात उसी बात पर विलाप कर, दूसरे दिन यह सोचकर कि 'राजा धार्मिक है, बाधा नहीं डालेंगे, जाकर क्षमा मांग लूंगा', राजा के पास जाकर धरती पर घुटना टेक कर कहा 'हे महाराज, मेरे अपराध को क्षमा करें'। राजा ने उसको उपदेश देकर कहा, 'उठो, तुम्हें क्षमा करता हूं।' राजा के ऐसा बोलने मात्र से ही प्रतिराजा परम आश्वस्त हुआ। वाराणसी राजा के निकट ही जो जनपद था उसमें उसको राज्य मिला। वे परस्पर मित्र हुए।

तब ब्रह्मदत्त ने दोनों सेनाओं को प्रसन्न हो एक साथ रहते देखकर– "एक मेरे मन की बात को रखने के लिए इस जन समूह में मक्खी को पीने भर के लिए भी एक बूंद खून नहीं बहा। 'साधु, साधु, बड़ा अच्छा, सभी प्राणी सुखी हों, निर्वैर हों, द्वेष रहित हों' ऐसा कहकर राजा ने मेत्ता (मैत्री) ध्यान उत्पन्न किया" और उसी को आधार बनाकर संस्कारों को समझकर, प्रत्येक बोधिज्ञान का साक्षात्कार किया और स्वयंभू बने। मार्ग तथा फल सुख से सुखी हो हाथी पर बैठे। उनको अमात्यों ने प्रणाम कर कहा, 'महाराज, चलने का समय है, जीतनेवाली सेना का सत्कार करना है और हारनेवाली सेना को खाने का खर्च देना है।' उन्होंने कहा– 'भणे, मै राजा नहीं हूं, मेरा नाम प्रत्येकबुद्ध है।' 'देव, क्या कहते हैं, प्रत्येकबुद्ध ऐसे नहीं होते हैं।' 'भणे, प्रत्येकबुद्ध कैसे होते हैं?'

प्रत्येकबुद्ध के सिर के बाल तथा दाढ़ी के बाल दो अंगुल के होते हैं और वे आठ परिष्कारों[१] से युक्त होते हैं। उन्होंने दाहिने हाथ से माथा छुआ, उसी समय गृहस्थ का वेष लुप्त हो गया, प्रव्रजित वेष

१. आठ परिष्कार हैं:– चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्यय (औषधि), उस्तरा, सूई, कमरबंद और जलछक्का। एक और तरह से आठ परिष्कार हैं– तीन चीवर, पात्र, उस्तुरा, सूई, कमरबंद और जलछक्का].

का आविर्भाव हुआ। दो अंगुल केश दाढ़ीवाला होकर आठ परिस्कारों से समन्वागत सौ वर्ष के थेर के समान वे हो गये। चौथा ध्यान समापत्ति करके हाथी की पीठ पर से वे आकाश गये और पद्मफूल पर बैठे। अमात्यों ने वंदना कर पूछा, 'भंते, कर्मस्थान क्या है? कैसे प्राप्त किया?'

चूंकि उनका कर्मस्थान मेत्ताध्यान हुआ जिसको विपश्यना कर उन्होंने पाया था, इसलिए उसके अर्थ को दर्शाते हुए उदान गाथा एवं उसके व्याख्या स्वरूप यह गाथा कही– **सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डन्ति।**

३५. सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, अविहेठयं अञ्ञतरम्पि तेसं।
न पुत्तमिच्छेय्य कुतो सहायं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"सभी प्राणियों के प्रति हिंसा का भाव छोड़कर, उनमें से किसी एक को भी बिना कष्ट दिये, पुत्र की भी इच्छा न करे, सहायक और मित्र की इच्छा करना तो दूर की बात है, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

सब्बेसु– सबों में, अनवशेषों में,

भूतेसु– प्राणियों में,

यह यहां संक्षेप है, इसको विस्तार से रतनसुत्त में कहेंगे।

निधाय– एक ओर रख कर, फेंक कर।

दण्डं– कायिक, वाचसिक और मानसिक दंड, ये कायिक, वाचसिक तथा मानसिक दुष्कर्मों के पर्याय हैं।

कायिक दुष्कर्म करनेवाले को दंड देता है– यह दंड है। बाधा डालता है, दुःख तकलीफ में डालता है– यह कहा गया है। इस प्रकार वाचसिक तथा मानसिक दुष्कर्म करनेवालों को भी। प्रहार करनेवाली लकड़ी ही लाठी है, उसको एक ओर रख कर– यह कहा गया है।

अविहेठयं– कष्ट न देते हुए।

अञ्ञतरम्पि– किसी एक को।

तेसं– उन सभी प्राणियों में।

न पुत्तमिच्छेय्य– अत्रज, क्षेत्रज, दत्तक और शिष्य (अंतेवासी)– इन चारों प्रकार के पुत्रों में से किसी भी पुत्र की इच्छा न करे।

कुतो सहायं– इनके लिए सहायक[१] की इच्छा करना तो दूर की बात है।

एको– प्रव्रजित होने से अकेले, दूसरे के साथ न होने से अकेले, तृष्णा का प्रहाण कर लेने से अकेले (क्योंकि तृष्णा को मनुष्य का साथी कहा गया है), क्लेश को पूरी तरह शेष कर देने से अकेले, प्रत्येकसंबोधि को प्राप्त कर अभिसंबुद्ध हो जाने से अकेले।

---

१. चूल निद्देश पालि पृ० २९० से पता चलता है कि मित्र के दो और पर्यायवाची शब्द हैं सन्दिट्ठ और सम्भत्त। मेरे विचार से 'सम्भत्त' 'सन्दिट्ठ' से घनिष्ठ ((गाढ़ा) मित्र है। 'सन्दिट्ठ' से मुलाकात भर होती है। 'सम्भत्त' से लगता है दोनों एक साथ भोजन भी करते थे।

हजारों श्रमणों के बीच रहनेवाले गृहीसंयोजन को छिन्न करने के कारण अकेले– इस प्रकार प्रव्रजित होने से अकेले ।

अकेले खड़ा रहता है, अकेले जाता है, अकेले बैठता है, अकेले सोता है, अकेले घूमता-फिरता है– इस प्रकार बिना किसी के साथ होने से, अकेले होने से, अकेले।

"तृष्णा द्वितीय पुरुष है, मनुष्य का सहचर है, भवचक्र में संसरण करानेवाला साथी है, चाहे लौकिक स्थिति हो या किसी दूसरे लोक की स्थिति अर्थात इस जन्म की या दूसरे जन्म की स्थिति हो– इसके ही कारण संसार या भवचक्र अतिक्रमित नहीं हो पाता अर्थात जब तक तृष्णा है संसार या भवचक्र का अतिक्रमण नहीं होता।

इस प्रकार तृष्णा को दुःख की उत्पत्ति का कारण समझ कर, इसको खतरा जानकर स्मृतिमान भिक्षु वीततृष्ण तथा आसक्ति रहित हो विचरण करे" (इतिवु० १५, १०५; महानि० १९१; चूळनि० पारायनानुगीतिगाथानिद्देस १०७)।

इस प्रकार **तण्हापहानट्ठेन–** तृष्णा को प्रहाण करने के अर्थ में अकेले। सभी क्लेशों को प्रहीण कर, समूलोच्छेद कर, जैसे ताड़ वृक्ष को काटा जाता है, ऐसा काटा जाता है ताकि भविष्य में फिर से बढ़ न सके, वृद्धि न पा सके, इस प्रकार **एकन्तविगतकिलेसो–** विगतक्लेश या वीतक्लेश होने से अकेले। बिना आचार्य के स्वयंभू हो स्वयं प्रत्येकसंबोधि को अभिसंबोध (पूर्ण ज्ञान प्राप्त) करने के कारण **एको पच्चेकसम्बोधिं अभिसम्बुद्धो**ति**–** अकेले।

चरेति– आठ प्रकार की चर्यायें (आचरण) जैसे– दृढ़ आकांक्षा संपन्न व्यक्तियों का चार ईर्यापथों में (चलने, खड़ा होने, बैठने तथा सोने में) आचरण, संयतेन्द्रियों का आध्यात्मिक (आंतरिक) आयतनों में आयतन आचरण, अप्रमत्त व्यक्तियों का चार सम्यक स्मृतिप्रस्थानों में स्मृति आचरण, समाधि में लगे व्यक्तियों का चार समाधियों में समाधि आचरण, बुद्धि संपन्न व्यक्तियों का चार आर्य सत्यों में ज्ञान आचरण, चार आर्य मार्ग पर सम्यक रूप से चलनेवाले (प्रतिपन्न) व्यक्तियों का (लोकोत्तर मार्गों में) मार्ग आचरण, फलप्राप्त व्यक्तियों का चार श्रामण्य फलों में प्राप्त आचरण; पार उतरे (उत्तीर्ण) बुद्धों का सभी प्राणियों के प्रति लोकार्थ आचरण; उसी अनुपात में प्रत्येकबुद्धों का, श्रावकों का आचरण जैसे कहा गया है– "आचरण आठ हैं (पटि० म० १.१९७; ३.२८) (अंग संचालन के आचरण जैसे चलने में, खड़े होने में, बैठने में और सोने में)– उन आचरणों से समन्वागत होवे– यह अर्थ है। अथवा ये दूसरे आठ प्रकार के आचरण कहे गये हैं जैसे दृढ़संकल्प करते हुए श्रद्धा से आचरण करता है; शक्ति (सामर्थ्य) लगाकर धारण करते हुए आचरण करता है; सेवा करते हुए सावधानीपूर्वक देखते हुए स्मृति से आचरण करता है; ध्यान से, समाधि से बिना विक्षेप किये आचरण करता है; प्रज्ञा से अच्छी तरह जान कर आचरण करता है; विज्ञान से विशेष रूप से जानते हुए आचरण करता है इस प्रकार मार्गारूढ़ होनेवाले के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अतः वे कुशल धर्म में रह आचरण करते हैं। इस प्रकार मार्गारूढ़ हो विशेष को प्राप्त करते हैं (पटि० म० १.९९७; ३.२९) इस प्रकार और भी आठ प्रकार की चर्यायें कही गयीं हैं, उनसे भी समन्वागत होवें– यह अर्थ है।

खग्गविसाणकप्पो– यहां खग्गविषाण कहते हैं खड्गमृग (गैंड़े) के सींग को। 'कप्प' शब्द का अर्थ विस्तार से मङ्गलसुत्तवर्णना में करेंगे। यहां इसका तात्पर्य समान या जैसा है जैसे "शास्ता के समान ही

श्रावकों के साथ भी विचार-विमर्श (मंत्रणा) करना चाहिए” (म० नि० १.२६०) आदि में ‘मुकाबले का’ समान एकरूप समझना चाहिए।

खग्गविसाणकप्पो– गैंडे के सींग की तरह कहा गया है। यहां पद के अनुसार यही अर्थवर्णना है, व्याख्या है।

अभिप्राय दिखाने के लिए इस प्रकार जानना चाहिए– कहे गये प्रकार का शस्त्र जो प्राणियों पर उठाये जाने से उनके हित के लिए नहीं होता, उस शस्त्र को उन पर न उठाकर उसके प्रतिपक्षी मेत्ता भावना को दूसरों की भलाई के लिए बढ़ाना, पुंज बनाना। **सब्बेसु भूतेसु निधाय दंडं–** सभी प्राणियों के प्रति हिंसा-भाव छोड़कर, यही निहितदंडता है, शस्त्र को एक ओर फेंकने के फलस्वरूप होता है। जिस तरह मनुष्य जिन्होंने शस्त्र को एक ओर न फेंका है, प्राणियों को लाठी से या शस्त्र से या हाथ से या ढेला से मारते हैं, कष्ट पहुंचाते हैं, उसी तरह वे उनमें से किसी को कष्ट न पहुंचाते हैं। इस मेत्ता कर्मस्थान को प्राप्तकर जब जैसी वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान होते उस समय उनके अनुसार तथा उस समय भी जब दूसरे संस्कार आते तो उसकी विपश्यना कर इस प्रत्येकबोधि को प्राप्त किया– यही अभिप्राय है।

यह संबंध है– ऐसा कहे जाने पर उन अमात्यों ने कहा– ‘अब, भंते, कहां जा रहे हैं?’ तब उन्होंने यह ध्यान कर कि ‘पहले के प्रत्येकबुद्ध कहां रहते हैं’ और यह जानकर कहा कि ‘गंधमादन पर्वत पर’। ऐसा कहे जाने पर फिर उन अमात्यों ने कहा, ‘भंते, हमलोगों को त्याग रहे हैं, साथ में रखने की इच्छा नहीं करते हैं।’ तब प्रत्येकबुद्ध ने– पुत्र की भी इच्छा न करे, से प्रारंभ कर और सब बातें कहीं। उसका यह अभिप्राय है– मैं अब अत्रज आदि पुत्र की भी इच्छा नहीं करता हूं, तुम्हारे जैसे मित्रों की इच्छा क्यों करूंगा? इसलिए तुममें से जो मेरे साथ जाना चाहते हो या मेरे जैसा होना चाहते हो, वह गैंडे के सींग की तरह अकेला विहार करे। अथवा उनके द्वारा यह कहे जाने पर कि ‘भंते, हमलोगों को त्याग रहे हैं, साथ में रखने की इच्छा नहीं करते हैं’ उस प्रत्येकबुद्ध ने ‘पुत्र की भी इच्छा न करे, मित्र की बात तो दूर रहे’ कहा और कहे गये अर्थ से अपने अकेले विचरण करने में गुण देखकर प्रमुदित हुए, प्रीति और सौमनस्य से भर उठे और यह उदान कहा– ‘गैंडे के सींग की तरह अकेला विहार करे।’ ऐसा कह कर जनसमुदाय के देखते-देखते आकाश में उड़कर अर्थात आकाश मार्ग से गंधमादन चले गये।

गंधमादन हिमालय के सात पर्वतों जैसे चूलकालपर्वत, महाकालपर्वत, नागपलिवेठन, चंद्रगर्भ, सूर्यगर्भ, स्वर्णपार्श्वपर्वत तथा हिमवंत पर्वतों से भी बड़ा है। वहां नंदमूलक नामक पर्वत की ढलान पर प्रत्येकबुद्धों का निवास स्थान है जहां सुवर्ण गुफा, मणि गुफा तथा रजत गुफा नामक तीन गुफायें हैं। वहां मणिगुफा के द्वार पर मंजूषक नाम का वृक्ष है जो एक योजन ऊंचा तथा एक योजन चौड़ा है। पृथ्वी पर तथा जल में जितने भी प्रकार के फूल हैं, वे सभी वहां खिलते हैं, विशेष कर प्रत्येकबुद्ध के आगमन दिवस पर। उसके ऊपर सर्वरतन नामक आंगन है। वहां झाड़ू देनेवाली हवा बह कर कचरा फेंकती है, समतल करनेवाली हवा सर्वरत्नमय बालू को समतल करती है, सींचनेवाली हवा अनोतत्त दह से जल लाकर सींचती है, सुगंधित करनेवाली हवा हिमालय से सभी सुगंधित वृक्षों से गंध लाती है, पुष्प चुननेवाली हवा फूलों को चुनकर गिराती है और फैलानेवाली हवा उन्हें सर्वत्र फैलाती है। सब समय वहां आसन प्रज्ञप्त अर्थात बिछा ही रहता है जिन पर प्रत्येकबुद्ध के जन्म के दिन तथा उपोसथ के दिन सभी

प्रत्येकबुद्ध एकत्र हो, सम्मिलित हो बैठते हैं। यही वहां की प्रकृति है। जिस प्रत्येकबुद्ध ने अभिसंबोधि प्राप्त कर ली है, वे वहीं जाकर प्रज्ञप्त आसन पर बैठते हैं। तब यदि उस समय और भी प्रत्येकबुद्ध वहां विद्यमान रहते हैं तो वे भी उसी समय वहां सम्मिलित होते हैं और प्रज्ञप्त आसनों पर बैठते हैं। बैठकर वे थोड़ी देर तक ध्यान करते हैं और उठते हैं। तब संघ के थेर नये आये प्रत्येकबुद्ध से सबों के अनुमोदन के लिए कर्मस्थान के बारे में यह पूछते हैं कि "कैसे 'अभिसंबोधि' प्राप्त की?" उस समय वे वही अपनी उल्लासपूर्ण भावव्यक्त करनेवाली गाथा कहते हैं। फिर आनंद द्वारा पूछे जाने पर भगवान बुद्ध भी वही गाथा कहते हैं, आनंद भी (प्रथम) संगीति में वही गाथा कहते हैं। इस तरह एक-एक गाथा प्रत्येकबुद्ध द्वारा अभिसंबोधि प्राप्त करने पर, मंजूषक नामक आंगन में, (जहां प्रत्येकबुद्ध एकत्र होते हैं) आनंद के पूछने पर भगवान द्वारा और संगीति के समय आनंद द्वारा चार बार कही जाती है।

३६. संसग्गजातस्स भवन्ति स्नेहा, स्नेहन्वयं दुक्खमिदं पहोति।
आदीनवं स्नेहजं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"संसर्ग से स्नेह की उत्पत्ति होती है और स्नेह से दुःख उत्पन्न होता है। स्नेह से उत्पन्न खतरे को देखकर गैंडे के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

संसग्गजातस्स से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? ये प्रत्येकबुद्ध भी भगवान कस्सप के शासन में बीस हजार वर्षों तक पूर्व में कहे गये की तरह श्रमण धर्म करते हुए, दस कसिणों में से किसी एक पर ध्यान भावना की तैयारी कर (वे क्रियाएं कर जिनसे ध्यान लगता है, उत्पन्न होता है), प्रथम ध्यान उत्पन्न कर, नाम और रूप का व्यवस्थापन कर अर्थात दोनों में अंतर समझ, धर्म के लक्षणों जैसे अनित्य, दुःख और अनात्म पर ध्यान कर आर्यमार्ग को न प्राप्तकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत हो वे वाराणसी राजा की प्रधान महिषी की कोख से पैदा हो पूर्व में कहे गये की तरह बढ़ते हुए इस अवस्था तक पहुंचे जहां उन्हें यह विशेष ज्ञान हुआ कि स्त्री और पुरुष में क्या भेद है। इस कारण उनको स्त्रियों के हाथ का स्पर्श आनंदित नहीं करता, उन्हें नहीं सुहाता, वे यदि उनके शरीर को रगड़तीं, उन्हें नहलातीं या उनका शृंगार करतीं तो वे सहन नहीं कर सकते थे। उनको पुरुष के समान होकर वे पालन पोषण करतीं, स्तनपान कराते समय दाइयां, कञ्चुकी (कवच) धारणकर पुरुष वेष में स्तनपान करातीं। स्त्री की गंध सूंघ कर या उनकी आवाज सुनकर वे रोने लगते। जब वयस्क हुए तब भी स्त्रियों को देखने की इच्छा नहीं करते। इस कारण उनको लोग **'अनित्थिगन्धो'** (जिसको स्त्री की गंध पसंद नहीं) कहने लगे।

जब सोलह वर्ष के हुए तो राजा ने सोचा कि 'कुलवंश स्थापित करूंगा अर्थात वंश को आगे बढ़ाऊंगा', इसलिए विभिन्न कुलों से उनके अनुरूप कन्याओं को लाया गया और एक अमात्य को आज्ञा दी कि 'राजकुमार को रमण करवाओ' अर्थात ऐसी व्यवस्था करो कि राजकुमार आनंदित हों रमण करें। उनको उपाय से आनंदित कराने की इच्छा से, रमण कराने की इच्छा से, अमात्य ने उनके निकट परदा डलवा कर नाटकों की तैयारी करवायी। कुमार ने गीत सुनकर तथा बाजे की आवाज सुनकर पूछा 'यह किसकी आवाज है?' अमात्य ने कहा, 'देव, यह नर्त्तकियों की आवाज है, पुण्यवान लोगों के लिए ही ऐसे नाटक होते हैं, देव, आप अभिरमण करें, आनंद मनावें, आप महापुण्यवान हैं।' कुमार ने

अमात्य को लाठी से पिटवाकर निकलवा दिया। उसने राजा को (इस बात की) सूचना दी। राजा कुमार की माता के साथ गये, कुमार को क्षमा किया और पुनः अमात्य को (वैसा ही करने की) आज्ञा दी। उससे अत्यंत पीड़ित हो कुमार ने स्वर्णकारों को शुद्ध सोना देकर आज्ञा दी कि, 'इससे सुंदर स्त्री रूप का निर्माण करो, अर्थात स्त्री की सुंदर मूर्ति बनाओ।' उन लोगों ने विश्वकर्मा के समान सभी अलंकारों से विभूषित स्त्री रूप निर्मित कर (कुमार को) दिखलाया। कुमार ने देखा और विस्मय से माथा हिलाकर माता-पिता को बुलवाया और कहा, 'यदि ऐसी स्त्री मिलेगी तो मैं ग्रहण करूंगा' अर्थात विवाह करूंगा। माता-पिता ने सोचा, 'हमारा पुत्र महापुण्यवान है, अवश्य ही इसके साथ कृतपुण्य। कोई कन्या लोक में उत्पन्न हुई होगी ही।' और उस स्वर्णप्रतिमा को रथ पर रखकर अमात्यों को आज्ञा दी, 'जाओ और ऐसी कन्या खोजो।' वे उस स्वर्णप्रतिमा को लेकर सोलह महाजनपदों में विचरते हुए, वहां के गांव-गांव में जाकर जहां-जहां नदी तालाब आदि के घाट होते और जहां जनसमूह देखते वहां-वहां उस स्वर्णप्रतिमा को देवता की तरह रखकर नाना प्रकार के फूलों, वस्त्रों तथा आभूषणों से पूजाकर, वितान (चंदोवा) बंधवाते और एक ओर ठहर कर यह सोचते कि, 'यदि किसी ने इस तरह की कन्या पहले देखी हो तो वह जरूर बात चलायगा।' इस उपाय से उन लोगों ने मद्दराष्ट्र को छोड़ अन्य सभी राष्ट्रों में छान मारा और मद्दराष्ट्र को छोटा समझ, अवज्ञा करते हुए पहले तो वहां न जाकर लौट गये।

तब उन लोगों को ऐसा हुआ, 'मद्दराष्ट्र भी हमलोग जायंगे, नहीं जायंगे तो वाराणसी पहुंचने पर राजा फिर हमलोगों को भेजेंगे।' वे लोग मद्दराष्ट्र के सागल नगर पहुंचे। सागल नगर में मद्द नामक राजा थे। उनकी सोलह वर्षीया कन्या बड़ी ही सुंदर थी। सुंदर दासियां उसके स्नान के लिए जल लाने के लिए घाट पर गयीं तो अमात्यों द्वारा रखी गयी स्वर्ण प्रतिमा को दूर से देख कर उनलोगों ने कहा– 'हमलोगों को स्नान के लिए जल लाने भेजकर राजकन्या (यहां) स्वयं आ गयीं हैं।' ऐसा बोलते हुए जब वे निकट गईं तो कहा, 'यह स्वामिनी नहीं है, हमारी स्वामिनी तो इससे भी सुंदर है।' अमात्यों ने सुना। वे राजा के पास गये और अनुकूल उपाय से कन्या की मांग की। राजा ने कन्या दे दी। उसके बाद उन लोगों ने वाराणसी के राजा को यह खबर भिजवायी कि 'कन्या मिल गयी है, स्वयं आयंगे अथवा हमलोग ले जायंगे।' राजा ने सूचना भिजवायी 'मेरे जाने से जनपद को कष्ट होगा, तुम्हीं लोग ले आओ।'

अमात्यों ने कन्या अपने साथ ली और नगर से बाहर निकलकर कुमार को यह सूचना भिजवायी कि 'स्वर्णरूप सदृश कन्या मिल गयी है।' कुमार ने जब यह सुना तो वे राग से अभिभूत हो गये और उनका प्रथम ध्यान नष्ट हो गया। उन्होंने कई दूतों को दूत परंपरा बनाकर उसे शीघ्र लाने के लिए भेजा। वे सभी एक ही रात में वाराणसी पहुंच कर नगर के बाहर ही ठहरे और राजा को सूचना भिजवायी, 'आज प्रवेश करना चाहिए या नहीं।' राजा ने आज्ञा दी, 'श्रेष्ठकुल से कन्या लायी गयी है, मंगल क्रिया करके महान सत्कार से उसे प्रवेश करवायेंगे, तब तक उसे उद्यान में ले जाओ।' उन लोगो ने वैसा ही किया। वह अत्यंत सुकुमारी थी। अतः सवारी से झटका खाकर तथा रास्ते की थकावट से उत्पन्न वातरोग से मुरझाये हुए माला की तरह रात में ही मर गयी। अमात्यों ने यह कह कर विलाप किया कि 'सत्कार करने से हमलोग परिभ्रष्ट हो गये, पतित हो गये।' (अर्थात सत्कार करने की इच्छा के कारण ही हम गलियाये गये, डांटे गये और हमें नुकसान उठाना पड़ा।) राजा तथा नगरवासी यह कहकर विलाप करने लगे कि 'कुल का नाश हो गया।' नगर में भारी कोलाहल हुआ। कुमार को सुनते ही बड़ा दुःख हुआ। तब कुमार ने शोक का मूल कारण खोजना प्रारंभ किया। उन्होंने सोचा– 'शोक अजात (नहीं

जन्म लेनेवाले) को नहीं होता, जात (जन्म लेनेवाले) को होता है अर्थात जो जन्म लेता है उसे होता है अजन्मा को नहीं। इसलिए जन्म ही शोक का कारण है।' 'जन्म का कारण क्या है? उसके बाद 'भव के कारण जन्म होता है'– इस प्रकार पूर्व में किये गये ध्यान भावना के प्रताप से यथार्थ ढंग से विचार करते हुए अनुलोम तथा प्रतिलोम क्रम से प्रतीत्यसमुत्पाद को देखकर संस्कारों को देखकर उन्होंने वहीं बैठे-बैठे प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। उनको मार्गफल सुख से सुखी, संयतेन्द्रिय, शांत मन से बैठे देखकर अमात्यों ने प्रणिपात (प्रणाम) कर कहा, 'देव, शोक न करें, जंबुद्वीप बड़ा है, इससे भी सुंदरतर (कन्या) को हमलोग लायेंगे।' उन्होंने कहा, "मैं शोक नहीं करता, निःशोक प्रत्येकबुद्ध हूं मैं।" इससे आगे गाथावर्णन को छोड़कर सब प्रथम गाथा के समान ही है।

गाथा वर्णन में–

संसग्गजातस्स– संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले का। यहां पांच प्रकार के संसर्ग कहे गये हैं– देखने से जो संसर्ग होता है, सुनने से होनेवाला संसर्ग, शारीरिक संसर्ग, बातचीत, तथा संभोग से होनेवाला संसर्ग। यहां परस्पर एक दूसरे को देखकर चक्षु विज्ञान वीथि (पथ, रास्ता) के कारण जो राग उत्पन्न होता है उसे **दस्सनसंसग्गो** दर्शन संसर्ग कहते हैं– अर्थात देखने से होनेवाली संगति। यहां सिंहलद्वीप में कालदीघ वापी गांव में भिक्षाटन करते कल्याण विहारवाले दीर्घ भाणक (धर्मग्रंथों का पाठ करनेवाला) युवा भिक्षु को देखकर एक स्त्री उन पर आसक्त हो गयी, किसी भी उपाय से उनको न पाकर वह स्त्री मर गयी। उसके द्वारा पहने गये वस्त्र को देखकर 'ऐसे वस्त्र धारण करनेवाली के साथ मैं सहवास नहीं कर सका' कहते हुए उनका दिल टूट गया और वे मर गये। उसी युवक का यहां उदाहरण दिया गया है।

दूसरे द्वारा रूप आदि संपत्ति का वर्णन किये जाने पर अथवा अपने से उसका हंसना, बोलना, गीत गाना आदि शब्द कान से सुनने से जो राग उत्पन्न होता है उसे **सवनसंसग्गो** (श्रवणसंसर्ग) कहते हैं।

यहां **पञ्चग्गल–** लेणवासी युवक तिस्स का उदाहरण दिया गया है जो आकाश मार्ग से जाते हुए गिरिगामवासी लोहार या सोनार की पुत्री को पांच कुमारियों के साथ पदुम सर (सरोवर) जाकर, स्नानकर, मालाधारण कर उच्चस्वर से गाती हुयी को सुनकर कामराग से अभिभूत हुए और जिस विशेष की प्राप्ति की थी उसको खोकर दुर्भाग्य को प्राप्त हुए।

परस्पर अंग स्पर्श करने से जो राग (आसक्ति) उत्पन्न होता है उसे **कायसंसग्गो** (शरीरसंसर्ग) कहते हैं। यहां धम्मगायन नामक युवक भिक्षु का उदाहरण दिया गया है। महाविहार में ये भिक्षु धर्मोपदेश करते थे। वहां बहुत से लोगों के आने पर राजा भी अंतःपुर की स्त्रियों के साथ आये। तब राजकन्या को उनका रूप देखकर तथा आवाज सुनकर तीव्र आसक्ति हुई और उस युवक भिक्षु को भी (उस कन्या का रूप देखकर और आवाज सुनकर।) यह देखकर राजा समझ गये और परदा डलवा दिया। उन लोगों ने एक दूसरे का आलिंगन किया। पुनः जब परदा हटाया गया तो देखने पर दोनों मृत पाये गये।

परस्पर संबोधन करके बात-चीत करने से जो राग उत्पन्न होता है उसे **समुल्लपनसंसग्गो** (बातचीत से उत्पन्न संसर्ग) कहा जाता है। भिक्षु जब भिक्षुणियों के साथ भोग करते हैं तो जो राग उत्पन्न होता है उसे **सम्भोगसंसग्गो–** संभोग संसर्ग कहते हैं। यहां उन भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के उदाहरण दिये गये हैं जो पाराजिक अपराध करने पर दंडित हुए थे। मरीचिवट्टि नामक महाविहारमह (उत्सव) में दुट्ठगामणी

अभय महाराज महादान की तैयारी कर भिक्षु तथा भिक्षुणी दोनों संघों को भोजन कराते थे। वहां संघ में नवागंतुक श्रामणेरी ने जो गर्म यागु दे रही थी, संघ में नवागंतुक श्रामणेर के पास पात्र रखने का आधार नहीं होने से अपने हाथी दांत की चूड़ी दी और बातचीत की। वे दोनों उपसंपन्न हुए और साठ वर्ष के होकर नदी के दूसरे किनारे पर जाकर परस्पर बातचीत से पहले की बात याद की। पूर्वसंज्ञा को प्राप्त कर और उसी समय जो एक दूसरे के प्रति स्नेह उत्पन्न हुआ उसके कारण शील भंग कर, शिक्षापद का अतिक्रमण कर पाराजिक अपराध किया।

इस प्रकार के पांच संसर्गों में जिस किसी भी एक के संसर्ग से स्नेह उत्पन्न होता है **भवति स्नेहो,** पहले की आसक्ति के कारण बड़ा राग उत्पन्न होता है। ततो **स्नेहन्वयं दुक्खमिदं पहोति–** उस स्नेह के कारण इस लोक में तथा परलोक में नाना प्रकार के शोक, परिदेव, दुःख उत्पन्न होते है, जन्म लेते हैं, होते हैं, पैदा होते हैं। दूसरे लोग 'आलंबन में चित्त को उत्सर्ग करना संसर्ग कहते हैं, प्रेम से जो प्रेम होता है, स्नेह से जो स्नेह होता है वह दुःख है।

इस प्रकार अर्थभेद को बतलाने के लिए आधी गाथा कहकर उस प्रत्येकबुद्ध ने कहा कि– 'यह जो प्रेम के कारण, स्नेह के कारण दुःख होता है, इसलिए दुःख की जड़ को खोदते हुए मैंने प्रत्येकसंबोधि प्राप्त की।' ऐसा कहे जाने पर उन अमात्यों ने पूछा "भंते, हमें अब क्या करना चाहिए"? तब उन्होंने (प्रत्येकबुद्ध ने) कहा, "तुम या दूसरे या जो कोई इस दुःख से मुक्त होना चाहता है, उन सबों को यह देखकर कि स्नेह में खतरा है, गैंड़े के सींग की तरह अकेले विचरण करना चाहिए।" यहां जो यह कहा गया है कि 'स्नेह का अनुगमन दुःख उत्पन्न करता है', उसी के बारे में 'स्नेह में खतरा है' कहा गया है– यह जानना चाहिए। अथवा कहे गये संसर्ग से, संसर्ग में आनेवाले को स्नेह (प्रेम) होता है और दुःख इसका अनुगमन करता है अर्थात स्नेह से दुःख होता है, स्नेह से उत्पन्न इस यथार्थ खतरे को देखते हुए मैंने यह प्राप्त किया– इस प्रकार संबंध बैठाकर चतुर्थपाद पहले कहे गये की तरह उदान रूप में कहा गया है यह जानना चाहिए। इसके बाद सब पहली गाथा में कहे गये की तरह ही है।

३७. मित्ते सुहज्जे अनुकम्पमानो, हापेति अत्थं पटिबद्धचित्तो।
एतं भयं सन्थवे पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"चूंकि मित्रों, सुहृदों पर अनुकंपा करने के कारण चित्त उनसे प्रतिबद्ध हो जाता है, इसलिए मनुष्य अपना लक्ष्य खो देता है। इस मेल-जोल में खतरे को देखकर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

मित्ते सुहज्जेति से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? पूर्व की गाथा में कहे गये की तरह प्रत्येकबोधिसत्त्व पैदा होकर वाराणसी में राज्य करते थे। वे प्रथम ध्यान उत्पन्न कर यह परीक्षण कर कि 'श्रमणधर्म श्रेष्ठ है या राज्य' चार अमात्यों के हाथों राज्य सौंपकर श्रमण धर्म करते थे। यह कहे जाने पर भी कि 'धर्म और शम (शांति) से राज्य करो' वे घूस लेकर अधर्म से राज्य करते थे। घूस लेकर उन्होंने मालिक को मालिकाना हक न देकर एक बार राजा के प्रिय-पात्र को उसके मालिकाना हक से वंचित कर दिया। भोजन ले जानेवाले के साथ वह व्यक्ति (राजा का प्रिय पात्र) राजा के पास गया और उसने सारी बातें राजा को बतायी। दूसरे दिन राजा स्वयं न्यायालय गये। वहां (एकत्र) भीड़ ने यह कहते हुए कि 'अमात्य मालिक को बेदखल करते हैं' ऐसा हल्ला किया जैसे महायुद्ध में होता है। तब राजा कचहरी से उठकर महल पर गये और ध्यान करने के लिए बैठे, किंतु शोरगुल के कारण, चित्त विक्षेप

के कारण ध्यान नहीं कर सके। 'मुझे राज्य से क्या, श्रमणधर्म ही श्रेष्ठ है' कह कर उन्होंने राज्यसुख का त्याग कर पुनः समापत्ति उत्पन्न कर पहले कहे गये की तरह विपश्यना करते हुए प्रत्येकसंबोधि का साक्षात्कार किया। कर्मस्थान पूछे जाने पर ऊपर लिखित गाथा कही–

यहां मैत्रीभाव के कारण **मित्ता**, हृदय में अच्छा भाव रखने के कारण **सुहज्जा**। कुछ लोग एकांतहित कामना से मित्र होते हैं, सुहृद नहीं। कुछ लोग आने-जाने के स्थान पर बैठकर बातचीत कर हृदय में सुख उत्पन्न करने के कारण सुहृद होते हैं, मित्र नहीं। कुछ लोग दोनों के कारण मित्र भी होते हैं और सुहृद भी। वे दो प्रकार के होते हैं– गृहस्थ और प्रव्रजित। गृहस्थ तीन प्रकार के होते हैं– उपकार करनेवाला, सुख दुःख में समान रहनेवाला और अनुकंपा करनेवाला। प्रव्रजित विशेष रूप से कल्याण बतानेवाले होते हैं। वे चार अंगों से समन्वागत होते हैं। जैसे कहा गया है–

"गृहपति पुत्र, चार कारणों से उपकार करनेवाले को मित्र तथा सुहृद जानना चाहिए। प्रमादी की रक्षा करता है, प्रमादी के धन की रक्षा करता है, डरे हुए की शरण होता है; जब कोई काम उपस्थित हो जाय तो उसको दुगुणा धन देता है" (दी० नि० ३.२६१)।

वैसे ही "गृहपति पुत्र, चार कारणों से दुःख-सुख में समान रहनेवाले को मित्र तथा सुहृद जानना चाहिए– गुप्त बातें बताता है, जो गुप्त रखना चाहिए उसे गुप्त रखता है, विपत्ति में नहीं त्यागता और अपनी जान बचाने के लिए भी उसको छोड़ता नहीं अर्थात उसका त्याग नहीं करता" (दी० नि० ३.२६२)।

वैसे ही "गृहपति पुत्र, चार कारणों से अनुकंपा करनेवाले को मित्र तथा सुहृद जानना चाहिए– रोगी होने पर खुश नहीं होता, स्वस्थ रहने पर खुश होता है, निंदा करनेवाले को रोकता है, प्रशंसा करनेवाले की प्रशंसा करता है" (दी० नि० ३.२६३)

वैसे ही "गृहपति पुत्र, चार कारणों से कल्याण बतानेवाले को मित्र तथा सुहृद जानना चाहिए– पाप से बचाता है, निवारण करता है, कल्याण में लगाता है, अश्रुत को सुनाता है और स्वर्ग का रास्ता बताता है।" उनमें यहां गृहस्थ अभिप्रेत हैं। अर्थ की दृष्टि से सबों में जुटता है" (दी० नि० ३.२६४)।

उन मित्रों पर, सुहृदों पर...

अनुकम्पमानो– अनुकंपा करते हुए। उनके सुख को बढ़ाने के लिए और दुःख को कम करने के लिए, हटाने के लिए।

हापेति अत्थं– अर्थ तीन प्रकार के हैं– इस लोक के लिए, परलोक के लिए, और परमार्थ के लिए। और अपने लिए लक्ष्य, दूसरे के लिए लक्ष्य और दोनों के लिए लक्ष्य। प्राप्त लक्ष्य को नष्ट करके और अप्राप्त लक्ष्य को प्राप्त या उत्पन्न न करने से वह दोनों तरह से हानि करता है, नाश करता है।

पटिबद्धचित्तो– 'इसके बिना मैं नहीं जी सकूंगा, यही मेरी गति, यही मेरा अंतिम लक्ष्य है' इस प्रकार अपने को नीचे स्थान पर रखकर भी अपने को प्रतिबद्ध-चित्त या आसक्त बनाता है। 'ये मेरे बिना न जी सकेंगे, मैं ही उनकी गति हूं, मैं ही उनका आधार हूं' इस प्रकार अपने को ऊंचे स्थान पर रखकर अपने को आसक्त वनाती है। यहां इस प्रकार की आसक्ति ही अभिप्रेत है।

एतं भयं– इस लक्ष्य की हानि के भय के बारे में, अपनी ध्यान-भावना (समापत्ति) की हानि के

बारे में कहा गया है।

सन्थवे– तृष्णा, मिथ्यादृष्टि और मित्रों के संसर्ग के कारण तीन प्रकार के संसर्ग कहे गये हैं। यहां अठहत्तर प्रकार की तृष्णा को तृष्णासंसर्ग, बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों को मिथ्यादृष्टि संसर्ग और मित्रों पर अनुकंपा करने से आसक्तचित्त के कारण मित्रसंसर्ग। यही यहां अभिप्रेत है। उस कारण ही इनकी समापत्ति नष्ट हुई। इसलिए कहा, 'संसर्ग में इस भय को देखते हुए मैंने यह प्राप्त किया।' जैसे कहे गये हैं वैसे ही शेष को जानना चाहिए।

३८. वंसो विसालोव यथा विसत्तो, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा।
वंसक्कलीरोव असज्जमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"पुत्र, पुत्री तथा पत्नी में जो आसक्तियां हैं, वे उस बांस की तरह हैं जो खूब फैला है, और दूसरों के साथ जटित है, गुंथा हुआ, उलझा हुआ है। बांस के नये करील की तरह जो दूसरों के साथ उलझा हुआ नहीं है गैंडे के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

वंसो विसालो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? प्राचीन काल में भगवान कस्सप के शासन में तीन प्रत्येक बोधिसत्त्व प्रव्रजित हुए और बीस हजार वर्षों तक गत-प्रत्यागत व्रत पूरा कर देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत हो उनमें से सबसे बड़े वाराणसी राजा के कुल में उत्पन्न हुए और शेष दोनों अन्य प्रत्यंत राजकुल में। ये दोनों भी कर्मस्थान सीखकर, राज्य त्याग, प्रव्रजित हो, क्रम से प्रत्येकबुद्ध हो नंदमूलक प्रभार पर वसते हुए एक दिन ध्यान समापत्ति से उठे और इस बारे में ध्यान लगाया कि 'हमलोगों ने कौन-सा कर्म कर इस लोकोत्तर सुख को पाया है' और कस्सप बुद्ध के समय का अपना आचरण देखा अर्थात अपनी चर्या देखी। उसके बाद 'तीसरा कहां' प्रश्न उठा, जब ध्यान लगाकर देखा तो वाराणसी में उसे राज्य करते देखकर उसके गुण को स्मरण किया। 'वे स्वभाव से ही अल्पेच्छता आदि गुणों से समन्वागत थे, हमलोगों के उपदेशक, वक्ता, कहे अनुसार करनेवाले, पाप की निंदा करनेवाले थे, अच्छा, उनको आलंबन दिखा कर मुक्त करेंगे।' मौका खोजते हुए एक दिन उनको सभी अलंकारों से विभूषित हो उद्यान जाते देखकर वे आकाश मार्ग से उद्यान के द्वार पर गये, और बांस की झाड़ी के पास खड़े हुए। भारी भीड़ राजा के दर्शन से तृप्ति न पाकर राजा को देख रही थी। तब राजा ने पूछा, 'है कोई जो मेरे दर्शन में संलग्न नहीं है', (ऐसा पूछने पर) देखते हुए उन्होंने प्रत्येकबुद्धों को देखा, देखने के साथ-साथ उनमें स्नेह उत्पन्न हुआ।

हाथी से उतर कर शांत भाव से उनके पास पहुंचे और पूछा, "भंते, आप लोगों का नाम क्या है"? उन्होंने उत्तर दिया, 'महाराज, हमलोगों का नाम अनासक्त होना है। 'भंते, अनासक्त होना– इसका क्या अर्थ है?' 'महाराज, इसका अर्थ है 'नहीं चिपकना, नहीं सटना'। उसके बाद उनको बांस की झाड़ी दिखाकर कहा, 'जैसे, महाराज यह बांस की झाड़ी है जो जड़, धड़, शाखा तथा प्रशाखा से सब प्रकार से गूंथी हुई, उलझी हुई स्थित है और जिसकी जड़, हाथ में तलवार लिए व्यक्ति भी लटकती हुयी शाखाओं को काटकर उखाड़ नहीं सकता, उसी प्रकार आप अंदर तथा बाहर की जटा से जटित हो (तृष्णा रूपी जटा से) आसक्त हैं, फैले हुए हैं, यही आपका चिपकाव है, आसक्ति है। और जैसे यह बांस का करील है तो बांसों के बीच में, लेकिन चूंकि इसमें शाखाएं प्रशाखाएं नहीं निकली हैं और

आपस में न उलझी हैं, इस कारण यह अनासक्त हो स्थित है, इसके अग्रभाग को या जड़ को काटकर उखाड़ना संभव है। इस प्रकार हम अनासक्त हैं और सभी दिशाओं में जा सकते हैं।' (ऐसा कहा) और उसी समय चतुर्थ ध्यान समापत्ति प्राप्त कर राजा के देखते-देखते आकाश मार्ग से नंदमूलक प्रभार चले गये। तब राजा ने सोचा, 'कब मैं भी इस तरह अनासक्त होऊंगा?' (ऐसा सोचकर) उन्होंने वहीं बैठकर विपश्यना की और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। पूर्व की तरह ही जब इनसे कर्मस्थान के बारे में पूछा गया तो उन्होंने यह गाथा कही, **'वंसो विसालो यथा विसत्तो....**

वंसो– बांस।

विसालो– विस्तीर्ण, फैला हुआ।

च-कार (व-कार) अवधारण के अर्थ में है, यह 'एव– कारं' भी है। संधि के कारण ए-कार का लोप हो गया है। उसका दूसरे पद से संवंध है उसको बाद में जोड़ेंगे।

यथा– समानता या एकरूपता में।

विसत्तो– (चिपका हुआ,) जटित और उलझा हुआ।

पुत्तेसु दारेसु चा– पुत्र, पुत्री और पत्नी में।

या अपेक्खा– जो तृष्णा, जो स्नेह है।

वसंक्कळीरो व असज्जमानो– बांस के करील की तरह अलग-थलग।

क्या कहा गया है?

'जिस प्रकार बांस बड़ा और उलझा हुआ होता है, पुत्र तथा पत्नी में जो अपेक्षा है वह भी उसी तरह उनमें गुंथकर, उलझ कर स्थित रहने के कारण आसक्ति ही है। मैं भी उनकी अपेक्षा करता हूं, उन अपेक्षाओं के कारण मैं भी विशाल बांस की तरह उलझा हुआ हूं'। इस प्रकार अपेक्षाओं में खतरे को देखकर उनको मार्गज्ञान से काटकर उस बांस के करील के समान रूप आदि में, लोभ आदि में, कामभव आदि में, मिथ्यादृष्टि आदि में तृष्णा, मान और मिथ्यादृष्टि के कारण आसक्त न होकर, उन्होंने प्रत्येकबोधि प्राप्त की। शेष पहले की तरह ही जानना चाहिए।

३९. मिगो अरञ्ञम्हि यथा अबद्धो, येनिच्छकं गच्छति गोचराय।
विञ्ञू नरो सेरितं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जैसे नहीं बांधा गया मृग जंगल में जहां चाहता है, चरने के लिए वहां जाता है, वैसे ही विज्ञ स्वतंत्रता के लिए (स्वतंत्र रहने के लिए), गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

मिगो अरञ्ञम्हि से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? भगवान कस्सप के शासन में एक योगावचर भिक्षु मरकर वाराणसी में एक धनाढ्य, धनवान तथा वैभवशाली श्रेष्ठीकुल में उत्पन्न हुए। वे सौभाग्यशाली हुए।[१] वे दूसरे की स्त्री के साथ संभोग करनेवाले होकर मरे और नरक में जनमे। वहीं दुःख भोगा और अवशेष विपाक के कारण श्रेष्ठि की पत्नी की कोख में स्त्री रूप में प्रतिसंधि ग्रहण

१. स्यामी पुस्तक के अनुसार सराग चित्तवाले हुए।

किया। नरक से आनेवालों का शरीर गर्म होता है। इस कारण श्रेष्ठि आर्या ने जलते हुए पेट के कारण बड़े कष्ट से गर्भ धारण किया और समय आने पर पुत्री को जन्म दिया।

जन्म लेने के दिन से ही वह माता-पिता को तथा शेष बंधु-परिजनों को अप्रिय हुई, उसके प्रति उनको द्वेष हुआ और वह बिल्कुल अनाकर्षक लगने लगी। वय प्राप्त करने पर जिस कुल में वह गयी, वहां भी वह सास-ससुर की दृष्टि में अप्रिय और अनाकर्षक हुई और उन लोगों को इससे द्वेष हुआ। नक्षत्र की घोषणा होने पर श्रेष्ठिपुत्र ने उसके साथ क्रीड़ा करने की अनिच्छा से वेश्या लाकर उसके साथ क्रीड़ा की। वह अपनी दासियों से सुनकर श्रेष्ठिपुत्र के पास गयी और नाना प्रकार से अनुनय करके कहा, "आर्यपुत्र, यदि स्त्री दस राजाओं की छोटी बहन हो या चक्रवर्ती की बेटी हो तो भी स्वामी की दासी होती है, नौकरानी होती है, स्वामी उससे यदि न बोलते हों तो वैसा दुःख अनुभव करती है जैसे उसके हृदय में भाला भोंका गया हो। यदि मैं अनुग्रह के योग्य हूं तो अनुग्रह करें, अगर नहीं तो मुझे छोड़ दें, मैं अपने मां-बाप के घर चली जाऊंगी।" श्रेष्ठीपुत्र ने कहा, 'भद्रे, ठहरो, शोक मत करो, क्रीड़ा के लिए तैयारी करो, उचित समय पर हमलोग क्रीड़ा करेंगे।' श्रेष्ठि कन्या ने उतनी ही बात-चीत से उत्साहित हो और 'कल नक्षत्र कीड़ा करूंगी' सोचकर बहुत खाद्य-भोज्य की तैयारी की। दूसरे दिन श्रेष्ठिपुत्र बिना कहे अर्थात अपनी पत्नी को बिना सूचना दिये क्रीड़ा-स्थान पर गये। वह राह देखती रही कि 'अब बुलवायेंगे, अब बुलवायेंगे' वहां बैठे-बैठे दिन चढ़ आया, तब उसने सेवकों को भेजा। उन्होंने लौटकर बताया कि श्रेष्ठिपुत्र चले गये। सभी तैयार किये गये खाद्य-भोज्य को लेकर वह सवारी पर चढ़कर उद्यान जाने लगी।

तब नंदमूलक प्रभार पर रहनेवाले प्रत्येकसंबुद्ध सातवें दिन निरोध समापत्ति से उठे और अनोतत्त झील में मुंह धोकर, नागलता का दंतवन चबाते हुए यह ध्यान किया कि 'आज भिक्षा के लिए कहां जाऊंगा?' उन्होंने श्रेष्ठि कन्या को देखा और यह जानकर कि 'यदि यह मेरा सत्कार करेगी तो इसका दुष्कर्म फल क्षय होगा', प्रभार के निकट जो साठ योजन लंबा मनोशिलातल था, वहां खड़े होकर चीवर पहन पात्र और चीवर लेकर अभिज्ञा को आधार बना ध्यान समापत्ति कर आकाश मार्ग से उसके विपरीत रास्ते पर उतर कर वाराणसी की ओर आये। उनको देखकर दासियों ने श्रेष्ठि कन्या को सूचना दी। वह यान से उतरी, भली-भांति से तैयारी करके उनकी वंदना की, उनका पात्र लिया और सभी रसों से युक्त खाद्य-भोज्य से उसे भरकर, कमल फूल से ढंक दिया और पात्र के नीचे भी कमल फूल रखकर और फूल का गुच्छा हाथ में लेकर प्रत्येकबुद्ध के पास गयी। उनके हाथ में पात्र देकर उनकी वंदना की और फूल का गुच्छा हाथ में लिए हुए कामना की, "भंते, जैसा यह फूल है वैसे ही मैं जहां-जहां जन्म ग्रहण करूं, वहां-वहां बहुत लोगों के लिए प्रिय और आकर्षक बनूं।" इस प्रकार कामना कर दूसरी कामना यह की कि "भंते, गर्भवास अर्थात जन्म ग्रहण करना दुःख है, उसको न पाकर (उस तरह की स्थिति में न जाकर) मेरी प्रतिसंधि कमल के फूल में ही हो।" तीसरी कामना भी की कि, "भंते, स्त्री घृण्य है, घृणा करने याग्य है, चक्रवर्ती की कन्या होने पर भी उसे परवश होना पड़ता है, इसलिए स्त्री के रूप में जन्म ग्रहण न कर मैं पुरुष बनूं।" चौथी कामना यह थी कि, "भंते, इस संसार के दुःख का अतिक्रमण कर अंत में आपके द्वारा जो अमृत प्राप्त है उसे पाऊं।"

इस प्रकार चारों कामनाएं कर, उनकी (प्रत्येकबुद्ध की) पुष्पगुच्छ से पूजा की तथा पांच अंगों से

प्रणाम किया और पांचवीं इच्छा यह की कि 'मेरा रूप और गंध (इस) फूल के समान ही हो।' तब प्रत्येकबुद्ध ने पात्र और पुष्प गुच्छ लिया और आकाश में स्थित होकर यह गाथा कही– "जो तुम्हारी इच्छा और कामना है वह शीघ्र ही पूरी हो, पूर्णमासी के चांद की तरह तुम्हारे सभी संकल्प पूरे हों" और इससे श्रेष्ठिपुत्री का अनुमोदन किया और ऐसा अधिष्ठान कर कि 'श्रेष्ठिपुत्री मुझे जाते हुए देखे' नंदमूलक प्रभार गये। उसको देखकर श्रेष्ठिपुत्री को बड़ी प्रीति उपजी। दूसरे जन्मों में किये गये अकुशल कर्म 'फल उत्पन्न करने का अवकाश न पाने के कारण' परिक्षीण हुए और वह उस तरह शुद्ध और अवदात हो गयी जैसे खटाई से धोने पर तांबे का पात्र हो जाता है। उसी समय उसके पतिकुल के तथा और सभी संबंधी संतुष्ट हुए और 'हमलोग क्या करेंगे' ऐसा प्रियवचन तथा उपहार उसके पास भेजा। श्रेष्ठिपुत्र ने आदमियों को यह कह कर भेजा कि 'श्रेष्ठिपुत्री को शीघ्र लाओ, मैं भूलकर उद्यान में आ गया हूं।' तब से अपने हृदय में उसे विलिप्त चंदन धारण किये मोतियों की माला की तरह तथा फूलों की माला की तरह उसको प्यार करते हुए संभाल के रखा।

आयु पर्यंत उसने ऐश्वर्यसुख भोग किया और मरणोपरांत पुरुष रूप में देवलोक में कमल के फूल में उत्पन्न हुई। वह देवपुत्र पद्मगर्भ में ही जाते, पद्मगर्भ में ही ठहरते, उसी में बैठते, तथा उसी में सोते। उनका नाम महा पद्मदेवपुत्र रखा गया। इस प्रकार वह अपने आनुभाव (प्रताप) से छः देवलोकों में इसी तरह आते-जाते रहे।

उस समय वाराणसी के राजा को बीस हजार पत्नियां थीं। परंतु राजा को किसी एक की भी कोख से पुत्र न प्राप्त हुआ। अमात्यों ने राजा को सलाह दी– 'देव, कुलवंश को पालनेवाले पुत्र की इच्छा करनी चाहिए अगर अपना नहीं हो तो क्षेत्रज (चार प्रकार के पुत्रों में से एक) भी वंशधर होता है।' राजा ने राजमहिषी को छोड़ शेष नृत्य कुमारियों को यह कहकर इच्छानुसार बाहर भेज दिया कि 'सप्ताह भर धर्मनाटक करो।' तो भी पुत्र की प्राप्ति न हुई। पुनः अमात्यों ने कहा, "महाराज, राजमहिषी पुण्य और प्रज्ञा में सभी स्त्रियों में अग्र हैं, श्रेष्ठ हैं, ऐसा हो सकता है देव, कि राजमहिषी की कोख से पुत्र की प्राप्ति हो।" राजा ने राजमहिषी को इस बारे में कहा। उसने कहा "महाराज, जो स्त्री सत्यवादिनी और शीलवती है, वह पुत्र प्राप्त करे। जो स्त्री लज्जा और अपत्रपा (अपराध बोध) से रहित है, उसे पुत्र कहां?" ऐसा कहकर वह राजप्रासाद पर चढ़ गयी और पांच शीलों को लेकर बार-बार उनका बड़ी गहराई में जाकर पालन करती। पांच शीलों का गहराई से पालन करने से शीलवती राजपुत्री के चित्त में पुत्र की कामना उत्पन्न हुई, और इंद्र (शक्र) का आसन गर्म हो गया।

अब शक्र ने आसन गर्म होने के कारण पर ध्यान लगाया तो उसे जानकर कि 'शीलवती राजपुत्री को पुत्रवर दूंगा'। आकाश मार्ग से जाकर उसने देवी के सम्मुख खड़ा होकर पूछा कि "देवी, क्या चाहती हो?" "महाराज, पुत्र चाहती हूं।"

"देवी, तुम्हें पुत्र दूंगा, शोक मत करो।" ऐसा शक्र ने कहा और देवलोक जाकर यह ध्यान लगाया कि "है कोई यहां क्षीण आयुवाला?" यह जानकर कि 'यह महापद्म ऊपर के देवलोक में उत्पन्न होने के लिए यहां से च्युत होगा' उसके विमान में जाकर यह याचना की कि 'तात महापद्म, मनुष्यलोक में जाओ (जन्म लो)।' उसने कहा, "महाराज, ऐसा मत कहें, मनुष्यलोक घृण्य है– उससे मुझे घृणा है।"

"तात, मनुष्यलोक में पुण्य करके तुम यहां उत्पन्न हुए हो, वहीं रह कर तुम्हें पारमी पूरा करनी

चाहिए। तात, जाओ।" "महाराज, गर्भ में रहना दुःखकर है, वहां मैं नहीं रह सकूंगा।" "तात, तुम्हें गर्भवास से क्या, तुमने वैसा ही कर्म किया है कि तुम पद्मगर्भ में ही उत्पन्न होगे, जाओ तात।" बार-बार कहे जाने पर उसने स्वीकृति दे दी।

उसके बाद महापद्म देवलोक से च्युत होकर वाराणसी राजा के उद्यान में सिलापट्ट पुष्करिणी के पद्मगर्भ में उत्पन्न हुए। राजमहिषी ने उस रात प्रत्यूषकाल में सपने में देखा कि वह बीस हजार स्त्रियों से परिवारित होकर उद्यान गयी और सिलापट्ट पुष्करिणी के पद्म से पुत्र लाभ किया। वह तड़के ही शील का पालन करती हुयी उसी तरह वहां गयी और एक पद्मपुष्प (कमल का फूल) देखा। वह न तो किनारे पर था और न बीच तालाब में (गहरे पानी में)। उसको देखते ही उसके हृदय में पुत्र-प्रेम उत्पन्न हुआ। स्वयं (जल में) प्रवेश कर उसने फूल लिया। जैसे ही फूल लिया, वह खिल गया, उसके दल विकसित हुए। वहां उसने थाल में रखे तेल से सिंचित स्वर्ण प्रतिमा की तरह बच्चे को देखा। देखकर उसके मुंह से ये शब्द निकले, 'मैंने पुत्र प्राप्त किया'। जनसमुदाय ने हजार बार 'साधु, साधु', कहा और राजा को खबर भेजी। राजा ने सुना और पूछा, 'कहां प्राप्त हुआ?' प्राप्ति का स्थान सुनकर कहा, "उद्यान, तालाब तथा कमल, ये सभी हमारे क्षेत्र हैं, इसलिए हमारे क्षेत्र में उत्पन्न होने के कारण इसका नाम 'क्षेत्रज' है।" ऐसा कह उन्होंने नगर में प्रवेश किया और बीस हजार स्त्रियों को धाय का काम करने कहा। जो-जो कुमार की रुचि जानकर इच्छित भोजन करवातीं, उस-उसको हजार की प्राप्ति होती। पूरा वाराणसी नगर हर्षित-पुलकित हो गया, सभी लोगों ने कुमार को हजारों उपहार भेजे। उपहारों को लाकर लोग जब ऐसा कहते कि 'इसे खाओ, इसे खाओ' तो कुमार भोजन से कष्ट पाकर, असंतुष्ट हो नगर के द्वार पर जाकर लाह की गोली से खेलते।

उस समय एक प्रत्येकबुद्ध वाराणसी के समीप इसिपतन में रहते थे। उन्होंने प्रातःकाल शयनासन संबंधी नियम तथा शारीरिक क्रिया कर्म कर शरीर को तैयार कर मनसिकार आदि सब कृत्य करके, एकांत से उठ कर यह ध्यान करते, सोचते हुए कि 'आज कहां भिक्षा ग्रहण करूंगा' कुमार की संपत्ति देख यह परीक्षण किया कि 'पूर्व में इसने कौन-सा कर्म किया है' तो देखा कि 'इसने मेरे जैसे को भोजन देकर, चार प्रार्थनाएं की थीं, जिनमें तीन तो पूरी हो चुकी हैं, एक अभी तक पूरी नहीं हुई है, उपाय से उसको आलंबन दूंगा' ऐसा सोच कर भिक्षाटन के लिए कुमार के पास आये।

कुमार ने उनको देखकर कहा, 'श्रमण, इधर मत आइये, ये लोग आपको भी इसे खाओ, इसे खाओ कहेंगे।' मात्र एक ही बात से वे वहां से लौटे और अपने शयनासन में उन्होंने प्रवेश किया। कुमार ने अनुयायियों से पूछा, 'यह श्रमण मेरे कहने मात्र से ही लौट गये, क्या मुझसे क्रुद्ध हो गये?' उसके बाद उनके द्वारा यह कहे जाने पर कि 'देव, प्रव्रजित क्रोधपरायण नहीं होते, दूसरे द्वारा प्रसन्न मन से जो दिया जाता है उसी से जीवन-यापन करते हैं'। 'यह श्रमण मुझसे क्रुद्ध हैं, उनसे क्षमा मागूंगा' अपने माता-पिता को कहकर हाथी पर चढ़, बड़े राजानुभाव से इसिपतन गये। वहां मृग झुंड को देखकर उन्होंने पूछा, 'यह क्या है?' 'स्वामी, ये मृग हैं।' "इनको 'इसे खाओ, इसे खाओ, इसे चखो' ऐसा बोलकर इनका पालन-पोषण होता है?"

"नहीं, स्वामी! जहां घास और पानी आसानी से मिल जाते हैं, सुलभ हैं, वहीं ये रहते हैं।"

कुमार ने सोचा, "जिस प्रकार ये अरक्षित होकर जहां चाहते हैं वहीं रहते हैं, तो कब मैं भी ऐसे

ही रहूंगा" और इसी आलंबन को लिया।

उसके आने की बात जानकर प्रत्येकबुद्ध ने शयनासन की ओर जानेवाले रास्ते को तथा चंक्रमण पथ को झाड़ू लगा, साफ-सुथरा कर एक-दो बार चंक्रमण किया और पदनिक्षेप दिखाकर दिवाविहार करने के स्थल को और पर्णशाला को झाड़ू से बुहारकर, चिकनाकर, प्रवेश करनेवाले पदनिक्षेप दिखाकर, निष्क्रमण करनेवाले पदनिक्षेप को न दिखाकर अन्यत्र चले गये। कुमार वहां गये और उस स्थान को झाड़ू द्वारा बुहारा गया तथा चिकना किया हुआ देखकर 'लगता है, यहीं प्रत्येकबुद्ध रहते हैं'। अनुयायियों द्वारा कही बात को सुनकर कहा, 'सबेरे तो वे श्रमण क्रुद्ध थे, अब अपने घर को हाथी, घोड़ों से आक्रांत देख और भी क्रुद्ध हो गये हैं, तुमलोग यहीं ठहरो' कहकर हाथी से उतरकर अकेले शयनासन में प्रवेश किया और वहां श्रद्धा से, वेतनादि के लोभ से नहीं अच्छी तरह झाड़ू से साफ किये जगह में पदनिक्षेप देखकर 'यह श्रमण यहां चंक्रमण करते व्यापार आदि की बात नहीं सोचते हैं' मुझे लगता है निश्चय ही अपने कल्याण की ही बात सोचते हैं, ऐसा सोचकर प्रसन्न मन से चंक्रमण पथ पर गये। कुछ दूरी तक नाना प्रकार के विचार मन में लेकर गये और शिलाखंड पर बैठकर एकाग्रचित्त हो, कुटिया में प्रवेश किया और विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधिज्ञान की प्राप्ति की। पहले की तरह पुरोहितों द्वारा कर्मस्थान पूछे जाने पर आकाश के तले बैठ यह गाथा कही–

मिगो अरञ्ञम्हीति यथा अबद्धो, येनिच्छकं गच्छति गोचराय।
विञ्ञू नरो सेरितं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जैसे नहीं बांधा गया मृग जंगल में इच्छानुसार चरने के लिए जाता है, वैसे ही विज्ञ स्वतंत्रता के लिए, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

मिगो– दो प्रकार के मृग, एणि मृग तथा पसद मृग[१]। और यह सभी प्रकार के जंगल में रहनेवाले चौपायों का अधिवचन है, नामकरण है। यहां पसद मृग अभिप्रेत है।

अरञ्ञम्हि– गांव या गांव के पास-पड़ोस को छोड़ शेष को अरण्य कहा जाता है। यहां उद्यान से अभिप्राय है, इसलिए उद्यान में कहा गया है।

यथा– समानता का भाग, (समानता तथा एकरूपता दर्शाने के लिए प्रयुक्त)

अबद्धो– रस्सी आदि बंधन से अबद्ध, न बंधा हुआ। इससे विश्वस्त आचरण प्रकाशित होता है।

येनिच्छकं गच्छति गोचराय– जिस-जिस दिशा में जाना चाहता है, उस-उस दिशा में चरने के लिए जाता है। भगवान ने कहा भी है:–

"भिक्षुओ, जैसे जंगल का मृग, जंगल में, वन में चरते हुए विश्वस्त होकर जाता है, विश्वस्त हो खड़ा होता है, विश्वस्त हो बैठता है, विश्वस्त हो सोता है। ऐसा किसलिए? भिक्षुओ, शिकारी उस रास्ते पर दिखाई नहीं पड़ता है। उसी प्रकार, भिक्षुओ, भिक्षु कामनाओं (तृष्णाओं) से अलग हो..... प्रथम ध्यान में प्रविष्ट हो विहार करता है। भिक्षुओ, यही कहा जाता है कि भिक्षु ने मार की आंख पर पट्टी बांध दी और वह बिना कोई पदचिह्न छोड़े, बिना उसको देखने का अवसर दिये ओझल हो गया।" (म०

१. पसद मृग चित्तीदार होता है। महापुरुष के लक्षणों में से एक लक्षण यह है कि उनकी जांघ एणिमृग की तरह होती है।

नि० १.२८७; चूळनि० खग्गविसाणसुत्तनिद्देस १५५) में इसका विस्तार है।

विञ्ञू नरो– पंडित व्यक्ति।

सेरितं– स्वच्छंद वृत्ति, दूसरे पर निर्भर न रहने की वृत्ति।

पेक्खमानो– प्रज्ञाचक्षु से देखते हुए।

अथवा धर्म-स्वतंत्रता और पुद्गल-स्वतंत्रता। क्लेश के कारण लोकोत्तर धर्मों के न आने से उनसे समन्वागत स्वतंत्र व्यक्ति, उनके भाव को निर्देशित करने के लिए स्वतंत्रता, स्वेच्छारिता। उसको देखते हुए क्या कहा गया है? "जैसे खुला मृग जंगल में जहां इच्छा होती है वहां चरने के लिए जाता है, कब मैं वैसे जाऊंगा? मैं तुमलोगों द्वारा जहां-जहां जाता हूं घिरा रहता हूं, बंधे हुए की तरह जहां इच्छा वहां नहीं जा पाता हूं। जहां इच्छा होती है वहां नहीं जा पाने से, जहां इच्छा हो वहां जा पाने में लाभ देखकर क्रमशः शमथ और विपश्यना को पूरा किया। उसके बाद, मैंने प्रत्येकबोधि प्राप्त की। इसलिए स्वतंत्रता को आदर देनेवाले अन्य विज्ञ पुरुष, पंडित पुरुष भी गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे। शेष कहे गये की तरह ही जानना चाहिए।

४०. आमन्तना होति सहायमज्झे, वासे ठाने गमने चारिकाय।
अनभिज्झितं सेरितं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"साथियों के बीच चाहे आराम कर रहे हों या खड़े हों या जा रहे हों या चारिका कर रहे हों, आमंत्रण (दूसरों से) मिलता रहता है। स्वातंत्र्य के महत्त्व को देखकर वह गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

आमन्तना होति से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? अतीत काल में **एकवज्जिकब्रह्मदत्त** नामक कोमल प्रकृति के राजा थे। जब अमात्य उनके साथ क्या ठीक है, क्या गलत है, इन बातों पर सलाह देना चाहते, उस समय उनको अकेले एक ओर ले जाते। एक दिन जब वे (दिवाविहार) के लिए गये थे तो एक अमात्य ने (यह कह कर कि) "देव, मुझे कुछ कहना है", उनसे एक ओर चलने की याचना की। वे उठकर आये। फिर दूसरे ने, जब वे राजकीय कक्ष में बैठे थे, तब उसने वर मांगा। फिर एक ने जब वे हाथी की पीठ पर सवार हो उद्यान जा रहे थे, एक ने जब वे घोड़े पर सवार हो....., एक ने जब वे स्वर्णरथ पर सवार हो.... एक ने जब वे डोली पर बैठ उद्यान जा रहे थे तो एक ओर चलने की प्रार्थना की।

राजा वहां से उतरकर एक ओर आये। फिर दूसरे ने जव वे जनपद की चारिका पर जा रहे थे तो ऐसी ही याचना की। उसकी भी बात सुनकर हाथी से उतरकर एक ओर आये। इस प्रकार उन्होंने निर्वेद प्राप्तकर प्रव्रज्या ली। अमात्य ऐश्वर्य से उन्नति करने लगे। उनमें से एक ने राजा के पास जाकर कहा, 'महाराज, अमुक जनपद मुझे दे दें।' राजा ने कहा, 'उसको तो अमुक व्यक्ति भोग रहा है।' उसने राजा की बात पर ध्यान न देकर (यह कहा कि), 'जा रहा हूं मैं, उस जनपद को लेकर उसे भोगूंगा' और उसी समय वह वहां गया और उसके साथ झगड़ा किया। फिर दोनों राजा के पास आये और दोनों ने एक दूसरे का दोष बताया। राजा ने सोचा 'इन्हें संतुष्ट करना कठिन है' और लोभ में खतरा देखकर

विपश्यना करते हुए प्रत्येकसंबोधि का साक्षात्कार किया। पहले की तरह ही उन्होंने यह उदानगाथा कही।

इसका भावार्थ– साथियों के बीच रहनेवाले को दिन में आराम करते समय या राजकीय कक्ष में रहते समय या उद्यान जाते समय या चारिका के लिए जनपद जाते समय 'मेरी यह बात सुनिये, मुझे यह दीजिये' इस तरह ये बातें कही जाती हैं। इसलिए मैं उससे निर्वेद प्राप्त कर आर्यजनों द्वारा सेवित अनेक लाभवाले एकांतवास में सुख देखता हूं, इस प्रकार होने पर भी लोभाभिभूत सभी का पुरुषों द्वारा प्रव्रज्या प्रार्थित नहीं है, इच्छित नहीं है अर्थात जो व्यक्ति लोभ के वश में है, वह प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है। इसलिए उसको दूसरों द्वारा इच्छित, प्रार्थित न देख मैंने स्वतंत्र धार्मिक व्यक्ति की तरह स्वातंत्र्य को महत्त्व देकर विपश्यना आरंभ की और धीरे-धीरे प्रत्येकसंबोधि प्राप्त की।

४१. खिड्डा रती होति सहायमज्झे, पुत्तेसु च विपुलं होति पेमं।
पियविप्पयोगं विजिगुच्छमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"साथियों के बीच खेल होता है, आनंद मनाया जाता है और पुत्रों के प्रति अत्यंत प्रेम होता है। प्रिय से वियोग को घृणा करते हुए गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

खिड्डा रति से आरंभ होनेवाली गाथा की क्या उत्पत्ति है? वाराणसी में **एकपुत्तक ब्रह्मदत्त** नामक राजा थे। उनको अपना एकमात्र पुत्र प्रिय था, मनाप (मनोनुकूल आकर्षक) था, प्राण के समान प्यारा था। वे सभी ईर्यापथों में (टहलने, खड़ा होने, बैठने तथा सोने में) बेटे को साथ ही रखते थे। एक दिन उद्यान जाते समय वे उसे छोड़ कर गये। कुमार भी उसी दिन उत्पन्न रोग से मर गये। अमात्यों ने सोचा कि 'पुत्रस्नेह के कारण राजा का हृदय फट जायगा' इसलिए उन्हें बिना बताये उसे जला दिया। राजा उद्यान में शराब पीकर मस्त थे, इसलिए बेटे को याद नहीं किया। उसी तरह दूसरे दिन नहाने तथा भोजन के समय भी याद नहीं किया। खाकर जब बैठे तब याद किया और कहा कि 'मेरे बेटे को लाओ।' अनुरूप (उचित) उपाय से उन लोगों ने उनको समाचार दिया। तब शोकाभिमूत हो बैठे-बैठे ही उन्होंने बुद्धिपूर्वक विचार किया कि 'ऐसा होने पर यह होता है, इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है।' इस प्रकार क्रमशः प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से अच्छी तरह समझकर उन्होंने प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। शेष संसर्ग गाथा का जैसा पहले अर्थ कहा गया है उसे छोड़ गाथा का वर्णन दिया जा रहा है।

यह अर्थवर्णन है। **खिड्डा–** क्रीड़ा करना, खेलना। यह दो प्रकार की होती है कायिक और वाचसिक। कायिक क्रीड़ा कहते हैं हाथी, घोड़े, रथ, धनुष तथा तलवार आदि के साथ खेलना। वाचसिक क्रीड़ा गीत गाना, प्रशंसा करना तथा मुंह से भेरी बजाना आदि है।

रति– पांच इंद्रियों का सुख।

विपुलं– बहुत, अधिक, जो अस्थिमज्जा से टकराकर पूरे शरीर में फैल जाय, वहां तक।

शेष स्पष्ट ही है। संसग्ग गाथा का यहां शेष गाथा से क्या संबंध है– इसे पहले कहे गये की तरह जानना चाहिऐ, उसके बाद सबका।

४२. चातुद्दिसो अप्पटिघो च होति, सन्तुस्समानो इतरीतरेन।
परिस्सयानं सहिता अछम्भी, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जो चारों दिशाओं में बिना प्रतिघ के और शत्रुता के जाता है, जो थोड़ा बहुत मिलता है उसी से संतुष्ट होता है वह निर्भीक होकर खतरों को सहन करता है, वह गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

चातुद्दिसो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की क्या उत्पत्ति है? पूर्व में भगवान कस्सप के शासन में पांच प्रत्येक बोधिसत्त्व प्रव्रजित हुए। बीस हजार वर्षों तक वे गत-प्रत्यागत व्रत पूरा कर देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत हो उनमें जो बड़ा था वह वाराणसी का राजा हुआ, शेष प्राकृतिक राजा हुए। उन चारों ने कर्मस्थान सीखा और राज्य का त्याग किया। वे क्रमशः प्रत्येकबुद्ध हो नंदमूलक प्रभार (प्राग्भार) पर रहने लगे। एक दिन ध्यान समापत्ति से उठकर वंसकलीरगाथा में कहे गये की तरह उन्होंने अपने मन को पूर्व कर्म तथा साथी की ओर झुकाया। जानकर वाराणसी के राजा को उपाय से आलंबन दिखाने के लिए अवकाश खोजने लगे। उस राजा को रात में तीन बार उद्वेग हुआ, डरकर दुःख से रोया-चिल्लाया और प्रासाद के ऊपर खुली छत पर दौड़ कर गया। पुरोहित ने सबेरे उठकर राजा से पूछा कि 'सुख से तो सोये, नींद तो आई न?' राजा ने 'आचार्य, मुझे सुख कहां' कह कर सारी बात बताई। 'यह रोग जिस किसी भेषज्य से जैसे उल्टी कराकर या पेट की सफाई कर दूर नहीं किया जा सकता, यह तो मेरे लिए खाने का (पैसा कमाने का) जरिया उत्पन्न हुआ है' ऐसा सोच कर कहा– 'महाराज, यह तो राज्य की हानि तथा जीवन पर खतरा आदि का पूर्व निमित्त है' कहकर राजा को अच्छी तरह से उद्विग्न किया और 'इसकी शांति के लिए इतना-इतना हाथी, घोड़ा, रथ और सोना-चांदी दान में देकर यज्ञ करें' कह कर उनको यज्ञ-कर्म करने के लिए प्रेरित किया।

उसके बाद प्रत्येकबुद्धों ने यज्ञ के लिए अनेक हजार प्राणियों को एकत्र करवाते देख सोचा 'ऐसा कर्म करने पर ज्ञान प्राप्त करने के अयोग्य होगा, आओ हमलोग पहले ही जाकर देखें' और वंसकलीर गाथा में कहे गये की तरह भिक्षाटन के लिए राजा के आंगन में क्रमशः आये। खिड़की पर खड़े हुए राजा ने आंगन में उन लोगों को देखा। देखने के साथ उनके हृदय में स्नेह पैदा हुआ। तब उनको बुलवाकर खुले आकाश में प्रज्ञप्त आसन पर बैठवाया और भली-भांति भोजन कराया। भोजन करने के बाद उन्हें पूछा कि "आप लोग कौन हैं?"

'महाराज, हमलोगों का नाम 'चार दिशा' (चातुद्दिसा) है।" "भंते, इस 'चातुद्दिसा' का क्या अर्थ है?' 'महाराज, चारों दिशाओं में किसी से भी किसी प्रकार का भय या त्रास हमें नहीं है।"

"भंते, आपको वह भय क्यों नहीं होता है?"

"महाराज, हमलोग मेत्ता, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करते हैं, इस कारण हमलोगों को वह भय नहीं होता है।" ऐसा कहकर वे आसन से उठे और अपने वासस्थान चले गये।

बाद में राजा ने सोचा कि 'ये श्रमण मेत्ता आदि की भावना करने से भय नहीं होता है' ऐसा कहते हैं और ब्राह्मण अनेक प्राणियों का वध करने कहते हैं, किनकी बात सही है? तब उनको ऐसा हुआ– 'श्रमण शुद्ध से अशुद्ध को साफ करते हैं और ब्राह्मण अशुद्ध से अशुद्ध को। मैले से मैला को

साफ नहीं किया जा सकता, प्रव्रजितों की ही बात सत्य है।' 'सभी प्राणी सुखी हों' आदि पद्धति से मेत्ता आदि चार ब्रह्मविहारों की भावना कर कल्याणभावना से व्याप्त चित्त से उन्होंने अमात्यों को आज्ञा दी कि 'सभी प्राणियों को मुक्त कर दो, शीतल जल पीने के लिए दो, वे हरी घास खायं ओर उनके लिए ठंढी हवा बहे।' अमात्यों ने वैसा ही किया।

तब राजा ने यह सोचकर कि 'कल्याणमित्रों के वचन से मैं पाप कर्म से मुक्त हुआ हूं' वहीं बैठे-बैठे विपश्यना कर प्रत्येकसंबोधि की प्राप्ति की। भोजन के समय आने पर जब अमात्यों ने राजा से यह कहा कि 'महाराज, भोजन कर लें, समय हो गया है' तो उन्होंने अमात्यों से 'मैं राजा नहीं हूं' पहले की तरह सभी बातें कहकर यह उदान व्याकरण गाथा कही–

यहां चातुद्दिसो– चारों दिशाओं में सुख से विहार करनेवाला 'एक दिशा में (ब्रह्मविहार की भावना) व्याप्त कर विहार करता है' (दी० नि० ३.३०८; अ० नि० १.४.१२५, चूळनि० खग्गविसाणसुत्तनिद्देस १२८)। ऐसे तथा इस तरह की पद्धति (नय) से उसके लिए चारों दिशाएं ब्रह्मविहार भावना से परिव्याप्त हैं– इसलिए वह चातुद्दिसो है। उन दिशाओं में कहीं भी वह किसी सत्त्व या सृष्टि के (मनुष्य या मनुष्येतर प्राणी) किसी जीव को भी, भय से चोट नहीं पहुंचाते हैं, अतः **अप्पटिघो** अर्थात बिना द्वेष के है। **सन्तुस्समानो–** बारह प्रकार के संतोषों से संतुष्ट।[१] **इतरीतरेन–** अच्छे-बुरे प्रत्ययों से, कम या अधिक मिले प्रत्ययों से। **परिस्सयानं सहिता अछम्भी–** यहां खतरे काय तथा चित्त को या उनके सुख और सफलता को बाधित करते हैं, उनकी उपेक्षा करते हैं, उन्हीं पर निर्भर हो अर्थात उन्हीं में शयन करते हुए खतरे का काम करते हैं। बाहर सिंह, बाघ आदि और भीतर कामच्छंद आदि काय तथा मन के खतरे का यह अधिवचन है, पर्यायवाची है। उन खतरों को शांति से तथा वीर्य आदि धर्मों से सहन करता है इसलिए **परिस्सयानं सहिता**।

कठोर बनानेवाले भाव के होने तथा भय के अभाव होने से **अछम्भी**। क्या कहा गया है? जैसे वे चार श्रमण जो थोड़ा-बहुत प्रत्यय पाकर ही संतुष्ट रहते हुए इस आचरण के आसन्न कारण से संतोष में स्थित चारों दिशाओं में मेत्ता आदि भावना करने के कारण चातुद्दिसो, मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों के विरोधभय के अभाव से **अप्पटिघो–** बिना द्वेष के होता है। वह कहे गये प्रकार से चातुद्दिसो होने के कारण खतरों को सहन कर बिना द्वेष तथा बिना भय का होता है।

इस प्रकार उनके आचरण गुण को देखकर बुद्धिपूर्वक विचारकर मैंने प्रत्येकबोधि प्राप्त की। अथवा उन श्रमणों की तरह जो थोड़ा-बहुत मिला उससे संतोष करते हुए कहे गये प्रकार से **चातुद्दिसो** अर्थात वे चारों दिशाओं में अपनी मेत्ता व्याप्त करते हैं हुए जानकर इस प्रकार मेत्ता-भावना की कामना करते हुए बुद्धिपूर्वक विचार कर मैंने प्रत्येकबोधि प्राप्त की। इसलिए दूसरे भी इस स्थान की कामना करते हुए **चातुद्दिसो** (मेत्ताभावना करनेवाले) की तरह खतरे सहन करते हुए, बिना द्वेष के और बिना भय के गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे। शेष कहे गये की तरह।

---

१. भिक्षुओं के चार प्रत्यय होते हैं चीवर, पिण्डपात, सेनासन और भेसज्ज प्रत्येक में तीन प्रकार के संतोष कहे गये हैं (१) यथालाभसन्तोषो– अर्थात जो मिला उसी में संतुष्ट रहना (२) यथावल सन्तोसो– अगर भिक्षु बीमार हो उसमें भारी चीवर पहनने की शक्ति न हो तो दूसरे भिक्षु से हलका चीवर लेकर संतोष करें और (३) यथासारुप्पसन्तोसो– अर्थात यदि उसे कीमती चीवर मिला है तो उसे चिर प्रव्रजित बहुश्रुत भिक्षु को दे अपने पुराने फटे-चिटे चीवर से संतोष करे। चारों प्रत्ययों में इस तरह बारह प्रकार के संतोष होते हैं।

४३. दुस्सङ्गहा पब्बजितापि एके, अथो गहट्ठा घरमावसन्ता।
अप्पोस्सुक्को परपुत्तेसु हुत्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"कुछ प्रव्रजित भी मिल-जुलकर रहते हैं। और कुछ गृहस्थ भी ऐसे ही होते हैं। दूसरे के पुत्रों के प्रति अल्प उत्सुकता दिखाते हुए अनासक्त हो गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

दुस्सङ्गहा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के राजा की अग्रमहिषी मर गयी। तब शोक करने का समय बीत जाने पर एक दिन अमात्यों ने राजा से यह प्रार्थना की कि 'राजाओं को अनेक कृत्य करने होते हैं जिनमें अग्रमहिषी अवश्य इच्छितव्य है। अच्छा हो, देव, आप दूसरी देवी लावें।' राजा ने कहा, 'भणे, तो मेरे लिए खोजो, पता करो।' वे खोज ही रहे थे कि पड़ोसी राज्य के राजा की मृत्यु हो गयी। उसकी रानी वहां शासन करती थी। वह गर्भवती थी। अमात्यों ने यह जानकर कि 'यह राजा के अनुरूप है' उसको मांगा। उसने कहा, 'गर्भवती स्त्रियां मनुष्यों के लिए अनाकर्षक होती हैं, यदि तब तक प्रतीक्षा कर सको जब तक मैं बच्चे को जन्म दे दूं, तब तो ऐसा ही हो (जैसा तुम लोग कहते हो), यदि नहीं तो दूसरे की खोज करो।' उन लोगों ने राजा से यह बात कही। राजा ने कहा, 'गर्भवती है तो क्या, उसे ही लाओ।' उन लोगों ने लाया। राजा ने उसका अभिषेक किया और सभी राजमहिषी का भोग दिया। उसके अनुयायीगण नाना प्रकार के उपहारों से शालीनता से उसके साथ व्यवहार करते। समय पर उसने पुत्र को जन्म दिया। राजा उसको अपने ही पुत्र के समान जहां जाते (सभी ईर्यापथों में) गोद में या हृदय से लगाकर ले जाते। तब देवी के परिजनों ने सोचा, 'राजा कुछ ज्यादा ही शालीनता से कुमार के साथ व्यवहार करता है, राजाओं का हृदय अविश्वसनीय होता है, अच्छा हो इनमें फूट पैदा करें।'

तब उन लोगों ने कुमार को कहा, 'तात, आप हमारे राजा के पुत्र हैं, इस राजा के नहीं, यहां इतना विश्वास न करें।' राजा जब कुमार को 'आओ पुत्र' कहते और हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचना चाहते तो वह पहले की तरह जाना नहीं चाहते। 'यह क्या हो गया है' इसकी जब राजा ने परीक्षा की, विमर्श किया तो उसकी प्रकृति जानकर और यह कहकर कि 'अरे, तो मेरे द्वारा शालीनता से व्यवहार किये जाने पर भी प्रतिकूल स्वभाव का हो गया है' उन्होंने निर्वेद को प्राप्त किया और वे राज्य त्याग प्रव्रजित हो गये। 'राजा प्रव्रजित हो गये' यह जानकर बहुत से अनुयायी अमात्य भी प्रव्रजित हो गये। 'राजा परिजनों के साथ प्रव्रजित हुए' ऐसा सोचकर लोग बढ़िया भोजन आदि प्रत्यय लाते। राजा बढ़िया भोजन को ज्येष्ठपन के अनुसार दिलाते अर्थात जो सबसे बड़े उनको पहले दिलाते। तब जो अच्छा पाते, वे संतुष्ट होते। दूसरे नाराज होते (और कहते), 'हमलोग परिवेण में झाड़ू देते हैं तथा और सब काम करते हैं, लेकिन हमलोगों को रूखा-सूखा भोजन ओर मोटा कपड़ा मिलता है।' राजा ने यह बात जानकर कि 'ज्येष्ठपन के अनुसार देने से भी लोग नाराज होते हैं', और यह परिषद मिल-जुलकर रहने लायक नहीं है, पात्र और चीवर ले एक जंगल में प्रवेश किया और विपश्यना आरंभ कर प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। वहां आये लोगों द्वारा कर्मस्थान पूछे जाने पर उन्होंने यह गाथा कही।

अर्थ की दृष्टि से यह गाथा स्पष्ट ही है। योजना यह है– कुछ प्रव्रजित जिनमें असंतोष है वे मिल-जुलकर रहनेवाले नहीं होते, उसी प्रकार घर में रहनेवाले गृहस्थ भी। मैंने इस अच्छे स्वभाव की

कमी को घृणा करते हुए विपश्यना आरंभ की और प्रत्येकबोधि प्राप्त की। शेष पहले कहे गये की तरह ही जानना चाहिए।

४४. ओरोपयित्वा गिहिब्यञ्जनानि, सञ्छिन्नपत्तो यथा कोविळारो।
छेत्वान वीरो गिहिबन्धनानि, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"उस कोविलार वृक्ष की तरह जिसके सभी पत्ते गिर गये हैं, गृहस्थ के चिह्नों को हटा कर, गृहस्थ जीवन के सभी बंधनों को तोड़ वीर पुरुष गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

ओरोपयित्वा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की क्या उत्पत्ति है? वाराणसी में चातुमासिक ब्रह्मदत्त नामक राजा ग्रीष्म ऋतु के पहले महीने में उद्यान गये। वहां रमणीय भूमिभाग पर नीले घने पत्ते से भरे हुए कोविलार वृक्ष को देखा और कहा कि 'मेरी शय्या कोविलार वृक्ष के तले रखो।' (दिन भर) उद्यान में खेलने के बाद सायंकाल में वहीं सोये। फिर ग्रीष्मऋतु के (मध्य) में उद्यान गये। उस समय कोविलार वृक्ष पुष्पित था, उस समय भी वैसा ही किया। और फिर अंतिम महीने में। उस समय कोविलार वृक्ष जो पहले नीले घने पत्तों से ढंका था, सूखे वृक्ष के समान हो गया था। उस समय भी उसको पहले की तरह न देखकर उन्होंने वहीं (पूर्व परिचित जगह में ही) सोने का प्रबंध करने के लिए आज्ञा दी। यह जानते हुए भी (कि वह वृक्ष सूख गया है) अमात्यों ने राजा द्वारा आज्ञा दिये जाने पर भय से वहीं सोने का प्रबंध किया। उद्यान में क्रीड़ा करने के बाद सायंकाल सोते समय उन्होंने उस वृक्ष को देखा और कहा, 'पहले तो यह पत्तों से आच्छादित था और मणिमय (बहुत सुंदर) लगता था। यह मणि वर्ण शाखाओं के बीच प्रवाल के अंकुर के सदृश खचित फूलों से श्रीसंपन्न था। इसके नीचे का भूमिभाग जो पहले मोती के फलक सदृश बालुकाकण से आकीर्ण था, अव शाखाओं से गिरे घने फूल से आच्छादित विछाये गये लाल कंबल की तरह लगता है। आज वह सूख गया है और मात्र इसकी शाखाएं ही शेष रह गयी हैं।' "ओह, यह कोविलार पुराना हो गया है, जरा (बुढ़ापा) से आहत है" सोचकर कि 'जिसको नहीं चाहा, जिसके प्रति आसक्ति नहीं की, वह भी जरा से नष्ट होता है, जिसको चाहा, जिसके प्रति आसक्ति की– उसका तो कहना ही क्या' अर्थात वह तो नष्ट होता ही है, ऐसा सोच उन्होंने अनित्य संज्ञा प्राप्त की। उसके अनुसार ही सभी संस्कारों को दुःख और अनात्म समझकर विपश्यना करते हुए "ओह, मैं भी गृहस्थ के चिह्नों से वैसे ही छुटकारा पाऊं जैसे कोविलार वृक्ष ने अपने घने पत्तों से पाया है" ऐसी इच्छा की और क्रमशः उसी शयन स्थल पर दाहिने पार्श्व में लेटे-लेटे ही प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। जाने के समय जब अमात्यों ने कहा कि 'महाराज, चलने का समय हो गया है' तो 'मैं राजा नहीं हूं' आदि कहकर पहले की तरह ही इस गाथा को कहा।

यहां **ओरोपयित्वा–** हटाकर, दूरकर। **गिहिब्यञ्जनानि–** दाढ़ी-केश, सफेद वस्त्र, आभूषण, माला, गंधविलेपन, स्त्री, पुत्र, दास, दासी आदि– ये ही गृहस्थ के चिह्न हैं। इसलिए ये गृहस्थों के चिह्न कहे जाते हैं। **सञ्छिन्नपत्तो–** जिसके पत्ते गिर गये हैं, **छेत्वान–** मार्गज्ञान से काटकर, तोड़कर, **वीरो–** मार्ग वीर्य से समन्वागत, **गिहिबन्धनानि–** काम (तृष्णा) के बंधनों को। तृष्णाएं ही गृहस्थों के बंधन हैं। यह पद का अर्थ है।

यह अभिप्राय है, "ओह, मैं भी गृहस्थों के चिह्नों को मिटाकर कोविलार वृक्ष की तरह, जिसके

सभी पत्ते गिर गये हैं, हो जाऊं"– ऐसा सोचकर विपश्यना आरंभ की और मैंने प्रत्येकबोधि प्राप्त की। शेष पहले की तरह जानना चाहिए।

४५. सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधु विहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥

"यदि किसी को कुशल, अच्छे स्वभाववाला, धीर सहायक जो सभी खतरों को जीतनेवाला हो, मिल जाय, तो वह उसके साथ प्रसन्न चित्त हो तथा स्मृतिमान होकर विचरण करे।"

सचे लभेथ से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? अतीत काल में भगवान कस्सप के शासन में दो प्रत्येकबोधिसत्त्व प्रव्रजित हुए और बीस हजार वर्षों तक गत-प्रत्यागत व्रत पूरा कर देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत हो उनमें जो बड़े थे, वे बनारस राजा के पुत्र हुए और छोटे पुरोहित के पुत्र हुए। उन लोगों ने एक ही दिन प्रतिसंधि ग्रहण किया था और एक ही दिन दोनों माता की कोख से पैदा होकर साथ-साथ धूल में खेलनेवाले हुए। पुरोहित का पुत्र प्रज्ञावान था। उसने राजा के बेटे से कहा, 'सम्म (मित्र), तुम तो अपने पिता के मरने पर राजा बनोगे और मैं पुरोहित। सुशिक्षित हो सुख से राज्य कर सकें, अतः चलो हम लोकविद्या सीखें'। उसके बाद दोनों पूर्वसंचित अच्छे कर्मवाले होकर गांव-निगम आदि में भिक्षाटन करते हुए प्रत्यंत में बसे (सीमा पर बसे) जनपद के गांव में गये।

प्रत्येकबुद्ध भिक्षाचार के समय उस गांव में प्रवेश करते। तब मनुष्य प्रत्येकबुद्धों को देख, उत्साहित हो आसन देते, बढ़िया खाद्य और भोज्य पदार्थ लाते, उनका आदर और सम्मान करते। उन दोनों को ऐसा हुआ, 'हम दोनों के सदृश उच्चकुलवाला कोई नहीं है फिर भी ये लोग यदि चाहते हैं तो हमें भिक्षा देते हैं और न चाहते हैं तो नहीं देते हैं। ये प्रव्रजितों को इस तरह का सत्कार करते हैं, निश्चय ही ये लोग कोई विद्या जानते हैं, आओ, इनके पास हमलोग उस विद्या को सीखें।'

प्रत्येकबुद्धों के पास से लोगों के चले जाने पर उन लोगों ने मौका पाकर उनसे याचना की, 'भंते, आपलोग जो विद्या जानते हैं, वह हमे भी सिखायें।' प्रत्येकबुद्धों ने कहा कि 'हमलोग अप्रव्रजितों को नहीं सिखा सकते।' उन लोगों ने प्रव्रज्या की याचना की और वे प्रव्रजित हुए। उसके बाद प्रत्येकबुद्धों ने उनको, 'इस प्रकार चीवर पहनना चाहिए, इस प्रकार ओढ़ना चाहिए', आदि पद्धति से विनय के छोटे-मोटे नियम बताये और यह कहकर कि "इस विद्या की प्राप्ति **एकीभावाभिरति** अर्थात एकांत प्रेम से ही होती है, इसलिए अकेले बैठना चाहिए, अकेले चंक्रमण करना चाहिए, अकेले खड़ा रहना चाहिए, अकेले सोना चाहिए"। प्रत्येक को पर्णशाला (कुटी) दी। तव वे अपनी-अपनी पर्णशाला में प्रवेश कर बैठे। पुरोहित पुत्र ने बैठने के समय से ही चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर ध्यान प्राप्त किया। राजा का पुत्र मुहूर्तभर में ही उत्कंठित (बेचैन) हो उसके पास आया। उसको देखकर पुरोहित पुत्र ने पूछा, 'मित्र क्या है?' उसने 'उत्कंठित हूं, मन नहीं लगता है' ऐसा कहा। 'तब यहीं बैठो।' वहां मुहूर्त भर बैठकर उसने कहा 'मित्र, इस विद्या की निष्पत्ति (प्राप्ति) तो एकांत में ही है'। तो पुरोहितपुत्र ने कहा, 'हां मित्र, इसलिए तुम अपने बैठने की जगह ही जाओ, मैं इस विद्या की प्राप्ति करूंगा अर्थात इस विद्या को सीखूंगा।' वह गया किंतु पहले की ही तरह उत्कंठित होकर तीन बार आया।

उसके बाद पुरोहितपुत्र ने उसको वैसे ही प्रेरित किया और उसके चले जाने पर सोचा, "यह अपने काम की तो उपेक्षा करता ही है और बार-बार आकर मेरे काम की भी (उपेक्षा करता है)।" वह

पर्णशाला से बाहर निकल जंगल चला गया। दूसरा अपनी पर्णशाला ही में बैठा किंतु फिर मुहूर्त में ही असंतुष्ट हो उसकी पर्णशाला में आया और इधर-उधर खोजते हुए उसको न देख सोचा, 'जो गृहस्थ जीवन में उपहार लाकर भी मेरा दर्शन नहीं कर पाता था, वह मेरे आने पर भी दर्शन देना नहीं चाहता। अरे चित्त, तुम्हें लज्जा नहीं आती, कि तुमने मुझे चार बार यहां लाया, तो अब मैं तुम्हारे वश में न रहूंगा, निश्चय ही तुमको अपने वश में करूंगा'। ऐसा (निश्चय कर) अपने शयनगृह में प्रवेश कर विपश्यना करना आरंभ किया और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर आकाश मार्ग से नंदमूलक प्रभार गया। दूसरे ने भी जंगल में जाकर विपश्यना की और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। साक्षात्कार कर वे भी वहीं पहुंचे। उन दोनों ने मनोशिलातल पर बैठकर पृथक-पृथक ये दो गाथाएं कहीं–

सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥

४६. "नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञेव नागो"ति॥

"यदि किसी को कुशल (बुद्धिमान), अच्छे स्वभाववाला, धीर मित्र (सहायक) जो सभी खतरों को जीतनेवाला हो, मिल जाय, तो वह उसके साथ प्रसन्न चित्त हो तथा स्मृतिमान होकर विचरण करो।"

"यदि अच्छे स्वभाववाला कुशल मित्र न मिले तो राजा की तरह पराजित राष्ट्र को छोड़कर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

यहां निपकं– स्वभाव से निपुण पंडित जो कसिण की व्यवस्था आदि करने में कुशल हो।

साधु विहारि– अर्पणा ध्यान में तथा और ध्यान की व्यवस्था करने में समन्वागत।

धीरं– धैर्यसंपन्न। यहां बुद्धि से धैर्य संपदा कही गयी है। यहां धैर्यसंपन्न ही है– यह अर्थ है। धिति (धैर्य) कहते हैं अशिथिल[1] पराक्रम को । इस प्रकार वीर्य का यह पर्याय है, अधिवचन है और तब भी पाप को जो धिक्कारे, पाप से घृणा करे वह धीर है। **राजाव रट्ठं विजितं पहाय–** जैसे प्रतिराजा (मुकाबले का राजा) 'विजित राष्ट्र अनर्थ लानेवाला है, अकल्याण लानेवाला है' जान कर राज्य त्याग कर अकेले विचरण करता है, इसी प्रकार बचपन के सहायक का त्याग कर अकेला विचरण करे। अथवा राजा के समान राष्ट्र का त्यागकर जैसे सुतसोम विजित राष्ट्र का त्याग कर अकेला विचरण करते थे, जैसे महाजनक भी अकेले विचरण करते थे, इस प्रकार अकेला विचरण करे– यही उसका अर्थ है। शेष पहले कहे गये के अनुसार जान सकते हैं– इसलिए विस्तार से नहीं कहा गया है।

४७. अद्धा पसंसाम सहायसम्पदं, सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।
एते अलद्धा अनवज्जभोजी, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"निश्चय ही हमें मित्र संपदा की प्रशंसा करनी चाहिए, चाहे वह मित्र हमसे श्रेष्ठ हो या हमारी तरह हो, उसकी संगति करनी चाहिए। अगर वैसे मित्र न मिलें तो बिना किसी में दोष देखे गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

१. जो यह कहे कि चाहे चमड़ी और नस रहे या न रहे (म० नि० १८४; अ० नि० १.२.५; महानि० १९६)

इस गाथा की उत्पत्ति भी वहां तक जहां तक आकाश के नीचे प्रज्ञप्त आसन पर प्रत्येकबुद्धों का बैठना कहा गया है चातुद्दिसा गाथा के समान ही है। यह विशेष है। जैसे वह राजा रात में तीन बार डर गये थे, उस तरह ये नहीं डरे, और न इनका यज्ञ करना समुपस्थित हुआ। उन्होंने प्रत्येकबुद्ध को आकाश के नीचे प्रज्ञप्त आसन पर बैठा देखकर पूछा। 'आप लोग कौन हैं?' महाराज, हमलोग अनवद्यभोगी हैं। 'भंते, अनवद्यभोगी का क्या अर्थ है?' 'महाराज! सुंदर या असुंदर जैसा भोजन मिला, निर्विकार भाव से हमलोग खा लेते हैं।' यह सुनकर राजा को हुआ क्यों न हम इनकी परीक्षा लें कि ये वैसे हैं या नहीं? उस दिन बड़ा खराब भोजन परोसा गया। प्रत्येकबुद्धों ने अमृत की तरह उसे निर्विकार भाव से खाया।

राजा ने सोचा 'हो सकता है एक दिन निर्विकार रहने की प्रतिज्ञा भी की हो, कल परीक्षा करेंगे।' दूसरे दिन निमंत्रण दिया। दूसरे दिन भी वैसा ही परोसा गया। उनलोगों ने वैसे ही निर्विकार भाव से खाया। तब राजा ने सोचा अच्छा भोजन परोसकर परीक्षा लूंगा। फिर निमंत्रित किया और दो दिनों तक महासत्कार कर अच्छा-अच्छा भोजन परोसा। उनलोगों ने वैसे ही निर्विकार भाव से खाया और राजा का मंगल हो, कह लौट गये। राजा ने लौटकर शीघ्र ऐसा सोचा– 'वे श्रमण अनवद्यभोगी हैं, मैं भी क्यों न उनकी तरह होऊं' सोच, महाराज्य का त्यागकर प्रव्रज्या ले विपश्यना भावना करना प्रारंभ किया, प्रत्येकबुद्ध हुए और मंजूषक वृक्ष के मूल में प्रत्येकबुद्धों के बीच अपने आलंबन को प्रकाशित करते हुए यह गाथा कही।

यह गाथा पदों के अर्थ के दृष्टिकोण से स्पष्ट है।

सहायसम्पदं– यहां सहायसंपदा शील आदि स्कंधों से संपन्न जो अशैक्ष्य सहायक (मित्र) हैं, उन्हें ही जानना चाहिए। यहीं यहां योजना है। जिसको सहायसंपदा कहा गया है, उसकी **अद्धा पसंसाम एकांतः** प्रशंसा करते हैं– यह कहा गया है। कैसे? **सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया**ति किसलिए? शील आदि गुणों में अपने से श्रेष्ठ की संगति करने से जो अनुत्पन्न शील आदि धर्म हैं, वे उत्पन्न हो बढ़ते हैं, विपुलता को प्राप्त करते हैं। बराबरवाले की संगति करने से परस्पर बराबर गुणों को धारण करने से कौकृत्य के दूर होने से, प्राप्त का नाश नहीं होता। ऐसे श्रेष्ठ और बराबरीवाले सहायक को न पाकर ढोंग आदि से प्राप्त मिथ्या आजीविका का त्याग कर धर्म और शांति से प्राप्त (उत्पन्न) भोजन करते हुए प्रतिघ आदि अनुशय को उत्पन्न न कर अनवद्यभोगी हो कल्याण कामी कुलपुत्र गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे। मैंने भी ऐसे ही विचरण करते हुए इस संपत्ति को प्राप्त किया।

४८. दिस्वा सुवण्णस्स पभस्सरानि, कम्मारपुत्तेन सुनिट्ठितानि।
सङ्घट्टमानानि दुवे भुजस्मिं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"एक हाथ में सोनार द्वारा अच्छी तरह निर्मित सोने की दो चमकती चूड़ियों को टकराते देखकर, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

दिस्वा सुवण्णस्स से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

बनारस के एक राजा ग्रीष्मऋतु में दिवा विहार के लिए गये। उनके निकट ही सुंदर दासी पीला चंदन पीस रही थी। उसके एक हाथ में एक चूड़ी थी और दूसरे में दो। ये दोनों चूड़ियां तो परस्पर

टकराती थीं, लेकिन जिस हाथ में एक ही चूड़ी थी, वहां टकराना नहीं होता था। राजा ने यह देखकर कि 'समूह में रहने से टकराव होता है, अकेले रहने में कोई टकराव नहीं', दासी को बारंबार देखते हुए इस बात पर चिंतन किया। उस समय सभी अलंकारों से विभूषित रानी उनको पंखा झलते खड़ी थी। उन्होंने यह देखकर सोचा कि 'मालूम होता है राजा सुंदर दासी पर मोहित हो गये हैं'। यह सोचकर उन्होंने दासी को उठाकर स्वयं पीला चंदन पीसना प्रारंभ किया। उनके दोनों हाथों में अनेक चूड़ियां थीं।

उनके टकराने से बहुत आवाज हुई। राजा ने (यह देखकर) अच्छी तरह से निर्वेद प्राप्त कर लिया और दाहिने करवट में लेटे-लेटे विपश्यना करना आरंभ किया और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। लोकोत्तर सुख से सुखी हो लेटे राजा के पास हाथ में चंदन लिए हुए देवी पहुंचीं और कहा, 'महाराज, चंदन का लेप करूंगी'। राजा ने कहा, 'छोड़ो, मत लेपो'। उनने पूछा, 'महाराज, क्यों?' उन्होंने कहा, "मैं राजा नहीं हूं।" इस प्रकार उन दोनों के कथा-संलाप को सुनकर अमात्य आये। जब उन्होंने भी उन्हें 'महाराज' से संबोधित किया तो राजा ने कहा, 'भणे, मुझे राजा मत कहो।' शेष प्रथम गाथा में कहे गये की तरह ही है।

यह गाथा का अर्थ वर्णन है। **दिस्वा–** देखकर, **सुवण्णस्स–** सोने की चूड़ी **पभस्सरानि–** चमकनेवाली। शेष तो स्पष्ट ही है। यह अर्थ योजना है। हाथ में सोने की चूड़ी को देखकर 'भीड़ में रहने से टकराव होता है, अकेले रहने से नहीं' सोचकर मैंने विपश्यना करना आरंभ किया और प्रत्येकबोधि की प्राप्ति की। शेष कहे गये की तरह ही।

४९. एवं दुतियेन सहा ममस्स, वाचाभिलापो अभिसज्जना वा।
एतं भयं आयतिं पेक्खमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"इस प्रकार किसी सहायक के साथ मेरी ऐसी बातचीत होगी, जो उसको पसंद न हो और जिसका वह विरोध करे या हम दोनों के बीच आसक्ति हो। भविष्य में इस भय को देखकर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

एवं दुतियेना से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के एक राजा ने युवाकाल में ही प्रव्रजित होने की इच्छा से अमात्यों को आज्ञा दी, 'राजमहिषी को लेकर राज्य संरक्षण करो, मैं प्रव्रजित होऊंगा।' अमात्यों ने बताया, 'नहीं महाराज, नहीं। बिना राजा के राज्य की रक्षा हमलोग नहीं कर सकेंगे, पड़ोस के राजा आकर लूट लेंगे। जब तक आपको एक पुत्र नहीं हो जाता है, तब तक प्रतीक्षा करें।' कोमल चित्त राजा ने उसे स्वीकार कर लिया। तब रानी ने गर्भ धारण किया। राजा ने फिर उनलोगों को आज्ञा दी, 'देवी ने गर्भ धारण कर लिया है। जब पुत्र पैदा हो जाय तो उसका अभिषेक कर राज्य का संरक्षण करो।' अमात्यों ने कहा, 'महाराज, यह कहना कठिन है कि देवी को पुत्र होगा या पुत्री। जब तक प्रसव हो नहीं जाता, तब तक आप प्रतीक्षा करें।' तब रानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस समय भी राजा ने उसी तरह अमात्यों को आज्ञा दी। अमात्यों ने फिर राजा को कहा, 'महाराज, तब तक प्रतीक्षा करें जब तक (कुमार) योग्य (सामर्थ्यवान) नहीं हो जाते।' उसके बाद राजकुमार के योग्य होने पर अमात्यों को एकत्रित कर राजा ने कहा, 'यह सामर्थ्यवान हो गया है, राज्याभिषेक कर आपलोग काम करो' और अमात्यों को और

कुछ कहने का बिना अवसर दिये दूकान से काषाय वस्त्र आदि सभी परिष्कारों को मंगवाकर अंतःपुर में ही प्रव्रजित हो महाजनक की तरह निष्क्रमण किया। नाना प्रकार से शोक व्यक्त करते हुए सभी अनुयायी राजा के पीछे-पीछे चले।

जहां राज्य की सीमा थी, वहां जाकर राजा ने अपनी सैर करने की लाठी से एक रेखा खींच दी और कहा 'इस रेखा का अतिक्रमण न करो।' भीड़ ने रेखा की मर्यादा रखी और राजा के आदेश को शिरोधार्य कर जमीन पर लेटकर विलाप करते हुए कुमार से यह कहकर कि 'तात, अब तुम्हीं राजा हो, तुमको उनकी आज्ञा क्या करेगी' रेखा का अतिक्रमण करवा दिया। कुमार 'तात, तात,' कहते दौड़ते हुए राजा के पास गये। राजा ने कुमार को देखकर कहा, 'इतने लोगों का संरक्षण करते हुए मैंने राज्य किया, अब मैं क्या एक बालक का पालन-पोषण न कर सकूंगा' और कुमार को लेकर जंगल में प्रवेश कर गये। वहां एक ऐसी पर्णशाला में, जिसमें पहले प्रत्येकबुद्ध रहते थे, पुत्र के साथ रहने लगे। तब कुमार जो श्रेष्ठ शयनासन आदि से ही परिचित थे, घास के बिछावन पर या रस्सी से बीनी हुई खटिया पर सोते हुए रोते थे। जाड़ा, गर्मी आदि से परेशान होकर 'पिताजी, जाड़ा लगता है, गर्मी लगती है, मक्खियां काट रही हैं, भूख लगी है, प्यास लगी है' कहते। राजा उनको शांत कराते हुए रात बिताते। दिन को भिक्षाटन करके उनके लिए भोजन लाते, वह मिला-जुला भोजन होता जिसमें ज्वार का भात भी होता, मटर और मूंग भी। बिना आस्वादन किये, भूख के कारण (वैसा भोजन) खाने से वे कुछ ही दिन में धूप में रखे कमल की तरह मुरझा गये। प्रत्येक बोधिसत्त्व विचारबल से अर्थात मीमांसा करके निर्विकार हो खाते।

उसके बाद कुमार को यह बताते हुए कहा, "तात, शहर में बढ़िया भोजन मिलता है, हमलोग वहां जायेंगे।" कुमार ने कहा, 'हां पिताजी।' उसके बाद उनको आगे कर जिस राह से आये थे उसी से लौट गये। कुमार की माता ने भी यह सोचा कि 'कुमार को लेकर राजा अब बहुत दिनों तक नहीं रह सकेंगे, कुछ ही दिनों में लौट आयेंगे' यह सोचकर राजा ने जहां सैर करने की लाठी से रेखा खींची थी वहां बाड़ बनाकर रह रही थी। तब राजा ने उसके द्वारा बनाये गये बाड़े से कुछ ही दूर पर खड़ा हो अपने पुत्र को यह कह कि 'तात, तुम्हारी माता वहां बैठी है, जाओ' भेजा। जब तक कुमार वहां पहुंच नहीं गया तब तक राजा देखते हुए इसलिए खड़े रहे कि 'उसको कोई चोट न पहुंचावे।' कुमार दौड़ते हुए मां के पास गये। पहरेदारों ने कुमार को देख रानी को सूचित किया। देवी बीस हजार नर्त्तकियों से परिवारित हो वहां गयीं और कुमार को लिया। और राजा का हाल-चाल पूछा। 'पीछे से आ रहे हैं' सुनकर उन्होंने लोगों को भेजा। राजा उसी समय अपने वास स्थान पर चले गये। लोग राजा को न देख लौट गये। उसके बाद देवी निराश हो गयीं, पुत्र को ले नगर गयीं और राज्याभिषेक किया। राजा ने भी अपने निवासस्थान जाकर वहीं बैठे-बैठे विपश्यना की और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर मंजूषक वृक्ष के मूल में प्रत्येकबुद्धों के बीच यह उदान गाथा कही।

गाथा पद तथा अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट है। इसका अभिप्राय यह है कि कुमार के मेरे साथ रहने से उसके द्वारा गर्मी-जाड़ा आदि की बात किये जाने से मेरे द्वारा उसे जो शांत कराया जाता था, वह मेरा वाचाभिलाप था– जो पसंद नहीं था। उसमें स्नेह के कारण मुझे उससे आसक्ति थी। यदि मैं इसका त्याग न करूंगा तो भविष्य में भी ऐसा ही होगा जैसे अब, इस प्रकार किसी के साथ रहने से बात-चीत

होगी, आसक्ति होगी और क्रोध होगा। दोनों ही विशेष की प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न करनेवाले हैं– यह भय देखकर उसे छोड़, विचारपूर्वक मार्गारूढ़ हो मैंने प्रत्येकबोधि की प्राप्ति की। शेष कहे हुए की तरह।

५०. कामा हि चित्रा मधुरा मनोरमा, विरूपरूपेन मथेन्ति चित्तं।
आदीनवं कामगुणेसु दिस्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"अनेक प्रकार की मधुर और मनोरम कामतृष्णाएं मन को मथती हैं, परेशान करती हैं। कामतृष्णा में खतरा देख कर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

कामा हि चित्रा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की क्या उत्पत्ति है?

वाराणसी में श्रेष्ठिपुत्र ने युवाकाल में ही श्रेष्ठी का स्थान प्राप्त किया। उसको तीन ऋतुओं के लिए तीन प्रासाद थे। वह वहां सभी संपत्तियों से देव कुमार की तरह परिचारित (सेवित) होता। युवक होकर भी उसने माता-पिता से प्रव्रजित होने की आज्ञा मांगी। उनलोगों ने उसे मना किया। वह वैसे ही दवाब डालता रहा या हठ करता रहा। पुनः माता-पिता यह कह कर कि, 'तात, तुम सुकुमार हो, प्रव्रज्या दुष्कर है, छूरे की धार पर चलने के समान है' कहकर उसको नाना प्रकार से मना करते रहे। लेकिन वह उसी प्रकार हठ करता रहा। माता-पिता ने सोचा– 'यदि यह प्रव्रजित होता है तो हमलोगों को दुःख होगा। लेकिन यदि हमलोग इसको रोकेंगे तो इसको दुःख होगा। तो हमलोगों को ही दुःख हो, इसको न हो' ऐसा सोच आज्ञा दे दी। तब वह सभी परिजनों के रोने पर ध्यान न दे, इसिपतन गया और प्रत्येकबुद्धों से प्रव्रज्या ली। उसको बड़ा शयनासन न मिला। खाटी पर (मचिया पर) चटाई बिछाकर सोया। बड़े और भव्य पलंग पर सोने की आदत होने से पूरी रात दुःखी रहा। सुबह में मुंह धोकर, स्नान कर तैयार हो पात्र तथा चीवर ले प्रत्येकबुद्ध के साथ भिक्षा के लिए गया। वहां बड़ों को पहले आसन और भोजन मिलता, और नये वने युवा भिक्षु को साधारण आसन और रूखा-सूखा भोजन मिलता। वह इस रूखे-सूखे भोजन से भी दुःखी हुआ। थोड़े ही दिनों में कृश तथा दुर्बल हो वह ऐसे जीवन से ऊब गया क्योंकि उसका श्रमण धर्म प्रौढ़ नहीं हुआ था, विकसित नहीं हुआ था। उसके बाद माता-पिता को दूत भेजा और गृहस्थ हो गया। कुछ ही दिनों में (खा-पीकर) वह शक्तिसंपन्न हुआ और फिर से प्रव्रजित होने की इच्छा की। उसी क्रम से प्रव्रजित हुआ और गृहस्थ बना। इस तरह तीसरी बार जब प्रव्रजित हुआ तो ठीक से सम्यक मार्ग पर आरूढ़ हो प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर इस उदान गाथा को कहा और फिर प्रत्येकबुद्धों के बीच इसी गाथा का व्याकरण (स्पष्टीकरण) किया।

यहां **कामा–** दो प्रकार की तृष्णायें हैं, वस्तुकाम और क्लेशकाम। वस्तुकाम के अंतर्गत आकर्षक रूप आदि धर्म हैं और क्लेशकाम के अंतर्गत उनके प्रति जो राग आदि हैं वे सभी आते हैं। यहां वस्तुकाम से अभिप्राय है।

वस्तुकाम रूप आदि अनेक प्रकार के होने के कारण **चित्रा–** तरह-तरह के। लोगों द्वारा आस्वादित होने के कारण– **मधुरा–** मीठा, प्रिय, मूर्खों तथा पृथकजनों के मन को आनंद देती हैं इसलिए **मनोरमा–** आनंद देनेवाली। **विरूपरूपेन–** देखने में कुरूप तथा रूपवान होने के कारण अनेक प्रकार के स्वभाव के कहे गये हैं। रूप आदि के कारण अनेक प्रकार के रूपों में से वे नीला पीला आदि होने के कारण विविध प्रकार के होते हैं। इस प्रकार वे अपनी कुरूपता तथा सौंदर्य से वैसा ही स्वाद पैदा कर मन को मथते हैं, परेशान करते हैं, अर्थात मन को प्रव्रज्या में रमने नहीं देते। शेष यहां प्रकट ही है। पूर्व की गाथाओं

में कहे गये की तरह ही दो-तीन पदों को जोड़कर इसकी व्याख्या जाननी चाहिए।

५१. ईती च गण्डो च उपद्दवो च, रोगो च सल्लञ्च भयञ्च मेतं।
एतं भयं कामगुणेसु दिस्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"यह कामतृष्णा मेरे लिए विपत्ति है, फोड़ा है, उपद्रव (दुर्भाग्य) है, रोग है, शल्य है और भय है। काम गुणों में ऐसे भय (खतरे) को देखकर, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

ईती च से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के राजा को फोड़ा हुआ। बहुत पीड़ा हो रही थी। वैद्यों ने कहा कि बिना शल्यक्रिया के ठीक नहीं होगा। राजा ने उन वैद्यों को अभय दान देकर शल्यक्रिया करवाई। वैद्यों ने फोड़ा चीरा, पीप और लहू निकाला, पीड़ा रहित किया और घाव पर पट्टी बांध कर 'क्या खायेंगे, कैसे रहेंगे' के बारे में उनको अच्छी तरह से बताया। राजा रूखा-सूखा खाकर दुर्बल हो गये और उनका फोड़ा सूख गया। अच्छा होकर वे अच्छा (स्निग्ध) भोजन (घी तेलवाला) खाने लगे। ताकत पाकर उन्होंने कामभोगों का सेवन किया। उनका फोड़ा फिर पहले की तरह ही हो गया। इस प्रकार जब तक तीसरी बार शल्यक्रिया नहीं करवायी और वैद्यों द्वारा ध्यान नहीं दिया गया, उन्होंने निर्वेद प्राप्त किया और राज्य त्याग कर प्रव्रजित हो, अरण्य में प्रवेश कर विपश्यना आरंभ की और सात वर्षों में ही प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह उदान गाथा कहकर नंदमूलक प्राग्भार चले गये।

यहां आता है इसलिए **ईति** कहते हैं– दुर्भाग्य के हेतु आनेवाले अकुशल कर्म का यह अधिवचन है, पर्याय है। इसलिए कामगुण (इंद्रिय सुख) अनेक प्रकार के दुर्भाग्य लाने के कारण, तथा खूब इकट्ठा या जमा होने के कारण **ईति** है। फोड़ा वह है जिससे गंदगी रिसती रहती है, और जो सूजा हुआ, पका हुआ तथा फटा हुआ होता है। इसलिए इससे क्लेश रूपी गंदगी टपकते रहने के कारण, उत्पाद जरा तथा भङ्ग के कारण सूजने, पकने तथा फटने के कारण यह गंड कहलाता है। उपद्रव करता है अतः **उपद्दवो,** अकल्याण करते हुए पराजित करता है, जीतता है, इस तरह डुबा देता है जैसे बाढ़– यह राजदंड आदि का अधिवचन है, पर्याय है। इसलिए कामगुण से युक्त अविदित निर्वाण रूपी कल्याण को लाने में सभी प्रकार के उपद्रवों के कारण होने से उपद्रव है। चूंकि ये क्लेशरूपी रुग्णभाव को उत्पन्न करते हुए शील नामक आरोग्य का, लोलुपता पैदा कर स्वाभाविक (शारीरिक) आरोग्य का ह्रास करता है, इसलिए इस तरह आरोग्य का ह्रास करने के अर्थ में **रोगो–** रोग है। अंदर में प्रवेश कर जाने के कारण, भीतर-ही-भीतर चुभते रहने के कारण तथा कठिनाई से निकलनेवाले होने के कारण **सल्लं–** शल्य है। इस लोक में तथा परलोक में भय लाने के कारण **भयं–** डर। मेरे लिए यह– **मेतं**। शेष स्पष्ट है। इसकी व्याख्या पहले कहे गये की तरह ही जाननी चाहिए।

५२. सीतञ्च उण्हञ्च खुदं पिपासं, वातातपे डंससरीसपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसम्भवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जाड़ा, गर्मी, भूख, प्यास, हवा, धूप, डाँस (एक प्रकार की मक्खी) और सांप– इन सबों को सहकर, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

सीतञ्च से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में सीतालुक ब्रह्मदत्त नामक राजा थे। प्रव्रजित हो वे जंगल की कुटी में विहार करते थे। उस प्रदेश में जाड़े की ऋतु में जाड़ा, ग्रीष्म ऋतु में गर्मी होती थी, चूंकि जगह खुली थी। गांव में भिक्षा के लिए जाते तो आवश्यकतानुसार भोजन न मिलता। पीने का पानी भी दुर्लभ था। हवा, धूप, डाँस और सांप भी कष्ट देते। उनको ऐसा हुआ, "यहां से मात्र आधा योजन की दूरी पर संपन्न प्रदेश है, वहां ये सभी परेशानियां नहीं हैं। वहां जाना चाहिए, सुख से विहार करते हुए विशेष की प्राप्ति करना चाहिए।" उनके मन में फिर ऐसा विचार आया, 'प्रव्रजित प्रत्ययों के वश में नहीं होते, ऐसे चित्त को वे वश में रखते हैं, ऐसे चित्त के वश में नहीं रहते। मैं नहीं जाऊंगा' ऐसा प्रत्यवेक्षण कर वे नहीं गये। तीन बार इस तरह के उत्पन्न चित्त का प्रत्यवेक्षण कर वे लौट गये। उसके बाद वहीं सात वर्षों तक रहकर, सम्यक रूप से मार्गारूढ़ हो प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर इस उदान गाथा को कहकर नंदमूलक प्राग्भार चले गये।

यहां **सीतञ्च–** जाड़ा दो प्रकार का होता है, भीतरी धातुओं के क्षोभ से उत्पन्न और बाहरी धातुओं के क्षोभ से उत्पन्न। उसी प्रकार **उण्हं–** गर्मी भी दो प्रकार की होती है। **डंस–** गोमक्खी, डाँस।

सरीसपा– जो कोई लंबी जाति का सरीसृप सरक कर चलता है। शेष स्पष्ट ही है। उद्धरण भी पहले कहे गये की तरह समझना चाहिए।

५३. नागोव यूथानि विवज्जयित्वा, सञ्जातक्खन्धो पदुमी उळारो।
यथाभिरन्तं विहरं अरञ्ञे, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"विशाल कंधावाला श्रेष्ठ हाथी जैसे हाथियों के झुंड को छोड़कर इच्छानुसार जंगल में विहार करता है, वैसे ही गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

नागोव से आरंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में एक राजा बीस वर्ष राज्य कर मर गये। वे नरक में बीस वर्ष तक दुःख भोगने के बाद हिमालय प्रदेश में हाथी की योनि में उत्पन्न हो विशालस्कंध एवं कमल के रंग की तरह शरीरवाला हो, हाथियों के झुंड का स्वामी, महानाग हुआ। उसके द्वारा तोड़ी गयी शाखाओं को शिशु हाथी ही खाते। जब वह पानी में डूबता तो हथिनियां उसे मिट्टी से लेप देतीं। सब कुछ पालिलेय्यक नाग की तरह ही हुआ। वह हाथियों के झुंड से विरक्त हो उन्हें छोड़कर चला गया। तब उसके पैरों के चिह्नों का अनुसरण कर हाथियों के झुंड ने भी पीछा किया। इस प्रकार तीन बार वह चला और तीनों ही बार झुंड ने पीछा किया। तब उसने सोचा, "अब मेरा नाती (दौहित्र) बनारस में राज्य कर रहा है, मुझे अपने पुराने लोगों के उद्यान में जाना चाहिए, वह मेरी रक्षा करेगा"। तब रात में हाथियों के झुंड को सोते हुए छोड़ उस उद्यान में गया। उद्यानरक्षक ने उसे देख राजा को कहा। राजा ने 'हाथी पकड़ूंगा' कहकर सेना की सहायता से चारों तरफ घेर लिया। हाथी राजा के सामने गया। राजा यह सोचकर कि 'मेरे सामने आ रहा है' तीर संधान कर खड़े हुए। तब हाथी ने यह सोच कि 'यह मुझे तीर से बींधेगा', मनुष्य की भाषा में कहा, 'ब्रह्मदत्त, मुझे मत बींधो, मैं तुम्हारा पितामह हूं।' राजा ने सबको पूछा, 'क्या कहता है?' हाथी ने राज्य की, नरक में जाने की बात तथा उसके बाद हाथी की योनि में पैदा होने आदि की

सभी बातें कहीं। राजा ने कहा, "अच्छा, डरो मत, कोई तुम्हें तीर नहीं बींधेगा" और यह कह हाथी के घेरे की, पहरेदारों की और हाथी के लिए आवश्यक सामानों की व्यवस्था की।

एक दिन राजा ने, जब वे हाथी पर सवार थे तब, सोचा, "इसने बीस वर्षों तक राज्य किया, फिर नरक में दुःख भोगा और अवशेष विपाक के कारण वह तिरश्चीन (पशु) की योनि में जनमा और वहां भी भीड़ में रहना न सहन कर यहां आया। ओह, भीड़ में, झुंड में, रहना कितना दुःखदायी है, एकांत में रहना ही सुख है।" ऐसा विचार कर वहीं विपश्यना करना आरंभ किया और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। जब वे लोकोत्तर सुख से सुखी थे तो अमात्यों ने उनके पास आकर, प्रणाम (प्रणिपात) कर कहा, 'महाराज, रथ पर चढ़ने का समय हो गया है।' उसके बाद उन्होंने 'मैं राजा नहीं हूं' कहकर पहले की तरह ही यह गाथा कही–

शब्दार्थ की दृष्टि से यह स्पष्ट ही है। यह इसका अभिप्राय जानने के लिए व्याख्या है। न्याय की दृष्टि से, सुनी सुनायी बात के अनुसार नहीं। जिस प्रकार यह हाथी मनुष्यों के प्रिय शील से दांत हो वैसी जगह नहीं जाता है जो अदांत है, जो विशाल शरीर के कारण नाग है, उसी प्रकार मैं कब आर्यों के प्रिय शीलों से दांत[1] हो, पाप न कर उस जगह नहीं जाऊंगा जो अदांत है, और पुनः यहां नहीं आऊंगा, और गुण-शरीर की वृद्धि कर (सही) अर्थ में नाग बनूंगा। जैसे यह झुंड को छोड़कर एकांत सुख के लिए इच्छानुसार अरण्य में विहार करते हुए गैंडे के सींग की तरह अकेला विचरण करता है, कब मैं भी समूह का त्याग कर, भीड़ से दूर हट, एकांत सुख से जंगल में विहार करते हुए अपना जो-जो सुख है उस-उसकी जितनी इच्छा करूंगा उतनी ही जंगल में निवास कर गैंडे केसींग की तरह अकेला विचरण करूंगा– यह अर्थ है। जिस प्रकार यह अच्छी तरह संस्थापित अर्थात अच्छे आकार-प्रकार के स्कंधों से युक्त हो **सञ्जातक्खन्धो** है, कब मैं इसी प्रकार महान अशैक्ष्य शीलस्कंध से विशाल स्कंधवाला होऊंगा। जिस प्रकार यह पद्म सदृश शरीर के होने के कारण पद्म योनि में जन्म लेने के कारण पदुमी कहलाता है, उसी प्रकार कब मैं पद्म की तरह ही ऋजु शरीरवाला हो, आर्य-जाति पद्म में उत्पन्न हो पदुमी जैसा बनूंगा। जिस प्रकार यह सामर्थ्य, बल तथा गति आदि से श्रेष्ठ है, कब मैं इसी प्रकार परिशुद्ध कायिक आदि आचरणों से, शील समाधि तथा निर्वेधिक (बींधनेवाली) प्रज्ञा आदि से श्रेष्ठ होऊंगा? इस प्रकार सोचते हुए मैंने विपश्यना का आरंभ कर प्रत्येकबोधि को प्राप्त किया।

५४. अट्ठानतं सङ्गणिकारतस्स, यं फस्सये सामयिकं विमुत्तिं।
आदिच्चबन्धुस्स वचो निसम्म, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जो संगणिकारत है अर्थात गण में, समाज में, समूह में रहता है, उसके लिए यह असंभव है कि वह थोड़े क्षणों के लिए भी विमुक्ति पाय। आदित्य बंधु (बुद्ध) की बात पर ध्यान देकर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

अट्ठानतं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी राजा के पुत्र ने युवा होते हुए भी प्रव्रजित होने की इच्छा से माता-पिता की आज्ञा मांगी। माता-पिता ने उन्हें रोका। रोके जाने पर भी वे आज्ञा मांगते ही रहे और अनुरोध करते ही रहे कि 'मैं प्रव्रजित होऊंगा।' तब उनको पूर्व में कहे गये श्रेष्ठिपुत्र की तरह सब कुछ कहकर आज्ञा दी। प्रव्रजित

१. जिसने बाह्येन्द्रियों का दमन किया है।

हो जाने पर उनसे उद्यान में ही रहने की स्वीकृति ली। उन्होंने वैसा ही किया। उनकी माता प्रातःकाल ही बीस हजार नर्त्तकियों से परिवारित हो उद्यान जाती और पुत्र को यागु (खिचड़ी) खिला, बीच में खाद्य-पदार्थ खिलाकर, मध्याह्न वेला तक उनके साथ बातचीत करने के बाद नगर लौटती। दोपहर में पिता आकर, उनको खिलाकर अपने भी खाकर पूरा दिन उनके साथ बात-चीत कर शाम के समय पहरेदारों को छोड़ नगर लौटते। वे इस प्रकार रात और दिन लोगों से घिरे ही विहार करते। उस समय आदिच्चवंधु नामक प्रत्येकबुद्ध नंदमूलक प्राग्भार पर रहते थे। ध्यान लगाकर उन्होंने उसे देखा, 'यह कुमार प्रव्रजित नहीं हो सका, जटा भी काट नहीं सकता है अर्थात तृष्णा को भी नष्ट नहीं कर सकता।' उसके बाद ध्यान लगाया कि अपने धर्म से यह निर्वेद प्राप्त करेगा या नहीं। तब यह जानकर कि 'धर्म से शीघ्र ही निर्वेद प्राप्त करेगा' वे 'उसको आलंवन दूंगा' सोचकर पहले कहे गये की तरह मनोशिलातल से आकर उद्यान में खड़े हुए। राजपुरुषों ने देखा और राजा को सूचना दी कि 'महाराज, प्रत्येकबुद्ध आये हैं।' राजा ने 'अब मेरा पुत्र प्रत्येकबुद्ध के साथ बिना उत्कंठित हुए, बिना परेशान हुए रहेगा' सोच खुश होकर प्रत्येकबुद्ध की भलीभांति सेवा की और वहीं पर रहने की प्रार्थना कर कुटी, दिवाविहार के लिए स्थान तथा चंक्रमण आदि करने के लिए सब कुछ बनवा कर उनको बसाया।

वहां रहते एक दिन अवकाश देखकर उन्होंने कुमार से पूछा, 'तुम कौन हो?' कुमार ने कहा, "मैं प्रव्रजित हूं।" 'प्रव्रजित इस तरह के नहीं होते।' 'तो भंते, कैसे होते हैं? मेरे लिए क्या उचित नहीं है?' जब ऐसा कुमार ने पूछा तो प्रत्येकबुद्ध ने कहा– 'तुम्हारे लिए क्या उचित नहीं है यह तुम नहीं देखते? क्या तुम्हारी मां बीस हजार नर्त्तकियों के साथ पूर्वाह्न में आकर इस उद्यान के एकांत को भंग नहीं करती? तुम्हारे पिता बहुत बड़ी सेना के साथ सायंकाल नहीं आते और पहरेदार रात भर यहां नहीं रहते? प्रव्रजित तुम्हारी तरह नहीं होते, इस तरह होते हैं।' ऐसा कहा और उसके वहीं खड़े रहते हुए योगवल से हिमालय में एक विहार दिखाया। वहां उसने आलंबन का सहारा ले प्रत्येकबुद्धों को खड़े, चंक्रमण करते, चीवर रंगते तथा फटे चीवर को सीते आदि कामों को देखकर कहा, "आपको यहां नहीं आना चाहिए। आपने प्रव्रज्या ली है।" "हां, प्रव्रज्या ली है। प्रव्रजित काल से ही श्रमण अपने निःसरण के लिए इच्छित प्रार्थित प्रदेश में जाने का लाभ प्राप्त करते हैं, इतना ही उचित है" कहकर आकाश में खड़े हो यह आधी गाथा कही।

"अट्ठान तं सङ्गणिकारतस्स, यं फस्सये सामयिकं विमुत्ति"न्ति।

जो गण में, समूह में रत रहता है, उसके लिए यह असंभव है कि वह थोड़े क्षणों के लिए भी विमुक्ति पाये और यह कह कर सशरीर देखे जाते हुए नंदमूलक प्राग्भार (पर्वत की ढलान) पर चले गये। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध के जाने पर वह अपनी पर्णशाला में प्रवेश कर लेट गया। पहरेदार यह जानकर कि 'कुमार सो गये हैं, अब कहां जायेंगे' प्रमत्त हो सो गया। उसके प्रमत्त भाव को जानकर उसने पात्र-चीवर लिया ओर जंगल चले गये। वहां एकांत में विपश्यना करना आरंभ किया, प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया और प्रत्येकबुद्धों के वासस्थान गया। वहां यह पूछे जाने पर कि 'कैसे प्राप्त किया' तो आदित्यबंधु द्वारा कही गयी आधी गाथा को पूरा कर पूरी गाथा कही।

इसका अर्थ यह है–

अट्ठानतं– यह **अट्ठानं तं** का मिला रूप है, **अरियसच्चान दस्सनं** आदि **सच्चानं दस्सनं**। (खु० पा० ५.११; सु० नि० २७०) की तरह जिसमें अनुनासिक का लोप हुआ है। उसका अकारण कहा गया है।

सङ्गणिकारतस्स– गणप्रेमी का, समूह के प्रेमी का।

यं– यह करण कारक का द्योतक है "जिससे लज्जित होना है, लज्जा के योग्य होता है" (ध० स० ३०) आदि की तरह।

फस्सये– प्राप्त करे।

सामयिकं विमुत्तिं– लोकीय समापत्ति (ध्यान)। अर्पणा ध्यान की अवस्था में ही ध्यान के शत्रुओं से मुक्त होने से वह 'सामयिका विमुत्ति' कहलाती है। वही सामयिक विमुक्ति है।

अट्ठानं तं– गण प्रेमियों के लिए वह हेतु (कारण) नहीं होता जिससे वे प्राप्त करें।

आदित्यबंधु प्रत्येकबुद्ध का यह वचन सुनकर कि समूह में रहनेवाले के लिए सामयिक विमुक्ति पाना असंभव है, गण-प्रेम को छोड़ बुद्धिपूर्वक मार्ग पर आरूढ़ होकर मैंने प्राप्त किया– यह कहा। शेष पहले कहे हुए की तरह।

५५. दिट्ठीविसूकानि उपातिवत्तो, पत्तो नियामं पटिलद्धमग्गो।
उप्पन्नञाणोम्हि अनञ्ञनेय्यो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"मिथ्यादृष्टियों के खेल-तमाशे को अतिक्रांत कर, नियाम (निर्वाण प्राप्ति के लिए जो नियम है, तरीका है) प्राप्त कर, मार्ग का लाभ कर और यह जान कर कि 'मुझमें ज्ञान उत्पन्न हो गया है, दूसरे द्वारा अब मैं ले जाया जानेवाला नहीं हूं अर्थात स्वयं ही मार्ग जान गया हूं', गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

दिट्ठी विसूकानि से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के किसी राजा ने एकांत में सोचा, 'जैसे जाड़ा का प्रतिघातक गर्मी है वैसे ही जन्म-मरण के चक्कर का प्रतिघातक, कोई जन्म-मरण के चक्कर का नाश करनेवाला है या नहीं?' उन्होंने अमात्यों से पूछा, 'जन्म-मरण के चक्कर के नाश करनेवाले को जानते हो?' उन लोगों ने उत्तर दिया, 'हां महाराज, जानते हैं।' राजा ने पूछा, "वह क्या है?" उसके बाद उन लोगों ने 'लोक अंतवान है' आदि विधि से **शाश्वतवाद** एवं **उच्छेदवाद** के बारे में कहा। तब राजा ने यह जानकर कि 'ये लोग नहीं जानते हैं, सभी मिथ्या-दृष्टियों को माननेवाले हैं, स्वयं ही उनकी प्रतिकूलता एवं अयुक्तता देखकर जन्म-मरण के चक्कर को जो नाश करनेवाला है, उसी को खोजना है' यह सोचकर राज्य त्याग, प्रव्रजित हो विपश्यना की और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। प्रत्येकबुद्धों के बीच अपनी प्राप्ति को स्पष्ट करते हुए यह उदान गाथा कही।

अर्थः- **दिट्ठीविसूकानि–** बासठ प्रकार की मिथ्या दृष्टियां। ये खेल-तमाशे इसलिए हैं क्योंकि सम्यक दृष्टि मार्ग को ये तमाशा समझती हैं, इसको प्रतिकूल समझती हैं, या विरोधी समझती हैं। इस तरह ये मिथ्या दृष्टियां खेल-तमाशे हैं, दृष्टि ही खेल-तमाशे हैं।

उपातिवत्तो– दर्शनमार्ग से अतिक्रांत किया हुआ।

पत्तो नियामं– अविनिपात धम्मता– पतित नहीं होने की धर्मता से तथा संबोधिपरायणता से नियत भाव को प्राप्त वह नियम जिसके बारे में सभी सहमत हों या प्रथम मार्ग।

यहाँ तक प्रथम मार्ग का जो कृत्य है उसकी प्राप्ति तथा उसका लाभ कहा गया है। अब–

पटिलद्धमग्गो– इससे शेष मार्ग के लाभ को दिखाया गया है।

उप्पन्नञाणोम्हि– मुझमें प्रत्येकबुद्धज्ञान उत्पन्न हो गया है। इससे फल दिखाता है।

अनञ्ञनेय्यो– दूसरे लोग द्वारा 'यह सच है, यह सच है' कहकर मैं ले जाया जानेवाला नहीं हूं।

इससे अपना स्वयंभूत्व (आत्मनिर्भरता) प्रकाशित करते हैं अर्थात अपने से ज्ञान प्राप्त करने की बात दिखाते हैं। प्राप्त प्रत्येकबोधिज्ञान में, दूसरों द्वारा सिखाये जाने की बात के अभाव से अपने से ही ज्ञान प्राप्त किया है– यह बताते हैं। शमथ विपश्यना से बासठ प्रकार को मिथ्या दृष्टियों को अतिक्रांत किया, प्रथम मार्ग से नियाम (तरीका) पाया, शेष से मार्ग को प्राप्त किया, फलज्ञान से उनमें ज्ञान की उत्पत्ति हुई, उन सबों को अपने से, स्वयं प्राप्त किया– इसलिए दूसरों द्वारा ले जाया जानेवाला नहीं हूं। शेष कहे हुए की तरह।

५६. निल्लोलुपो निक्कुहो निप्पिपासो, निम्मक्खो निद्धन्तकसावमोहो।
निरासयो सब्बलोके भवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"लालची न हो, धोखेबाज न हो, वीतपिपास हो, वीतम्रक्ष, (दूसरे का अवमूल्यन करनेवाला न हो) वीतमोह तथा अनवद्य (दोषरहित) हो तथा सभी लोको में तृष्णा रहित हो, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

निल्लोलुपो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के राजा का रसोइया अंदर में भोजन पका कर लाता जो स्वादिष्ट और मन प्रसन्न करनेवाला था। वह भोजन इस उद्देश्य से लाता कि 'राजा प्रसन्न हों तो मुझे धन देंगे'। सुगंध से ही राजा को खाने की इच्छा उत्पन्न होती और मुंह में पानी भर जाता। पहला कौर मुंह में डालने मात्र से ही सात रसोंवाला भोजन हजार रसवाला हो जाता और लगता जैसे अमृत हो। रसोइया सोचता, '(राजा) अब मुझे देगा, अब मुझे देगा।'

राजा ने भी सोचा, 'रसोइया इनाम देने योग्य है, सत्कार के योग्य है किंतु भोजन का स्वाद चखकर यदि मैं इनाम दूंगा तो मेरे बारे में ऐसा दुष्प्रचार होगा कि यह राजा लोभी है, बढ़िया भोजन चाहनेवाला है अर्थात रसलोलुप है', ऐसा सोचकर उन्होंने कुछ नहीं कहा। इस तरह जब तक राजा खाते रहते, तब तक रसोइया सोचता रहता कि '(राजा) अब मुझे देंगे, अब देंगे।' राजा भी निंदा पाने के भय से कुछ नहीं बोलते। तब रसोइये ने यह सोचकर कि 'इस राजा के पास भोजन आस्वादन करने की क्षमता नहीं है' दूसरे दिन स्वाद विहीन भोजन दिया। खाते समय राजा ने सोचा, 'आज इनाम के लायक रसोइया नहीं है' यह जानते हुए पहले की तरह सोच-विचार कर निंदा पाने के भय से उन्होंने कुछ नहीं कहा। तब

रसोइये ने यह सोचकर कि राजा 'क्या स्वादिष्ट है, क्या स्वादिष्ट नहीं है' अर्थात सुंदर और असुंदर में भेद नहीं कर सकता, भोजन के लिए जो खर्च दिये जाते वह सब अपने ही पास रख कुछ भी पकाकर राजा को देता। यह सोचकर कि, 'हाय, मेरा लोभ, बीस हजार नगरों का उपभोग कर भी इसी लोभ के कारण मात्र अच्छा भोजन भी प्राप्त नहीं कर रहा हूं'। राजा ने निर्वेद प्राप्त किया और राज्य छोड़, प्रव्रजित हुए, विपश्यना करके प्रत्येकबोधि की प्राप्ति की और पहले की तरह यह गाथा कही।

यहां–

निल्लोलुपो– अलोभी, निर्लोभी। जो रस की तृष्णा से अभिभूत हो बहुत लोभ करता है, बार-बार लोभ करता है, उस कारण लोभी कहा जाता है। इसलिए उसका प्रतिक्षेप करते हुए **निल्लोलुपो** कहा।

निक्कुहो– जिसको यहां तीन प्रकार के ढोंग जरा भी नहीं है वह धोखेबाज या ढोंगी नहीं कहा जाता है। इस गाथा में सुंदर स्वादिष्ट भोजन में विस्मय का भाव न दिखाते हुए ढोंगी नहीं है– यह अभिप्राय है।

निप्पिपासो– यहां पीने की इच्छा पिपासा, उसके अभाव में वीतपिपास, सुस्वादु भोजन को लोभ से खाने की इच्छा से विरहित होना अर्थ है।

निम्मक्खो– दूसरे के गुणों के अवमूल्यन करने के लक्षण से युक्त होना म्रक्ष है, इसके अभाव में निम्रक्ष। वे जब गृहस्थ थे उस समय रसोइये के गुण को अवमूल्यन करने के अभाव के बारे में कहा।

निद्धन्तकसावमोहो– यहां राग आदि तीन और कायदुष्चरित आदि तीन कुल छः धर्म यथासंभव अप्रसन्न अर्थ में स्वभाव को छोड़वाकर पर भाव को ग्रहण कराने के अर्थ में, कसैले अर्थ में, कसैला है– यह जानना चाहिए।

जैसा कहा है– "यहां तीन कसैली चीजें क्या हैं? राग, द्वेष और मोह। फिर तीन और कसैली चीजें क्या हैं? काय दुष्कर्म, वची दुष्कर्म और मनो दुष्कर्म।" (विभ० ९२४)

उनमें मोह को छोड़कर पांच कसैली चीजों का मूलभूत जो मोह है उसको पूरी तरह दूर कर वीतमोह हो गया। मोह कसाव को पूरी तरह दूर कर दिया है, (भवसागर) को पार कर गया है और काय आदि तीन कसैली चीजों के मोह को दूर कर जिसने मोहकसाव को दूर कर लिया है।

दूसरी चीजों में निर्लोलुपता आदि से रागकसाव का, दूसरों के गुणों को अवमूल्यन नहीं करने से द्वेषकसाव का चला जाना, दूर हो जाना सिद्ध ही है।

निरासयो– तृष्णा रहित, वीततृष्ण।

सब्बलोके– सब लोको में, तीन भवों (कामभव, रूपभव और अरूपभव) में, बारह आयतनों में (छः इंद्रियां + छः विषय) भव, विभव तृष्णा से विरहित होकर– यह अर्थ है। शेष पहले कहे गये की तरह जानना चाहिए। अथवा तीनों पादों को कह कर **एको चरे–** अकेला विचरण करे– इस प्रकार यहां संबंध दिखाना चाहिए।

५७. पापं सहायं परिवज्जयेथ, अनत्थदस्सिं विसमे निविट्ठं।
सयं न सेवे पसुतं पमत्तं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"अर्थ (हित) नहीं जाननेवाले तथा दुराचरण करनेवाले पापी मित्र से, सहायक से, दूर रहना चाहिए। स्वयं उसकी संगति न करे जो प्रमत्त है, आसक्त है, मिथ्या दृष्टियों में जकड़ा हुआ है। वह गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

पापं सहायं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में एक राजा बड़े राजप्रताप से नगर की प्रदक्षिणा कर रहे थे। धान्यागार से लोगों को पुराना धान बाहर निकालते देखकर राजा ने अमात्यों से पूछा, 'भणे, यह क्या है?' 'महाराज, अब नया धान उपज गया है, उसको रखने के लिए, उसके लिए जगह बनाने के लिए ये लोग पुराने धान को फेंक रहे हैं।' राजा ने पूछा, 'भणे, क्या स्त्रियों के आगार का, तथा सैन्यशक्तियों का घेरा (जहां अनाज रखा जाता है) भी परिपूर्ण है?' 'हां, महाराज, परिपूर्ण है।' 'तब, भणे, दानशाला बनवाओ, मैं दान दूंगा। इस धान को बिना उपकार में लगाये विनष्ट न होने दो।'

तब उनको किसी मिथ्यादृष्टिवाले अमात्य ने 'दान देने का कोई फल नहीं होता' से प्रारंभ कर जहां तक यह कहा गया है कि 'मूर्ख और पंडित दोनों ही संसार में चक्कर लगाकर, भ्रमण कर दुःख का अंत करते हैं' कहकर उन्हें रोका। दूसरी बार तथा तीसरी बार भी धान्यागार को इस तरह लुटाते (बर्बाद होते) देखकर राजा ने उसी तरह की आज्ञा दी। तीसरी बार भी 'महाराज, दान देना मूर्खों का बनाया नियम है' कहकर रोका। तब राजा ने कहा, 'अरे, क्या मैं अपनी संपत्ति भी दान दे नहीं पाऊंगा, इस पापी सहायक से मेरा क्या?' और ऐसा कह उन्होंने निर्वेद प्राप्त किया, फिर राज्य का त्यागकर प्रव्रजित हुए और विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया। उस पापी सहायक की निंदा करते हुए उन्होंने ऊपर लिखी गाथा कही–

इसका संक्षेप में यह अर्थ है। मिथ्यादृष्टियों पर आधारित इन दस पापों से समन्वागत होने के कारण यह जो **पापो–** पाप है, दूसरे का भी अहित देखता है वह **अनत्थदस्सी,** कायदुष्चरित आदि जो विषम हैं उनको करने में लगा हुआ **विसमे निविट्ठो**। कल्याणकामी कुलपुत्र उस पापी सहायक को, जो अर्थ नहीं देखता, गलत आचरण करने में मशगूल है, त्यागे, दूर रखे। **सयं न सेवे–** अपने से उसकी संगति न करे। यदि पर के वश में है तो क्या कर सकता है– यह कहा गया है। **पसुतं–** फैला हुआ, मिथ्यादृष्टि के कारण इसमें-उसमें आसक्त है, जुड़ा है। **पमत्तं–** कामगुणों (इंद्रिय-सुखों) के भोग में जिसने अपने मन को पूरा लगा दिया है, जो कुशलभावना रहित है– इस प्रकार जो है उसकी संगति न करे, सेवा न करे, निश्चित रूप से गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।

५८. बहुस्सुतं धम्मधरं भजेथ, मित्तं उळारं पटिभानवन्तं।
अञ्ञाय अत्थानि विनेय्य कङ्खं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जो बहुश्रुत, धर्मधर, प्रतिभावान भला मित्र हो, उसकी संगति करनी चाहिए। अपने अर्थों को जानकर तथा सभी शंकाओं को दूर कर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

बहुस्सुतं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

पूर्वकाल में भगवान कस्सप के शासन में आठ प्रत्येकबुद्ध प्रव्रजित हुए और गत-प्रत्यागत व्रत पूराकर देवलोक में उत्पन्न हुए। इनके संबंध में और बातें अनवज्जभोजी गाथा में कहे गये की तरह ही जाननी चाहिए। विशेष यह है– प्रत्येकबुद्धों को बैठाकर राजा ने पूछा, 'आपलोग कौन हैं?' उन लोगों ने उत्तर दिया, "महाराज, हमलोग बहुश्रुत हैं।" राजा ने कहा, "मैं सुत ब्रह्मदत्त हूं, श्रुत से मुझे तृप्ति नहीं हुई है, अब मैं आपके निकट सुंदरनयवाली (सुंदर ढंग से दी गयी देशना) सद्धर्म देशना सुनूंगा।" ऐसा कह प्रसन्न हो, दक्षिणा का जल देकर, भोजन कराकर, भोजन करने के उपरांत संघ प्रमुख थेर का पात्र ले, वंदना कर सामने बैठे और कहा, 'भंते, धर्मकथा कहें।' वे 'महाराज, सुखी हों, राग का क्षय करें' कहकर उठ गये। राजा ने सोचा, "यह बहुश्रुत नहीं है, दूसरा होगा, कल अब (उन्हीं से) रंग-विरंगा धर्म देशना सुनूंगा।" और कल के लिए (दूसरे दिन भोजन के लिए) निमंत्रित किया। इस प्रकार क्रम से एक-एक कर सबों को निमंत्रित किया। उन सबों ने 'द्वेष का क्षय करें, मोह का क्षय करें, गति (मृत्यु के बाद जन्म ग्रहण करना, भवचक्र में आवागमन भवसंसरण) का क्षय करें, संसार-चक्र का क्षय करें, उपधि का क्षय करें, तृष्णा का क्षय करें' इस प्रकार एक-एक पद विशेष कहकर शेष जैसा पहले ने कहा था वैसा ही कह कर उठे।

तब राजा के मन में हुआ, "ये लोग कहते तो हैं कि 'हमलोग बहुश्रुत हैं' लेकिन ये सुंदर ढंग से उपदेश नहीं करते, ऐसा इनके द्वारा क्यों कहा गया"– सोचकर उनकी बातों के अर्थ की परीक्षा करनी आरंभ कर दी। तब 'राग का क्षय करें' की परीक्षा करते हुए" यह जानकार कि 'राग के क्षय होने पर द्वेष, मोह तथा अन्य दूसरे क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं' प्रसन्न हुए। कहा, "बहुत व्याख्या किये बिना, उदाहरण दिये बिना ये श्रमण बहुश्रुत हैं। जैसे किसी व्यक्ति द्वारा अंगुलि से जब विशाल पृथ्वी और आकाश को निर्देशित किया जाता है तो मात्र अंगुलि भर ही प्रदेश निर्दिष्ट नहीं होता, बल्कि सारी पृथ्वी और सारा आकाश निर्दिष्ट होता है। इस तरह इनके द्वारा एक-एक अर्थ निर्देशित किये जाने से अपरिमेय अर्थ निर्दिष्ट होते हैं।" तब उस प्रकार की बहुश्रुतता की कामना करते हुए 'कब मैं ऐसा बहुश्रुत बनूंगा' राज्य त्याग कर प्रव्रजित हुए और विपश्यना कर प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया तथा यह उदानगाथा कही।

इसका संक्षेप में अर्थ यह है– **बहुस्सुतं** (बहुश्रुत) दो प्रकार के होते हैं– 'परियत्ति बहुश्रुत' अर्थात जो तीनों पिटकों को पूरी तरह जानता है और 'प्रतिवेध बहुश्रुत' जिसने मार्गफल, विद्या, अभिज्ञा को प्रतिवेध कर जाना है। वैसा व्यक्ति जिन्होंने गुरु शिष्य परंपरा से आगमों को सुनकर याद ही नहीं किया हो बल्कि अनुभव पर उतारा हो वह धर्मधर **(धम्मधरो)** है।

अच्छे एवं कुशल कायकर्म, वाचिककर्म तथा मानसिककर्म से समन्वागत **उळारो**।

पटिभानवा (क्षिप्र-प्रज्ञ) तीन प्रकार के हैं– युक्त पटिभानवा (जिसको योग्यता का ज्ञान है), मुक्त पटिभानवा (जिसको योग्यता का ज्ञान नहीं है), और युक्त मुक्त पटिभानवा (जिसको योग्यता का ज्ञान हो भी और नहीं भी हो) **पटिभानवा** परियत्ति, परिपृच्छा और अधिगम (प्राप्ति) के कारण तीन प्रकार के जानने चाहिए। जिसको परियत्ति स्पष्ट है उसे परियत्ति पटिभानवा, जिसको अर्थ, ज्ञान, लक्षण और हेतु, अहेतु तथा परिपृच्छा (प्रश्न) स्पष्ट है उसे परिपुच्छा पटिभानवा तथा जिसने मार्ग आदि का अच्छी तरह प्रतिवेध कर लिया है, जान लिया है, उसे अधिगम पटिभानवा कहते हैं।

इस प्रकार के बहुश्रुत, धर्मधर, प्रतिभावान, भले मित्र की संगति करे। तब उसके आनुभाव (प्रताप) से आत्मार्थ, परार्थ और उभयार्थ भेद से इस लोक परलोक तथा परमार्थ भेद से अनेक प्रकार से कल्याणों को, हितों को जानकर– **अञ्ञाय अत्थानि** तब 'अतीत में मैं था या नहीं' (म० नि० १.१८; सं० नि० १.२.२०) आदि में जहां शंका की गुंजाइश है वहां शंका का विनोदन करे, हटावे, विचिकित्सा दूर कर उसका नाश करे, इस प्रकार सब काम करके गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।

५९. खिड्डं रतिं कामसुखञ्च लोके, अनलङ्करित्वा अनपेक्खमानो।
विभूसनट्ठाना विरतो सच्चवादी, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"क्रीड़ा, रति तथा संसार में पाये जानेवाले इंद्रिय सुखों में किसी प्रकार का आनंद न देख, उनसे असंतुष्ट हो उन पर ध्यान न दे, विभूषण आदि से विरत रह, सत्यवादी हो गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

खिड्डं रतिं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में विभूषक ब्रह्मदत्त नामक राजा प्रातःकाल यवागु या भोजन खाकर अपने को नाना प्रकार के आभूषणों से अलंकृत करते और बड़े आईने में पूरे शरीर को देखते। देखकर जिस आभूषण को नहीं चाहते उसे हटाकर दूसरे आभूषण से अपने को विभूषित कराते। एक दिन उनके ऐसा करते हुए भोजन का समय मध्याह्न काल आ गया। तब बिना विभूषित हो कपड़े के थान से सिर को ढंक भोजन किया और दिवा विहार के लिए गये। फिर उठे और वैसा ही करते सूर्यास्त हो गया। इसी प्रकार दूसरे दिन तथा तीसरे दिन भी वैसा ही हुआ। तब उन आभूषण-आसक्त को पीठ में रोग हुआ। उनको ऐसा हुआ,– 'ओह, मैंने अपने सभी सामर्थ्य से विभूषित होने पर भी इस नाई द्वारा विभूषित किये जाने में असंतुष्ट हो लोभ उत्पन्न किया, यह लोभ तो अपाय की ओर ले जानेवाला धर्म है, अच्छा हो, मैं लोभ का निग्रह करूं'– ऐसा सोच वे राज्य का त्याग कर प्रव्रजित हुए और विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह गाथा कही।

यहां **खिड्डा च रतिं** च का अर्थ पूर्व में कहे गये की तरह।

कामसुखं– इंद्रिय विषयों का सुख, वस्तुकाम सुख। वस्तुकाम ही सुख के विषय आदि भाव से सुख कहे जाते हैं। जैसे कहा है– रूप सुख है, सुख में डूबा हुआ (सं० नि० २.३.६०)।

इस प्रकार इस क्रीड़ा, रति तथा इस लोक के इंद्रिय सुख से असंतुष्ट होकर, **अनलङ्करित्वा,** यह समझकर कि यह काफी नहीं है, इसको संतुष्ट करनेवाला या सारभूत के रूप में न ग्रहण कर।

अनपेक्खमानो– इन अलंकरणों की अपेक्षा न कर, बिना लोभ, बिना तृष्णा के हो, अलंकार तथा अलंकरण के कारणों से विरत हो, सत्यवादी हो अकेला विचरण करे। यहां विभूषण दो प्रकार के हैं– गृहस्थों के अलंकार, अनागारिकों (प्रव्रजितों) के अलंकार। गृहस्थों के अलंकरण वस्त्र, पगड़ी, माला, इत्र आदि और प्रव्रजितों के अलंकरण पात्र की सजावट, चीवर का बंधन, कंधे का बंधन, छाता, पंखा, जलछक्का आदि। **विभूसनट्ठानं–** विभूषण ही विभूषण का कारण है, इसलिए विभूषण के कारणों से तीन प्रकार की विरतियों से **विरतो–** विरत। झूठ नहीं बोलने से इस प्रकार **सच्चवादी–** अर्थ द्रष्टव्य है।

६०. पुत्तञ्च दारं पितरञ्च मातरं, धनानि धञ्ञानि च बन्धवानि।
हित्वान कामानि यथोधिकानि, एको चरे खग्गविसाणकप्पो।

"पुत्र, पत्नी, पिता, माता, धन, धान्य, संबंधियों और इंद्रिय सुखों को पूरी तरह छोड़ गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

पुत्तं च दारं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी राजा का पुत्र युवा काल में ही राज्याभिषिक्त हो राज्य करता था। प्रथम गाथा में कहे गये प्रत्येकबुद्ध की तरह राज्यश्री का अनुभव करते हुए उसने एक दिन सोचा, 'राज्य करते मैं बहुतों को दुःख देता हूं। एक पेट के लिए इस पाप से मुझे क्या मतलब? अच्छा हो, मैं सुख पैदा करूं' ऐसा सोच राज्य त्याग वह प्रव्रजित हुआ और विपश्यना आरंभ कर प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह गाथा कही।

यहां धनानि– मुक्ता, मणि, वेलुरिय, शंख, शिला (कीमती पत्थर), प्रवाल, रजत, स्वर्ण आदि विभिन्न प्रकार के रत्न।

धञ्ञानि– शालि, वीहि, जौ, गेंहू, बाजरा, वरक, कुद्रुस और सात अन्न जैसे तिल, मूंग, उड़द।

बन्धवानि– चारों प्रकार के बंधु जैसे रिश्तेदार, सगोत्रीय बंधु, मित्र और पेशे में जो एक हैं।

यथोधिकानि– अपनी-अपनी सीमा में स्थित ही।

शेष पहले कहे गये की तरह।

६१. सङ्गो एसो परित्तमेत्थ सोख्यं, अप्पसादो दुक्खमेत्थ भिय्यो।
गळो एसो इति ञत्वा मुतीमा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"यह आसक्ति है, सुख बहुत कम है, स्वाद अल्प है और दुःख बहुत अधिक है, यह मछली फंसानेवाला कांटा है' ऐसा जानकर विचारवान व्यक्ति गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

सङ्गो एसो– से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में पादलोल ब्रह्मदत्त नामक राजा थे। प्रातःकाल ही यवागु या भात खाकर तीनों प्रासादों में तीन प्रकार के नाटक देखते। ये तीन प्रकार के नाटक पहले के राजा के समय का था, बाद के राजाओं के समय का था और अपने समय का तैयार किया हुआ था। एक दिन प्रातःकाल वे उस प्रासाद में गये जहां युवक लोग नाटक कर रहे थे। वहां की नर्त्तकियों ने यह सोचकर कि 'राजा को खूब प्रसन्न करेंगे' इंद्र की अप्सराओं की तरह (सज-धज कर) सुंदर नृत्य, गीत और वाद्य का आयोजन किया।

राजा ने यह सोचकर कि यह युवकों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है असंतुष्ट हो बीचवाले प्रासाद में गये। वहां की नर्त्तकियों ने भी वैसा ही किया। वहां भी वैसे ही राजा असंतुष्ट हो बड़े प्रासाद में गये। वहां की नर्त्तकियों ने भी वैसा ही किया। राजा ने दो-तीन चक्कर लगाया। यौवनातीत (प्रौढ़) या बूढ़ी नर्त्तकियों का नृत्य देखकर जो हड्डियों की क्रीड़ा की तरह था, अमधुर गीत सुनकर फिर युवकों के नाटक महल में, फिर मध्यम वयवाले के नाटक महल में इस प्रकार विचरण करते हुए कुछ असंतुष्ट

हो सोचा, "इन नर्त्तकियों ने इंद्र की अप्सराओं की तरह मुझे आनंदित करने की इच्छा से पूरी शक्ति से नृत्य, गीत, वाद्य को कार्य में लगाया किंतु मैं कुछ असंतुष्ट ही रह लोभ ही बढ़ा रहा हूं, लोभ नरक की ओर ले जानेवाला धर्म है, अच्छा हो मैं लोभ का निग्रह करूं" ऐसा सोच राज्य को त्याग कर प्रव्रजित हो विपश्यना की और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह गाथा कही।

इसका अर्थ– **सङ्गो एसो–** कहकर अपना उपभोग निर्देशित करते हैं। हाथी के समान प्राणियों का कीचड़ में प्रवेश कर आसक्त होना ही **सङ्गो** है, वह आसक्ति है।

परित्तमेत्थ सोख्यं– यहां पांच इंद्रिय सुखों के परिभोग के समय विपरीत संज्ञा से उत्पन्न योग्य होने से, कामावचर धर्म से संबंधित होने से, निकृष्ट होने के अर्थ में सुख परित्त है, कम है। बिजली की चमक में देखा हुआ नृत्य देखने के सुख के समान अल्प, संक्षिप्त, अस्थायी है– यह कहा गया है।

अप्पस्सादो दुक्खमेत्थ भिय्यो– यहां जो यह कहा गया है कि 'भिक्षुओ, पांच इंद्रिय सुखों के कारण जो सुख-सौमनस्य उत्पन्न होता है, वही कामों का, तृष्णाओं का आस्वाद है' (म० नि० १.१६६)। उन्होंने जो यह प्रश्न किया 'भिक्षुओ, कामों का, तृष्णाओं का खतरा क्या है?' और स्वयं उत्तर दिया कि यहां 'भिक्षुओ, यहां कुलपुत्र जिस शिल्प से जीविका अर्जन करता है अगर मुद्रा से या गणना से' (म० नि० १.१६७) उस विधि से उसे दुःख कहा गया है। उसकी तुलना में पांच कामगुणजन्य सुख अल्प है, जल का बिंदु मात्र है। दुःख ही बहुत है, अधिक है, चार समुद्रों में जितना जल है उतना। इसलिए कहा गया है, 'स्वाद या सुख अल्प है, यहां दुःख ही बहुत है।'

गळो एसो– आस्वाद दिखाकर जो ये पांच इंद्रियसुख हैं वे खींचने में कांटे की तरह हैं।

इति ञत्वा मतिमा– इस प्रकार जानकर बुद्धिमान, पंडित पुरुष सभी चीजों का त्याग कर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।

६२. सन्दालयित्वान संयोजनानि, जालंव भेत्वा सलिलम्बुचारी।
अग्गीव दड्ढं अनिवत्तमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"जैसे पानी में मछली जाल को तोड़ती है, फिर लौट कर उसमें नहीं जाती; उसी तरह जलाकर जैसे आग फिर वहां नहीं जाती जिसको वह जला चुकी है– व्यक्ति को गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करना चाहिए।"

सन्दालयित्वान से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में अनिवत्त ब्रह्मदत्त नामक राजा था। वह संग्राम में उतरता लेकिन बिना जीते नहीं लौटता। दूसरा काम शुरू करता, लेकिन बिना समाप्त किये नहीं लौटता, इसलिए लोग उसको अनिवत्त ब्रह्मदत्त नाम से जानते थे।

एक दिन वह उद्यान जा रहा था। उस समय जंगल में आग लगी। वह आग सूखी तथा हरी घासों को जलाती हुई बिना पीछे लौटे ही आगे जा रही थी। राजा ने उसे देखा और अपने में वैसी समानता का भाव उत्पन्न किया। 'जैसी यह जंगल की आग, उसी तरह ग्यारह प्रकार की अग्नियां सभी प्राणियों

को जलाती हुई, बिना पीछे लौटे आगे महा दुःख उत्पन्न करती जाती हैं, कब मैं इस दुःख को रोकने के लिए इस आग की तरह आर्य-मार्ग-ज्ञानाग्नि से क्लेशों को जलाते हुए बिना पीछे लौटे जाऊंगा?' उसके बाद मुहूर्त बीतने पर ही उसने मछुआरों को नदी में मछली पकड़ते देखा। उनके जाल में फंसा हुआ एक महामच्छ जाल तोड़कर भागा। उन्होंने जोर की आवाज की, 'मछली जाल तोड़कर भाग गयी।' राजा ने उस आवाज को सुना और अपने में वैसी समानता का भाव उत्पन्न किया। 'कब मैं आर्य-मार्ग-ज्ञान से तृष्णा तथा मिथ्यादृष्टि जाल को भेदकर अनासक्त होऊंगा?' उसने राज्य का त्याग कर, प्रव्रजित हो तथा विपश्यना का अभ्यास आरंभ कर प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह गाथा कही।

इसके द्वितीय पाद में **जालं** का अर्थ धागे का बना जाल है। **अम्बु–** जल, उसमें विचरण करनेवाला **अम्बुचारी–** जलचारी (मछली), यह मछली का पर्याय है। जल में मछली– **सलिलम्बुचारी–** उस नदी के जल में जाल तोड़कर अंबुचारी है– यह कहा गया है। तृतीय पाद में **दड्ढं–** जला हुआ स्थान कहा जाता है। जैसे आग जले हुए स्थान पर फिर लौट कर नहीं आती, वहां दूसरी बार नहीं आती, इस प्रकार मार्ग-ज्ञानाग्नि से जले हुए इंद्रिय सुख स्थानों पर बिना लौटे, बिना फिर आये– कहा गया है। शेष पहले कहे हुए की तरह है।

६३. ओक्खित्तचक्खू न च पादलोलो, गुत्तिन्द्रियो रक्खितमानसानो।
अनवस्सुतो अपरिडय्हमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"आंखें नीची कर अर्थात झुकाये, घूमने-फिरने की इच्छा छोड़ संयतेंद्रिय बने एवं मन को संभाल कर रखते हुए, राग विरहित हो (तृष्णाग्नि में) बिना जलते हुए, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

ओक्खित्तचक्खू से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में चक्खुलोल ब्रह्मदत्त नामक राजा पादलोल ब्रह्मदत्त की तरह नाटक देखने में लगे रहते थे। यह विशेष है– वह असंतुष्ट हो यहां-वहां जाते, वह इस नाटक को या उस नाटक को देख अत्यंत आनंदित होते, नाटक में होनेवाले परिवर्त्तन के दर्शन से तृष्णा बढ़ाते हुए विचरते। उनके मन में नाटक देखने के लिए आई एक परिवार की स्त्री को देखकर राग पैदा हुआ। उसके बाद संवेग प्राप्तकर यह सोचा कि 'मैं इस तृष्णा को बढ़ा कर नरक को जानेवाला होऊंगा, अच्छा हो कि मैं इसका निग्रह करूं।' ऐसा सोच वे प्रव्रजित हुए। विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया और पहले के अपने आचरण की निंदा करते हुए उसके विपरीत आचरण के गुणों को प्रकाशित करनेवाली यह उदान गाथा कही।

यहां **ओक्खित्त चक्खू–** आंखें नीची करके, गर्दन की सात हड्डियों को क्रमशः छोड़कर देखने के लिए ग्रहण करने योग्य (जो भी चीजें हैं) उनको दूर-दूर रखकर जुए की लंबाई भर की दूरी को देखते हुए– कहा गया है। न दाढ़ की हड्डी से हृदय की हड्डी को चोट पहुंचाते हुए या टकराते हुए। इस प्रकार की अवक्षिप्तचक्षुता श्रमण के अनुरूप नहीं होती।

न च पादलोलो– भीड़ में एक से दो, दो से तीन बार जाने की इच्छा से खुजलानेवाला पैर का न

होकर अथवा दीर्घ चारिका तथा अनवस्थित (आंख को इधर-उधर घुमाते हुए) चारिका से विरत होकर।

गुत्तिन्द्रियो– छः इंद्रियों में से किसी को विना असंयत रखे होने के कारण संयमित इंद्रियवाला।

रक्खितमानसानो– मानस ही **मानसानं** है, वह जिसका रक्षित है, संयमित है वह रक्षित मनवाला है। जैसे क्लेशों द्वारा जो नाश नहीं किया जाय, उसे ही 'रक्षित मन' कहा गया है।

अनवस्सुतो– इस आचरण से उन-उन आलंबनों में क्लेश के प्रहार से या क्लेश के न रहने से विरहित।

अपरिडय्हमानो– इस प्रकार क्लेश प्रहार से विरहित हो, क्लेशाग्नियों से बिना जले हुए, बिना दग्ध हुए, बाहर कुछ चू नहीं रहा है और भीतर बिना जले हुए। शेष कहे हुए की तरह।

६४. ओहारयित्वा गिहिब्यञ्जनानि, सञ्छन्नपत्तो यथा पारिछत्तो।
कासायवत्थो अभिनिक्खमित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"पारिछत्र (पारिजात) वृक्ष की तरह जिसके सारे पत्ते झड़ गये हैं, गृहस्थों के चिह्नों को हटाकर और काषाय वस्त्र धारण कर घर से निष्क्रमण कर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

ओहारयित्वा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में यह अन्य चातुमासिक ब्रह्मदत्त नामक राजा चार-चार महीने पर उद्यान क्रीड़ा के लिए जाते थे। एक दिन ग्रीष्मऋतु के मध्य महीने में वे उद्यान गये। प्रवेश करते ही द्वार पर ही पत्तों से भरा तथा पुष्पों से अलंकृत पारिछत्रक कोविलार वृक्ष को देखा और (उसका) एक फूल लेकर उद्यान में प्रवेश किया। उसके बाद हाथी की पीठपर बैठे किसी अमात्य ने भी यह सोचकर कि 'पहला फूल राजा ने लिया है', एक फूल लिया। इसी तरह सभी सेना ने भी एक-एक कर फूल लिए। फूल में आनंद न पाने पर पत्ते भी लिए। वह वृक्ष पत्र-पुष्प विहीन हो ठूंठ हो गया। शाम के समय राजा जब उद्यान से बाहर निकल रहे थे तो उसे देख राजा ने 'इस वृक्ष ने क्या किया, मेरे आने के समय तो शाखाओं के बीच मणिवर्ण प्रवाल के समान पुष्प से अलंकृत था, अब पत्र-पुष्प विहीन हो गया है' चिंतन करते हुए उससे कुछ ही दूर पर पत्तों से भरा एक अपुष्पित वृक्ष को देखा। देखकर उनको ऐसा हुआ, 'फूल से भरी शाखाओं के कारण यह वृक्ष बहुत लोगों के लिए लोभ करने योग्य था इसलिए मुहूर्त में ही यह विपत्तिग्रस्त हो गया और यह वृक्ष चूंकि लोभ करने योग्य नहीं था इसलिए बचा रहा। यह राज्य भी पुष्पित वृक्ष की तरह लोभ करने योग्य है और भिक्षुभाव उस वृक्ष की तरह है जिसमें फूल नहीं है और जो लोभ करने योग्य नहीं है। इसलिए जब तक यह राज्य के प्रति लोभ भी इस वृक्ष की तरह नष्ट न हो, तब तक यह पत्ते से भरा दूसरा वृक्ष की तरह है जैसे यह पारिछत्रक। इसकी तरह काषाय वस्त्र से आच्छादित हो प्रव्रजित होना चाहिए।' उन्होंने राज्य का त्याग किया और प्रव्रजित हो विपश्यना का अभ्यास करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह उदान गाथा कही।

यहां **कासायवत्थो अभिनिक्खमित्वा–** इस पाद का इस प्रकार अर्थ जानना चाहिए– घर से निकलकर अर्थात घर से बेघर हो, काषायवस्त्र पहनकर अर्थात भिक्षु होकर। शेष कहे हुए की तरह ही जान सकते हैं। अतः विस्तार नहीं किया गया है।

६५. रसेसु गेधं अकरं अलोलो, अनञ्ञपोसी सपदानचारी।
कुले कुले अप्पटिबद्धचित्तो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"रसों में लोभ न कर, बहुत चाहनेवाला न होकर, दूसरे को पोषण करनेवाला न होकर, सपदानचारी हो अर्थात बिना कोई घर छोड़े भिक्षा मांगनेवाला हो, किसी विशेष कुल या परिवार से प्रतिबद्ध नहीं हो, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

रसेसु से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के एक राजा अमात्यपुत्रों से घिरे होकर उद्यान में शिलापट्ट पुष्करिणी में खेलते थे। उनके रसोइये ने सभी प्रकार के मांसों का रस लेकर बहुत ही उत्तम, अमृत के समान भोजन पका कर उनके पास लाया। उनको इतना लोभ हुआ कि किसी को भी बिना कुछ दिये स्वयं ही सब खा गये। जल क्रीड़ा से गलत समय पर (अर्थात जब नहीं निकलना चाहिए) निकलकर शीघ्र खा लिया। जिनके साथ पहले खाते थे, उनको जरा भी याद नहीं किया। अब बाद में विचार किया तो यह कह कर पश्चात्ताप किया कि 'ओह, मैंने पाप किया कि रसतृष्णा से अभिभूत होकर मैं सब को भूल गया और अकेले खाया। अच्छा हो मैं रसतृष्णा का निग्रह करूं।' ऐसा सोच राज्य त्याग, प्रव्रजित हो, विपश्यना कर प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया और अपने पूर्व आचरण की निंदा करते हुए उसके प्रतिपक्षी गुणों को बतानेवाली यह उदान गाथा कही–

यहां **रसेसु–** खट्टा, मीठा, तीता, कड़वा, नमकीन, खारा तथा कसैला आदि विभिन्न प्रकार के चखने योग्य रसों में।

गेधं अकरं– लोभ न करते हुए, तृष्णा न उत्पन्न करते हुए– यह कहा गया है।

अलोलो– 'यह चखूंगा, यह चखूंगा' ऐसा कहते हुए किसी रस विशेष को चखने के लिए व्याकुल न होना।

अनञ्ञपोसी– पोसने योग्य सद्धिविहारिक (शिष्य) आदि से विरहित, शरीर की रक्षा मात्र से ही संतुष्ट है– यह कहा गया है।

जैसे पहले उद्यान में, रसों में लोभ कर लालची हो मैं दूसरे का पोषण करनेवाला न हुआ, इस प्रकार दूसरे का पोषण करनेवाला न होकर जिस तृष्णा से लोभी होकर रसों में लोभ जगाया, उस तृष्णा को छोड़कर भविष्य में तृष्णामूलक दूसरे आत्मभाव के उत्पन्न नहीं होने से मैं दूसरे का पोषक नहीं हूं– यह दिखाता है। अथवा कल्याण का नाश करनेवाले के अर्थ में 'अन्य क्लेश कहे जाते हैं।' उनको पोषण न करने के कारण दूसरे को न पोषण करनेवाला– यही यहां अर्थ है।

सपदानचारी– बिना क्रम तोड़े विचरण करनेवाला, क्रमशः जानेवाला, घर का जो सिलसिला है उसको बिना तोड़े, किसी घर को छोड़े चाहे वह धनी का कुल हो या दरिद्र का, निरंतर भिक्षा के लिए जाते हुए– यही अर्थ है।

कुले कुले अप्पटिबद्धचित्तो– क्षत्रिय आदि कुलों में जहां कहीं भी जाना हो क्लेश के दृष्टिकोण से अनासक्तचित्त होकर (शुक्लपक्ष के) चंद्रमा की तरह नित्य नया होकर– यह अर्थ है। शेष पहले कहे

हुए की तरह।

६६. पहाय पञ्चावरणानि चेतसो, उपक्किलेसे ब्यपनुज्ज सब्बे।
अनिस्सितो छेत्व सिनेहदोसं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"मन के पांच नीवरणों को पीछे छोड़, सभी उपक्लेशों को दूर हटा, मिथ्या दृष्टियों पर अनाश्रित हो अर्थात उन्हें प्रहीण कर, राग और द्वेष दोनों को काट, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

पहायपञ्चावरणानि से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के एक राजा प्रथम ध्यान लाभी हुए। ध्यान की रक्षा के लिए उन्होंने राज्य का त्याग किया और विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर अपनी आचरणसंपदा को बताते हुए यह उदानगाथा कही।

आवरणानि– नीवरण, इनका वर्णन अर्थतः उरगसुत्त में किया गया है। चूंकि जैसे बादल सूर्य चंद्र को ढकते हैं, वैसे ही ये मन को ढकते हैं, इसलिए इन्हें चित्त के आवरण कहे गये हैं। उनको उपचार या अर्पणा समाधि से त्याग कर।

उपक्किलेसे– अकुशल धर्मों को जो आकर चित्त को बाधा पहुंचाते हैं **वत्थोपम** आदि में कहे गये अभिध्या (लोभ) आदि।

ब्यपनुज्ज– हटाकर, विनाश कर, विपश्यना मार्ग से त्याग कर यह अर्थ है।

सब्बे– बिना कुछ छोड़े को, सभी को इस प्रकार शमथ विपश्यना संपन्न प्रथम मार्ग से मिथ्यादृष्टि (आश्रय) को प्रहीण करने से **अनिस्सितो**। शेष (तीन) मार्गों से तीन धातुओं में पाये जानेवाले राग और द्वेष का नाश कर, तृष्णा रूपी राग यहां कहा गया है। राग-गुण के प्रतिपक्षी होने से राग द्वेष हो जाता है। शेष पहले कहे गये की तरह ही।

६७. विपिट्ठिकत्वान सुखं दुखञ्च, पुब्बेव च सोमनस्सदोमनस्सं।
लद्धानुपेक्खं समथं विसुद्धं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"सुख और दुःख को अपने पीछे छोड़ तथा सौमनस्य और दौर्मनस्य को भी पहले ही छोड़, उपेक्षाभाव (समता) जो विशुद्ध उपशम है को प्राप्तकर, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

विपिट्ठिकत्वान से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के एक राजा चतुर्थ ध्यानलाभी हुए। ध्यान की रक्षा के लिए वे राज्य त्याग प्रव्रजित हुए और विपश्यना करते हुए उन्होंने प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया तथा अपनी आचरण संपदा को स्पष्ट करते हुए यह उदान गाथा कही।

यहां–

विपिट्ठिकत्वान– पीठ की ओर कर, छोड़कर, त्यागकर, यह अर्थ है।

सुखं दुखञ्च– शारीरिक सुख-दुःख।

सोमनस्सदोमनस्सं– चैतसिक (मन) का सुख दुःख।

उपेक्खं– चतुर्थ ध्यान का एक अंग उपेक्षा।

समथं– चतुर्थ ध्यान शमथ ही है।

विसुद्धं– पांच नीवरण तथा वितर्क, विचार, प्रीति, सुख नामक इन नौ विरोधी धर्मों से विमुक्त होने के कारण विशुद्ध– तपाये हुए सोने की तरह तथा वीतउपक्लेश अर्थात जिसके सभी उपक्लेश समाप्त हो गये हैं।

योजना यह है– सुख दुःख को पीछे छोड़कर, प्रथम ध्यान उपचारभूमि (ध्यान की पूर्व तैयारी जहां की जाती है) में दुःख को और तृतीय ध्यान उपचारभूमि में सुख को छोड़कर– यह अभिप्राय है। पुनः प्रारंभ में कहे गये 'च' कार को बाद में जोड़ते हुए 'सौमनस्य और दौर्मनस्य को पहले की ही तरह पीछे छोड़कर'।[1] यह अधिकार (वैध, तर्कसंगत है जैसा ऊपर कहा गया है। जो इस कारण सौमनस्य को चतुर्थ ध्यान उपचार भूमि में और दौर्मनस्य को द्वितीय ध्यान उपचार भूमि में छोड़ा गया– यह स्पष्ट करते हैं। ये इनके भेद से प्रहाण के कारण हैं। बिना किसी भेद के दुःख प्रहाण का कारण प्रथम ध्यान, दौर्मनस्य का द्वितीय ध्यान, सुख का तृतीय ध्यान और सौमनस्य का चतुर्थ ध्यान है। जैसा कहा गया है 'प्रथम ध्यान प्राप्तकर विहार करता है और यहां उत्पन्न दुःख इंद्रिय अनवशेष रूप से निरुद्ध होती है (सं० नि० ३.५.५१०) आदि। ये सभी धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा अट्ठसालिनी में कहे गये हैं (ध० स० अट्ठ० १६५)। जैसे पहले के प्रथम तीन ध्यानों में दुःख, दौर्मनस्य तथा सुख को पीछे छोड़ यहां चतुर्थ धान में सौमनस्य को पीछे करके इस मार्ग से, उपेक्षा जो विशुद्ध उपशम है, शांति है– को प्राप्त कर अकेला विचरण करे। शेष सभी स्पष्ट ही हैं।

६८. आरद्धविरियो परमत्थपत्तिया, अलीनचित्तो अकुसीतवुत्ति।
दळ्हनिक्कमो थामबलूपपन्नो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"परमार्थ प्राप्ति के लिए दृढ़संकल्प, अलीन (अनालसी) मन, अनालसी वृत्ति, दृढ़ पराक्रम और शक्ति तथा बल से संपन्न हो गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

आरद्धविरियो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

सीमाप्रांत का एक राजा था, जिसके एक हजार योद्धा सैनिक थे। उसका राज्य छोटा था, परंतु बुद्धि बड़ी थी। एक दिन उसने सोचा कि "यद्यपि मैं छोटा हूं, लेकिन बुद्धि से पूरे जंबुद्वीप को जीत सकता हूं।" ऐसा सोचकर पड़ोसी राजा के पास दूत के माध्यम से यह संदेश भेजा, 'एक सप्ताह के भीतर मुझे राज्य दे दो या मेरे साथ युद्ध करो।' उसके बाद अपने अमात्यों को एक जगह बुलवा कर कहा, 'आपलोगों को बिना पूछे ही मैंने ऐसा साहस किया है, अमुक राजा को ऐसा संदेश भिजवाया है, अब क्या करना चाहिए?' उन लोगों ने कहा, 'महाराज, दूत को रोक सकते हैं।' 'संभव नहीं है, चला गया होगा।'

---

१. यहां रूपावचर ध्यान के बारे में कहा गया है। ध्यान की उपचार भूमि में दुःख नहीं रहता अर्थात दुःख को पीछे छोड़ता है। तृतीय रूपावचर ध्यान में सुख को छोड़ता है इसी नियम से वह दौर्मनस्य और सौमनस्य को पीछे छोड़ता है।

'यदि इस प्रकार हमलोग आप द्वारा नष्ट ही किये जायंगे, तो दूसरे के शस्त्र से मरना दुःख है। अच्छा हो हमलोग एक दूसरे को मार कर मरें, अपने पर प्रहार कर मरेंगे, फांसी पर लटक जायंगे, विष खा लेंगे।' इस प्रकार से उनमें से एक-एक मृत्यु की ही प्रशंसा कर रहा था। तब राजा ने कहा, "भणे, इससे मुझे क्या! मुझे तो योद्धा चाहिए।" तब 'महाराज, मैं योद्धा हूं, मैं योद्धा हूं' कहते हुए हजारों योद्धा उठ खड़े हुए।

राजा ने यह सोचकर कि 'इनकी परीक्षा लूंगा', चिता सजाई और कहा, 'भणे, ऐसा मैंने साहस किया लेकिन मेरे अमात्य मुझ पर दोषारोपण कर रहे हैं, बुरा-भला कह रहे हैं। मैं चिता पर चढूंगा, मेरे साथ कौन आयगा, कौन मेरे लिए जीवन परित्याग करेगा?'

ऐसा कहे जाने पर पांच सौ योद्धा उठ खड़े हुए, 'महाराज, हम लोग आपके साथ चिता पर चढ़ेंगे।' तब राजा ने दूसरे पांच सौ योद्धाओं से पूछा, 'तात, अब तुम लोग क्या करोगे?' उन लोगों ने उत्तर दिया, 'महाराज, यह मर्द का काम नहीं है, यह तो औरत का काम है, आप द्वारा जिस शत्रु राजा के पास दूत भेजा गया है, उस राजा के साथ युद्ध कर हमलोग मरेंगे।' तब राजा यह कहकर कि 'तुम्हारे साथ मुझे जीवन परित्याग करना चाहिए। तुमने मेरे लिए जीवन का परित्याग किया है,' चतुरंगिनी सेना लेकर उन हजार योद्धाओं से घिरे हुए जाकर राज्य की सीमा पर बैठे।

प्रतिराजा यह घटना सुन क्रोधित हुआ और उसने, 'अरे, वह छोटा राजा तो मेरा नौकर होने लायक नहीं है' यह कहकर सारी सेना लेकर युद्ध के लिए निकला। उस छोटे राजा ने उसे आक्रमण करने के लिए आते देख सेना से कहा, 'तुमलोग बहुत नहीं हो, सभी एक साथ हो तलवार और ढाल लेकर शीघ्र इस राजा के सामने सीधा हो जाओ।' उन लोगों ने वैसा ही किया। अब उस राजा की सेना ने दो पंक्तियों में बंटकर इस सेना को रास्ता दिया। उन लोगों ने राजा को जिंदा पकड़ लिया, और अन्य योद्धा भाग गये। छोटा राजा यह कहते हुए कि 'उसको मारेंगे' आगे दौड़ने लगा। प्रतिराजा ने उससे अभय की याचना की। बाद में उसको अभय देकर, शपथ करवाकर, उसको अपना आदमी बनाया और उसके साथ दूसरे राजाओं पर चढ़ाई करता। राजा की राज्य सीमा पर रुककर खबर भिजवाता, 'या तो राज्य दो या नहीं तो मेरे साथ युद्ध करो।' वह यह सोच कर कि 'मैं, एक भी आक्रमण वर्दाश्त नहीं कर सकूंगा' राज्य सौंप देता। इस उपाय से उसने सब राजाओं को जीता और अंत में वाराणसी राजा के राज्य को भी जीत लिया।

वह एक सौ राजाओं से घिरा होकर पूरे जंबुद्वीप पर राज्य करते हुए सोचने लगा, "पहले मैं छोटा राजा था, अपनी ज्ञानसंपत्ति के कारण मैं पूरे जंबुद्वीप का मालिक बन गया हूं। लेकिन यह मेरा ज्ञान इस लोक में प्रगति करने के वीर्य से संप्रयुक्त है, यह न तो मुझे निर्वेद की ओर और न वैराग्य की ओर ले जायगा। अच्छा हो कि मैं इस ज्ञान से लोकोत्तर धर्म की गवेषणा करूं।" तब वाराणसी के राजा को राज्य देकर पुत्र और पत्नी को अपने जनपद में भेजकर, प्रव्रज्या ले विपश्यना करना आरंभ किया और प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर अपनी वीर्य-संपत्ति को स्पष्ट करके दिखाते हुए यह उदान गाथा कही।

यहां जिसने वीर्य से काम लेना प्रारंभ कर दिया है वह **आरद्धविरियो** है। इससे अपने प्रारंभिक वीर्य को, आदि वीर्य को दिखाता है। परमार्थ कहते हैं निर्वाण को, उसकी प्राप्ति से **परमत्थपत्तिया**। इस

प्रारंभिक वीर्य से प्राप्तफल को दिखाता है।

अलीनचित्तो– इससे बल वीर्य का जो सहारा चित्त चैतसिक हैं उनकी अलीनता (जागरूकता) दिखाता है।

अकुसीतवुत्ति– इससे खड़ा होने, बैठने, चंक्रमण करने आदि में शरीर का हल्कापन, फुर्तीलापन, अनालस्य भाव।

दळ्हनिक्कमो– इससे खुशी-खुशी यह कहना कि चमड़ा और नस........ रहे. (म० नि० २.१८४; अ० नि० १.२.५; महानि० १९६).... आदि से जो प्रयत्न करना झलकता है, उसी प्रयत्न को दिखाता है। जो क्रमिक शिक्षा आदि है उसमें प्रयास करते हुए "शरीर से परम सत्य का साक्षात्कार करता है और प्रज्ञा से उसको बींध कर देखता है"– यह कहा गया है। अथवा इससे मार्ग संप्रयुक्त वीर्य अर्थात मार्ग पर चलते समय का वीर्य दिखाया गया है। दृढ़ होने से और भावना से परिपूर्ण होकर, सभी प्रतिपक्षियों के निकल जाने से यह जो पराक्रम है उससे समन्वागत व्यक्ति दृढ़ पराक्रमवाला है उसे दळ्हनिक्कमो कहा जाता है।

थामबलूपपन्नो– मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति में शारीरिक शक्ति तथा ज्ञान बल से उत्पन्न अथवा शक्ति से, बल से उत्पन्न **थामवलूपपन्नो–** उत्पन्न स्थिर 'ज्ञानबल' कहा गया है। इससे उसके वीर्य का विपश्यनाज्ञान से मेल स्पष्ट करते हुए उसके विचारपूर्वक प्रयास को सिद्ध करता है। प्रथम (पूर्व भाग) मध्यम और उत्कृष्ट वीर्य के कारण तीनों पाद जोड़े जाने चाहिए। शेष पहले कहे हुए की तरह ही है।

६९. पटिसल्लानं झानमरिञ्चमानो, धम्मेसु निच्चं अनुधम्मचारी।
आदीनवं सम्मसिता भवेसु, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"एकांत और ध्यान को न छोड़, नित्य धर्मों के अनुसार जीवन जीते हुए, विभिन्न प्रकार के भवों में जो खतरे हैं उन्हें अच्छी तरह समझते हुए, गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

पटिसल्लानं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

इस गाथा की भी वही उत्पत्ति है जो आवरण गाथा की है, कुछ विशेष नहीं है। इसकी अर्थवर्णना में– **पटिसल्लानं** का अर्थ सद्धिविहारिक, अंतेवासिक, उपासक आदि प्राणियों एवं रूपालंबन आदि संस्कारों से अपने को दूर रखकर[१] एकांत प्राप्त, एकांत सेवी, अकेला, शारीरिक एकांत को कहा जाता है।

झानं– विरोधियों को (ध्यान के शत्रुओं को) जलाकर, आलंबन (ध्यान-विषयों) तथा त्रिलक्षणों पर विचार करने को चित्तविवेक (मन का एकांत) कहते हैं। यहां आठ ध्यान समापत्तियां, नीवरण आदि विरोधियों को जलाकर आलंबनों पर विचार करने को ध्यान कहते हैं। विपश्यना मार्ग फल, सत्त्व, संज्ञा आदि विरोधियों को जलाने से, त्रिलक्षण पर मनन करने से प्राप्त होते हैं। यहां आलंबन पर विचार करना अभिप्रेत है।

---

१. सत्तसङ्खारेहीति सद्धिविहारिकअन्तेवासिकउपासकादिसत्तेहि चेव रूपारम्मणादिसङ्खारेहि च। पटिनिवत्तित्वा अपसक्कित्वा। (मू० प० टी० १.२५२) (सद्धिविहारिक, अन्तेवासिक उपासक आदि प्राणियों तथा रूपालंबन आदि संस्कारों से... दूर रखना।)

इस प्रकार इस एकांत जीवन और ध्यान को **अरिञ्चमानो–** न छोड़ते हुए, न त्यागते हुए, ढीला न करते हुए। **धम्मेसु–** विपश्यना की ओर जाते हुए पंचस्कंध आदि धर्मों में। **निच्चं–** सतत, निरंतर, अनवरत।

अनुधम्मचारी उन धर्मों को लेकर जो बाद में विपश्यना धर्म प्रवर्त्तित होता है उसको करते हुए। अथवा धम्मा अर्थात नौ लोकोत्तर धर्म[1], उन धर्मों का अनुलोम धर्म अनुधर्म है, यह विपश्यना का पर्याय है। यहां **धम्मानं निच्चं अनुधम्मचारी** कहने से गाथाबंध में आसानी के लिए विभक्ति को बदलकर धम्मेसु कहा गया है।

आदीनवं सम्मसिता भवेसु– उस अनुधर्मचरित अर्थात छोटे-छोटे धर्मों को अपना स्वभाव बना, असंस्कृत विपश्यना से अनित्य आकार आदि दोषों को तीनों भवों में ठीक से अनुपश्यना करते हुए, इस प्रकार काय एकांत तथा मन के एकांत को बिना छोड़े हुए शीर्ष विपश्यना नामक मार्ग से अधिगम किया– यह कहना चाहिए और गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे– यह योजना जाननी चाहिए।

७०. तण्हक्खयं पत्थयमप्पमत्तो, अनेळमूगो सुतवा सतीमा।
सङ्खातधम्मो नियतो पधानवा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"तृष्णा के क्षय की इच्छा करते हुए, अप्रमत्त हो, चतुर, पंडित स्मृतिमान हो, धर्म पर विचार कर या धर्म को जान, तप में रत हो अकेले गैंड़े के सींग की तरह विचरण करे।"

तण्हक्खयं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के एक राजा महान राजप्रताप से नगर की प्रदक्षिणा कर रहे थे। उनके शारीरिक सौंदर्य से मुग्ध हो लोग आगे जाकर भी पीछे लौटकर उन्हीं को देखते, पीछे जाकर भी और दाहिने बायें जाकर भी पीछे लौटकर उन्हीं को देखते। स्वाभाविक रूप से लोग बुद्ध दर्शन, पूर्ण चंद्र दर्शन, समुद्र दर्शन तथा राजा के दर्शन में अतृप्त रह जाते हैं।

उस समय किसी कुल की औरत भी प्रासाद पर चढ़कर खिड़की खोल कर उन्हें देखती खड़ी थी। राजा ने उसे देखा, प्रतिबद्ध चित्त हो (उस पर मोहित हो) अमात्य को बुलवाया और पूछा– 'भणे, तुम जानते हो यह स्त्री पतिवाली है या बिना पति की है?' अमात्य गया और आकर राजा को सूचना दी कि वह पतिवाली है। तब राजा ने सोचा– 'बीस हजार नर्त्तकियां जो देवअप्सरा की तरह हैं मुझे एक को ही आनंदित करती हैं, पर अब मैंने इतने से भी असंतुष्ट होकर दूसरे की स्त्री पर तृष्णा जगायी, वह उत्पन्न हो मुझे नरक की ओर खींच रही है।' ऐसा सोच तृष्णा में खतरे को देख, "अच्छा मैं उसका निग्रह करूंगा" कह, राज्य को त्याग कर प्रव्रजित हो विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया और यह उदान गाथा कही।

यहां **तण्हक्खयं–** निर्वाण, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि नामक खतरे रूपी तृष्णा से ही अप्रवृत्ति। **अप्पमत्तो–** सतत करनेवाला, सावधानी बरतनेवाला। **अनेळमूगो** अर्थात जो गूंगा और बहरा नहीं हो अथवा अनेड (बहरा) और अमूक (गूंगा), पंडित बुद्धिमान को कहा गया है। **सुतवा** अर्थात श्रुतवान,

१. चार मार्ग + चार फल + निर्वाण

आगम संपन्न। इनको सुनना सुख और कल्याण प्राप्त करानेवाला है।

सतीमा– स्मृतिमान बहुत पहले कृत कार्यों आदि को याद करनेवाला। **सङ्खातधम्मो–** धर्म की परीक्षा करके जिसने धर्म परिज्ञात किया है। **नियतो–** आर्यमार्ग से निर्वाण-मार्ग प्राप्त। **पधानवा–** सम्यक प्रधान, वीर्यसंपन्न। यह पाठ उत्तरोत्तर जोड़े जाने योग्य है ।

इस प्रकार इन अप्रमाद से समन्वागत, मुक्ति की ओर ले जानेवाले प्रधान (प्रयास) से युक्त हो और उस प्रधान से प्राप्त मार्ग के कारण नियत (स्थिर), उसके बाद अर्हत्व की प्राप्ति होने से वह वैसा व्यक्ति है जिसने धर्म जान लिया है, जो क्षीणाश्रव है। जानने लायक बात के अभाव से अर्थात कोई ऐसी बात नहीं है जो वे नहीं जानते। अर्हत ही क्षीणाश्रव कहे जाते हैं। जैसा कहा है– जो क्षीणाश्रव अर्हत हैं और जो यहां अनेक शैक्ष्य हैं (सु० नि० १०४४; चूळनि० अजितमाणवपुच्छानिद्देस ७)। शेष कहे हुए की तरह।

७१. सीहोव सद्देसु असन्तसन्तो, वातो व जालम्हि असज्जमानो।
पदुमंव तोयेन अलिप्पमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"आवाज सुनकर जैसे सिंह नहीं डरता, जाल से जैसे हवा नहीं पकड़ी जाती, जल में जैसे कमल लिप्त नहीं होता, वैसा ही होकर गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

सीहो व से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के एक राजा का उद्यान दूर था। बड़े तड़के उठकर उद्यान जाते हुए रास्ते के बीच में उतर कर जहां जल था वहां गये और सोचा कि "मुंह धोऊंगा।" उस प्रदेश में सिंहनी बच्चा जनकर गोचर (शिकार) के लिए गयी थी। राजा के लोगों ने सिंह के बच्चे को देख कर राजा से कहा– 'देव, सिंह का बच्चा है।' राजा ने इस बात की परीक्षा करने के लिए कि 'सिंह किसी से नहीं डरता है' भेरी आदि बजवाया। सिंह का बच्चा उस आवाज को सुनकर भी वैसा ही सोया रहा। तीसरी बार भी राजा ने जब भेरी आदि बजवाया तो उसने सिर तो उठाया लेकिन पूरी परिषद को देख कर भी वैसा ही सोया रहा। तब राजा ने सोचा– 'इसकी माता के आने के पहले ही हमलोग चलें।' जाते हुए सोचा– 'सिंह के बच्चे को पैदा हुए एक ही दिन हुआ है, लेकिन यह न तो संत्रस्त होता है और न डरता है। कब ऐसा होगा कि मैं भी तृष्णा और मिथ्यादृष्टि के भय को दूर कर न भयभीत होऊं और न डरूं।' उसने यही आलंबन लिया, राह में जाते हुए केवट द्वारा मछली पकड़े जाने के बाद, शाखा में बंधे जाल से हवा को रुकते न देख, उसको भी निमित्त के रूप में ग्रहण किया– 'कब मैं तृष्णा, मिथ्यादृष्टि जाल एवं मोह जाल को फाड़कर हवा की तरह ही बिना आसक्त हुए, बिना बंधे हुए जाऊंगा?'

तब वे उद्यान गये और शिलापट्ट पुष्करिणी के तीर पर बैठे। हवा के चलने से कमल झुककर पानी को छूता और हवा शांत होने पर पुनः यथास्थान आ जाता, लेकिन जल से अलिप्त ही रहता। इस निमित्त को भी उन्होंने ग्रहण किया– 'कब मैं इस जल में जनमे जल से अनुपलिप्त रहनेवाले कमल की तरह संसार में रह कर भी अलिप्त रहना सीखूं?' वे बार-बार यही सोचते कि– 'जैसे सिंह, वायु और कमल क्रमशः निर्भीक अनासक्त और अनुपलिप्त रहते हैं वैसे ही मुझे भी होना चाहिए।' ऐसा सोच राज्य त्याग, प्रव्रजित हो विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया और यह गाथा कही।

यहां सीहो– सिंह चार प्रकार के कहे गये हैं, तृण सिंह, पंडु सिंह, काळ सिंह एवं केसर सिंह। इनमें केसर सिंह सर्वश्रेष्ठ है। वही यहां अभिप्रेत है। **वातो–** पूरब आदि से बहनेवाली होने के कारण अनेक प्रकार की हवायें। **पदुमं** लाल, श्वेत आदि होने से। उनमें से जो कोई हवा जिस किसी कमल को झुकाती या घुमाती है, तब चूंकि संत्रास (भय) आत्म-स्नेह के कारण होता है, आत्म-स्नेह ही तृष्णा का लेप है, वह भी मिथ्यादृष्टि संप्रयुक्त और मिथ्यादृष्टि विप्रयुक्त लोभ से होता है, वही तृष्णा है। आसक्ति उसको होती है जिसमें मोह है, जो परीक्षा नहीं करता है और मोह अविद्या है। शमथ से तृष्णा का प्रहाण होता है और विपश्यना से अविद्या का। इसलिए शमथ से आत्म-स्नेह को छोड़कर, **सीहो व सद्देसु–** सिंह की तरह आवाजों से अनित्य आदि से **असन्तसन्तो–** नहीं डरते हुए, विपश्यना से मोह को दूर कर, **वातोव जालम्हि–** जाल में हवा की तरह स्कंध आयतन आदि में **असज्जमान–** अनासक्त रहते हुए; शमथ से ही लोभ, लोभ संप्रयुक्त एवं मिथ्यादृष्टि का प्रहाण कर, **पदुमंव तोयेन** कमल के समान जल से अर्थात सभी भवभोगों के लोभ से अलिप्त रहता है। यहां शील शमथ का आसन्न कारण है, शमथ समाधि है और विपश्यना प्रज्ञा है। इस प्रकार उन दो धर्मों (शमथ और विपश्यना) के सिद्ध हो जाने पर तीनों ही स्कंध (शील, समाधि और प्रज्ञा) सिद्ध होते हैं। तब शील स्कंध में सुरत (अनुरक्त) होता है। वह सिंह की तरह क्रोधित किये जाने की इच्छा से किये गये आवाजों से या आघात से नहीं डरता, भय नहीं खाता। प्रज्ञास्कंध से प्रतिवेध स्वभाव का होकर हवा की तरह जाल में अर्थात स्कंध आदि धर्मभेद में आसक्त नहीं होता है और समाधिस्कंध से वीतराग हो कमल की तरह जल अर्थात राग से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार शमथ विपश्यना से और शील, समाधि, प्रज्ञास्कंध से यथासंभव अविद्या– तृष्णाओं को और तीन अकुशल मूलों को प्रहाण करने के कारण निर्भीक, अनासक्त तथा अलिप्त रहता है– यह जानना चाहिए। शेष कहे हुए की तरह।

७२. सीहो यथा दाठबली पसय्ह, राजा मिगानं अभिभुय्यचारी।
सेवेथ पन्तानि सेनासनानि, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

“जैसे मजबूत जबड़ेवाले जानवरों के राजा सिंह मृगों को पराजित कर, विजयी हो, एकांत शयनासन में वास करता है वैसे ही गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।”

सीहो यथा से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी के राजा सीमाप्रांत में हुए विद्रोह को शांत करने के लिए प्रचलित रास्ते को छोड़कर जंगल के सीधे रास्ते से बड़ी सेना के साथ जा रहे थे। उस समय पर्वतपाद में प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का सेवन करते हुए एक सिंह लेटा था। उसको देखकर राजा के लोगों ने उन्हें बताया। राजा ने यह सोचकर कि ‘सिंह आवाज से नहीं डरता है’ भेरी, शंख तथा ढोल आदि को बजवाया। सिंह वैसा ही लेटा रहा। दूसरी बार बजवाया। सिंह वैसा ही लेटा रहा। तीसरी बार बजवाया। सिंह ने यह सोचकर कि ‘मेरा शत्रु है’ चारों पैरों को ठीक से जमीन पर प्रतिष्ठित कर सिंहनाद किया। उसको सुनकर ही महावत आदि हाथी आदि पर चढ़ कर घास आदि लाने चले गये, अन्य हाथी और घोड़े आदि इधर-उधर भाग गये। राजा का हाथी भी राजा को लेकर गहन वन में पिटता हुआ भागा। उसको रोक रखने में असमर्थ राजा वृक्ष की शाखा से लटक कर धरती पर उतरे, पगडंडी से जाते हुए प्रत्येकबुद्धों के वास

स्थान पर आकर वहां प्रत्येकबुद्ध से पूछा– 'भंते, आपने आवाज सुनी'?

'हां, महाराज।'

'भंते, किसकी आवाज सुनी?'

'पहले भेरी, शंख आदि की, बाद में सिंह की।'

'भंते, आप डरे नहीं?'

'महाराज, हमलोग कोई आवाज सुनकर नहीं डरते।'

'भंते, क्या मैं भी ऐसा कर सकता हूं?'

'हां महाराज, कर सकते हैं, यदि प्रव्रजित हो जायं।'

'भंते, मैं प्रव्रजित होना चाहता हूं।'

तब उनको प्रव्रजित कर पहले कहे गये की तरह विनय के नियमों को सिखाया। उन्होंने भी पहले कहे गये की तरह विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर यह गाथा कही।

यहां सहन करना, चोट पहुंचाना, और शीघ्रगामी होने के कारण सिंह कहलाता है। यहां केसर सिंह से अभिप्राय है। जिसका जबड़ा मजबूत है वह दाठबली है। **पसय्ह अभिभुय्य** इन दोनों शब्दों को चारी शब्द के साथ जोड़ना चाहिए।

पसय्हचारी अभिभुय्यचारी– अर्थात आचरण से जीतकर, निग्रह करके, **पसय्हचारी–** पराजित कर, डराकर, वश में करके, आचरण से **अभिभुय्यचारी**। वह दैहिक (कायिक) शक्ति से **पसय्हचारी** और तेज आचरण की शक्ति से **अभिभुय्यचारी**। यहां अगर कोई पूछे कि 'किसको निग्रह करके विजयी हुआ' तो उत्तर देना चाहिए '**मिगानं** अर्थात मृगाओं को।' यहां मिगानं षष्ठी में है, द्वितीया के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थ हुआ मृगाओं को निग्रह करके, पराजित करके विजयी हुआ है कह खंडन करना चाहिए।

पन्तानि– दूर का, **सेनासनानि–** निवासस्थान। शेष पूर्व में कहे गये की तरह जान सकते हैं। इसलिए यहां विस्तार नहीं किया गया है।

७३. मेत्तं उपेक्खं करुणं विमुत्तिं, आसेवमानो मुदितञ्च काले।
सब्बेन लोकेन अविरुज्झमानो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"उचित समय पर मेत्ता, उपेक्षा, करुणा, एवं मुदिता विमुक्तियों की, दुनिया बाधा भी पहुंचाना चाहे तो बाधित न होकर, भावना करते हुए गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

मेत्तं उपेक्खं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

एक राजा मेत्ता आदि ध्यान के लाभी हुए। राज्य को ध्यान सुख का विघ्न समझ कर ध्यान की निरंतरता बनाये रखने के लिए राज्य को त्याग प्रव्रजित हुए और विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार किया और यह उदान गाथा कही।

यहां 'सभी प्राणी सुखी हों' आदि विधि से हित तथा सुख को पास लाने की कामना मेत्ता है।

'ओह, इस दुःख से ये मुक्त हों' आदि विधि से अहित और दुःख को दूर करने की इच्छा **करुणा** है। मोद का अर्थ 'प्राणी सुखी हैं, सुखी हैं' यह अच्छी बात है, सुंदर बात है, आदि विधि से हित तथा सुख के विपरीत नहीं चाहना ही **मुदिता** है। 'अपने कर्म से जाना जायगा'– सुख तथा दुःख में उपेक्षा भाव रखना **उपेक्खा** है। गाथा सुख के लिए पहले मेत्ता कहकर क्रम के विरुद्ध उपेक्षा कहा, बाद में मुदिता। **विमुत्तिं–** ये चारों अपने विरोधी धर्मों से विमुक्त होने के कारण विमुक्तियां हैं। इसलिए **मेत्तं उपेक्खं करुणं विमुत्तिं, आसेवमानो मुदितं च काले** कहा गया है।

यहां **आसेवमानो–** तीनों (मेत्ता, करुणा, विमुक्ति) को तीनों और चारों ध्यानों से भावना करते हुए और उपेक्षा को चतुर्थ ध्यान से भावना करते हुए **काले–** मेत्ता की आसेवना कर, उससे उठकर करुणा की, फिर मुदिता की, उसके बाद प्रीतिरहित ध्यान से उठकर उपेक्षा की भावना करते हुए 'उचित समय पर भावना करते हुए' कहा जाता है, भावना करने के आरामदायक काल को। **सब्बेन लोकेन अविरुज्झमानो–** दशों दिशाओं में सभी प्राणी लोकों से बिना बाधित हुए। मेत्ता आदि की भावना करने पर प्राणी अनुकूल होते हैं, अप्रतिकूल नहीं होते। प्राणियों में जो विरोधभूत प्रतिघ है उसका शमन होता है। इसीलिए 'सभी लोकों से बिना बाधित हुए' कहा। यह संक्षेप है, विस्तार से मेत्ता आदि की कथा **धम्मसंगणि** की अट्ठकथा **अट्ठसालिनी** में कही गयी है (ध० स० अट्ठ० २५१)। शेष पहले कहे गये की तरह।

७४. रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, संदालयित्वान संयोजनानि।
असन्तसं जीवितसङ्खयम्हि, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"यहां राग, द्वेष तथा मोह का प्रहाण कर संयोजनों को तोड़कर, मृत्यु से भी न डरते हुए गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

रागञ्च दोसञ्च से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

राजगृह को आश्रय बनाकर सब प्रत्येकबुद्धों में आखिरी मातंग नामक प्रत्येकबुद्ध विहार करते थे। तब हमारे बोधिसत्त्व के उत्पन्न होने पर उनकी पूजा के लिए आते हुए देवताओं ने प्रत्येकबुद्ध को देख कर यह कहा– 'मान्यवर, बुद्ध लोक में उत्पन्न हो गये हैं।'

निरोध समापत्ति से उठकर वह उन शब्दों को सुनकर और अपनी मृत्यु निकट देखकर हिमालय में प्रत्येकबुद्धों के परिनिर्वाण स्थान महाप्रताप नामक पर्वत पर आकाश मार्ग से गये और पहले परिनिर्वृत्त प्रत्येकबुद्धों की अस्थियों की ढेर को प्रपात में फेंका और शिलातल पर बैठकर यह उदान गाथा कही।

यहां राग, द्वेष तथा मोह के बारे में **उरग सुत्त** में कहा गया है, ये वहां वर्णित हैं। **संयोजनानि–** दस संयोजन हैं, उनको अलग-अलग मार्ग से काट कर। **असन्तसं जीवितसङ्खयम्हि–** जीवन की हानि (मृत्यु) कहते हैं च्युतिचित्त का टूटना, बाहर निकलना उस जीवन की हानि होने पर भी, जीवन के कट जाने या समाप्त हो जाने पर भी प्रहीण होने के कारण भी जो संत्रस्त नहीं हो। यहां तक सोपादिशेष निर्वाण को अपने में दिखाकर गाथा के अंत में अनुपादिशेष निर्वाण में परिनिर्वृत्त हुए।

७५. भजन्ति सेवन्ति च कारणत्था, निक्कारणा दुल्लभा अज्ज मित्ता।
अत्तट्ठपञ्ञा असुची मनुस्सा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

"लोग दूसरे की संगति करते हैं; सेवा करते हैं वह बिना प्रयोजन के नहीं करते, वह निष्कारण नहीं है। आजकल वैसे मित्र दुर्लभ हैं जो बिना प्रयोजन के हों। मनुष्य अपना स्वार्थ साधने में होशियार हैं, इसलिए वे अशुद्ध हैं, अच्छे नहीं हैं। (इसलिए) गैंड़े के सींग की तरह अकेला विचरण करे।"

भजन्ति से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है?

वाराणसी में एक राजा प्रथम गाथा में कहे गये की तरह ही राज्य करते थे और उनका राज्य समृद्ध था। उनको भयंकर रोग हुआ जिससे वे दुःखी रहते थे। बीस हजार स्त्रियां उन्हें घेरे रहतीं और हाथ-पांव दबाती रहतीं। अमात्यों ने, 'अब ये राजा नहीं बचेंगे, अच्छा हो हमलोग अपनी शरण खोजें' ऐसा सोचकर दूसरे राजा के पास जाकर उन लोगों ने उनकी सेवा करने की याचना की। वे वहां सेवा ही करते, कुछ लाभ नहीं पाते। राजा की बीमारी जब ठीक हुई तो उन्होंने पूछा, 'इस नाम का तथा इस नाम का या अमुक अमुक व्यक्ति कहां है।' तब उनका हाल सुनकर सिर हिलाया और चुप रहे। उन अमात्यों ने यह सुनकर कि 'राजा ठीक हो गये हैं' और चूंकि वे लोग वहां कुछ नहीं पाते थे, अत्यंत दीन-हीन दीखते हुए पुनः उन्होंने आकर वंदना की और एक ओर खड़े हुए। राजा ने जब पूछा कि 'तात, तुम लोग कहां गये थे' तो उन लोगों ने कहा, 'देव आपको दुर्बल देखकर आजीविका के भय से अमुक राजा के जनपद में गये थे'। राजा ने सिर हिलाकर सोचा, 'क्यों न मैं इनकी परीक्षा लूं कि वे फिर ऐसा करेंगे या नहीं' उसी पहलेवाले रोग का बहाना किया। स्त्रियों ने उन्हें घेरा और पहले की तरह ही सब कुछ किया। वे अमात्य भी उसी प्रकार बहुत लोगों को लेकर लौट गये। इस प्रकार तीन बार राजा ने पहले की तरह ही किया। वे भी वैसे ही लौट गये। चौथी बार उनको आते देख राजा ने कहा, 'ओह, इन लोगों ने दुष्कर कार्य किया जो मुझ रोगी को छोड़कर मेरी उपेक्षा कर ये लौट गये'। (फलस्वरूप) राजा को निर्वेद प्राप्त हुआ और वे राज्य त्याग, प्रव्रजित हुए। विपश्यना करते हुए प्रत्येकबोधि का साक्षात्कार कर उन्होंने यह उदानगाथा कही।

यहां भजन्ति– शरीर की सेवा बहुत प्यार से करता है। **सेवन्ति–** हाथ जोड़े खड़े रहकर क्या करना है आज्ञा सुनकर परिचर्या करता है। **कारणत्था–** इसका कारण है– सेवा और संगति का कोई अन्य कारण नहीं है, इनका कारण अर्थ ही है, अर्थ (धन) के लिए ही सेवा करते हैं– यह कहा गया है।

निक्कारणा दुल्लभा अज्ज मित्ता 'इससे कुछ प्राप्त करूंगा, लाभ होगा ही' इस प्रकार अपने लाभ के कारण ही सेवा करते हैं, निष्कारण केवल वे करते हैं,

जो मित्र उपकारी है, जो सुख-दुःख में सखा हैं कल्याण बतानेवाले जो मित्र हैं और जो मित्र पर अनुकंपा करनेवाले हैं। (दी० नि० ३.२६५)

इस प्रकार कहे गये आर्य (श्रेष्ठ) मित्रभाव से समन्वागत मित्र आज दुर्लभ हैं। इसकी प्रज्ञा अपने में स्थित है अर्थात जो सिर्फ अपना लाभ देखता है, दूसरे को नहीं वह **अत्तट्ठपञ्ञा** है। **दिट्ठत्थपञ्ञा** भी पुराना पाठ है, संप्रति मिथ्यादृष्टि के अर्थ में इसकी प्रज्ञा है भविष्य को देखनेवाली नहीं है यह कहा गया है।

असुचि– अशुद्ध, अनार्य कायिक, वाचसिक तथा मानसिक कर्मों से समन्वागत। शेष पूर्व में कहे गये की तरह जानना चाहिए।

ग्यारह गाथाओं से चतुर्थ वर्ग समाप्त हुआ।

इस प्रकार इस एकातालीस गाथावाले खग्गविसाणसुत्त का सर्वत्र यथानुरूप जोड़कर, संबंध तथा अर्थ को जानना चाहिए। अति विस्तारभय के कारण हमलोगों ने सर्वत्र नहीं जोड़ा है।

खग्गविसाणसुत्तवर्णना समाप्त।

४. कसिभारद्वाजसुत्तवर्णना

एवं मे सुतं से प्रारंभ होनेवाला कसिभारद्वाजसुत्त है।

इसकी उत्पत्ति क्या है?

भगवान मगध में विहार कर रहे थे, दक्षिणागिरि में एक नाला ब्राह्मण गांव में। जैसे– भोजनपूर्व कृत्य और भोजन के पश्चात इन दो कृत्यों में भोजन के पूर्व के कृत्य को पूरा करके बुद्धचक्षु से लोक को देखते हुए कसिभारद्वाज ब्राह्मण को अर्हत्व के आधार से संपन्न देखकर 'वहां मेरे जाने पर जो होगा, उसके बाद कथा के अंत में धर्म देशना सुनकर यह ब्राह्मण प्रव्रजित होकर अर्हत्व प्राप्त करेगा', ऐसा जानकर, वहां गये और कथा चलाकर यह सुत्त कहा।

यहां 'बुद्धों का भोजन के पहले का कृत्य कौन-सा, कौन-सा हो सकता है और बाद का कृत्य कौन-सा, कौन-सा हो सकता है?

कहा गया है– भगवान बुद्ध प्रातःकाल ही उठकर सेवक पर अनुग्रह करने के लिए तथा शरीर के आराम के लिए मुंह धोना आदि शारीरिक तैयारी करते थे। भिक्षाटन के लिए जाने के पहले तक का समय एकांत में बैठ बिताते थे। जब भिक्षाटन का समय होता, अंतर्वसन पहनते, कायबंधन बांधते और ऊपर से चीवर ओढ़कर, पात्र लेकर कभी अकेले और कभी भिक्षुसंघ से परिवारित हो गांव या नगर में भिक्षा के लिए जाते। कभी स्वाभाविक रूप से और कभी अनेक विद्यमान प्रातिहार्यों के साथ जैसे आगे कहा गया है। भगवान के भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते समय मंद-मंद चलनेवाली हवा आगे-आगे बहकर पृथ्वी को साफ करती थीः बादल जल की फुहार छोड़ते हुए रास्ते की धूल को शांत कर उनके ऊपर वितान की तरह रहते। दूसरी हवा फूल एकत्र कर मार्ग में बिखेरती, ऊंची भूमि नीची हो जाती, नीची भूमि ऊँची हो जाती। जिस समय भगवान पैर रखते, उस समय वहां भूमि समतल हो जाती। पैरों को रथचक्र की तरह बड़े कमल फूलों के सदृश सुखद स्पर्श प्राप्त होते। इंद्रकील की तरह जमीन पर जैसे ही दाहिना पैर रखते शरीर से छः वर्णों की रश्मियां निकलकर सुनहली चमकवाले लालरंग के समान चित्रपट पर फैले प्रासाद कूटागार आदि बनाती हुई इधर-उधर दौड़तीं। हाथी, घोड़े और पक्षी आदि अपने-अपने स्थान पर स्थित हो मधुर ध्वनि करते, उसी प्रकार भेरी, वीणा आदि तूर्य बाजे और मनुष्यों के शरीरों के आभूषण (मधुर ध्वनि) करते, जिनसे लोग जानते कि 'आज भगवान भिक्षा के लिए आये हैं'। अच्छा वस्त्र पहन-ओढ़, गंध-पुष्प आदि लेकर वे घर से बाहर निकल गली में जाते और भगवान की गंध पुष्प आदि से भली-भांति पूजन-वंदन कर यह याचना करते कि 'भंते, हमारे यहां दस भिक्षु, हमारे यहां बीस और हमारे यहां एक सौ भिक्षुओं को भोजन के लिए दें' और भगवान का पात्र ले, आसन की व्यवस्था कर सावधानी से भोजन कराने के लिए प्रतीक्षा करते।

भोजन के बाद भगवान उनकी वंश परंपरा देख उसी के अनुसार धर्म देशना करते। जैसे कुछ

शरणगमन में प्रतिष्ठित होते, कुछ पांच शीलों में, कुछ श्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी फलों में से किसी एक में और कुछ प्रव्रजित हो अग्रफल अर्हतफल में। इस प्रकार वैसे-वैसे लोगों पर अनुग्रह कर आसन से उठ विहार जाते। वहां गोलाकार मंडप में प्रज्ञप्त श्रेष्ठ बुद्धासन पर भिक्षुओं द्वारा भोजन समाप्त कर लेने की प्रतीक्षा में बैठते। उसके बाद, भिक्षुओं के भोजन कर लेने के बाद सेवक भगवान से निवेदन करते। तब भगवान गंधकुटी में प्रवेश करते। यहां यह **पुरेभत्तकिच्च** है। जो यहां नहीं कहा गया है, उसे **ब्रह्मायुसुत्त** में कहे गये के अनुसार जानना चाहिए।

तब भगवान इस प्रकार भोजन कर लेने के पश्चात गंधकुटी के सभा-भवन में बैठकर, पैर धोकर, पांव रखने की चौकी पर खड़े हो भिक्षुसंघ को उपदेश देते– 'भिक्षुओ, बिना प्रमाद के लक्ष्य प्राप्त करने का, पूरा करने का प्रयास करो। संसार में बुद्धोत्पाद दुर्लभ है, मनुष्य जीवन दुर्लभ है, श्रद्धासंपत्ति दुर्लभ है, प्रव्रज्या दुर्लभ है और लोक में सद्धर्म श्रवण भी दुर्लभ है।' तब भिक्षुगण भगवान की वंदनाकर कर्मस्थान[१] के बारे में पूछते। तब भिक्षुओं को उनके आचरण या चरित[२] के अनुसार भगवान कर्मस्थान देते।

वे कर्मस्थान सीखकर, भगवान का अभिवादनकर अपने-अपने निवास स्थान जाते; कुछ जंगल में, कुछ वृक्ष के नीचे, कुछ पर्वत आदि में से किसी एक में। कुछ चातुमहाराजिक भवन में ...पे०... कुछ वशवर्ती भवन में। तब भगवान गंधकुटी में प्रवेश करते, यदि चाहते तो दाहिने करवट लेटकर, स्मृतिमान तथा संप्रज्ञ हो मुहूर्त भर के लिए सिंह शय्या में सोते। शरीर को आराम देने के बाद उठते और दूसरे प्रहर में भी लोक का अवलोकन करते। दिन के तीसरे प्रहर में जिस गांव या नगर का आश्रय लेकर विहार करते (अर्थात जो गांव या निगम उनके भिक्षाटन का उपनिश्रय होता), वहां के लोग पहले भोजन का दान दे, भोजन के पश्चात् अच्छी तरह से पहन-ओढ़ कर गंधफूल आदि लेकर विहार में एकत्रित होते। तब भगवान परिषद के पहुंचने पर अनुरूप प्रातिहार्य (चमत्कार) कर वहां जाते और धर्मसभा में प्रज्ञप्त श्रेष्ठ बुद्धासन पर बैठ वैसा धर्म देते जो समयानुकूल होता और प्रमाणयुक्त (न अधिक न कम) होता। तब समय जानकर परिषद को प्रेरित करते।

उसके बाद यदि उनको नहाने की इच्छा होती, तो बुद्धासन से उठकर, सेवक के पानी आदि की व्यवस्था के लिए जाने पर, उनके हाथ से नहाने का वस्त्र लेकर स्नान घर में प्रवेश करते। सेवक बुद्धासन लाकर गंधकुटी परिवेण में व्यवस्था करता। भगवान नहाकर अच्छी तरह से रंगा चीवर पहन, कायबंधन बांध, ऊपर का कपड़ा ओढ़ वहां आकर अकेला बैठते, मुहूर्त भर ध्यानस्थ होते। तब भिक्षु अपने-अपने निवास स्थान से आकर भगवान की सेवा में सभा-भवन जाते। वहां कुछ भिक्षु प्रश्न पूछते, कुछ कर्मस्थान और कुछ धर्मश्रवण की याचना करते। भगवान उनके अभिप्राय को पूरा कर रात का प्रथम याम बिताते।

रात के मध्यम याम में सभी दस हजार लोकधातु के देवता अनुमति प्राप्त करते हुए भगवान के पास पहुंचते और तैयार किये गये प्रश्न पूछते यहां तक कि चार अक्षरोंवाला छोटा प्रश्न भी। भगवान उन देवताओं के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मध्यम याम बिताते। उसके बाद अंतिम याम को चार भागों में बांट एक भाग में चंक्रमण करते, दूसरे भाग में गंधकुटी में प्रवेशकर दाहिने करवट होकर तथा

१. कर्मस्थान चालीस हैं। इसके लिए देखें विसुद्धिमग्गो।

२. चरित छः हैं– राग चरित, दोष चरित, मोह चरित, श्रद्धा चरित, बुद्धि चरित और वितर्क चरित।

स्मृतिमान संप्रज्ञ रहकर सिंह शैय्या में सोते; तीसरे भाग को फलसमापत्ति में बिताते और चौथे भाग में महाकरुणा समापत्ति में प्रवेश कर बुद्धचक्षु से वैसे प्राणियों को जानने के लिए लोक का अवलोकन करते जिनकी आंख पर कम धूल या ज्यादा धूल चढ़ी है अर्थात जो धर्मदेशना नहीं समझेंगे या देर से समझेंगे या तुरत समझेंगे।

यह भोजन के बाद का कृत्य है– **पच्छाभत्तकिच्चं।**

इस प्रकार भोजन के बाद के कृत्य जो लोक का देखना है उनके चौथे भाग के अंत में उन सत्त्वों को देखने के लिए जिन्होंने बुद्ध, धर्म तथा संघ में तथा दान, शील, उपोसथ आदि कर्मों में वैसा कर्म किया है या नहीं जो उन्हें उपनिश्रय संपन्न बना सके और निर्वाण की ओर ले जाय। बुद्धचक्षु से संसार देखते हुए कसिभारद्वाज ब्राह्मण को अर्हत बनने के उपनिश्रय (आधार) से संपन्न देखा। यह जानकर कि 'वहां मेरे जाने पर बातचीत होगी और बातचीत के अंत में यह ब्राह्मण मेरी धर्मदेशना सुनकर प्रव्रजित होगा और अर्हत्व प्राप्त करेगा' बुद्ध वहां गये और बातचीत चलाकर इस सुत्त का उपदेश दिया।

यहां **एवं मे सुतं** आदि आयुष्मान आनंद ने प्रथम महासंगीति के समय महाकस्सप द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में पांच सौ अर्हतों को कहा। 'मैं, श्रमण, हल जोतता हूं और बोता हूं' ऐसा कसिभारद्वाज द्वारा कहे जाने पर 'मैं भी, ब्राह्मण, हल जोतता हूं और बोता हूं' जो भगवान द्वारा कहा गया वे सब मिलकर 'कसिभारद्वाजसुत्त' कहलाते हैं।

यहां **एवं–** शब्द आकार, निदर्शन (उदाहरण) तथा अवधारण अर्थ में प्रयुक्त होता है। भगवान की वाणी नाना नय (नीति) निपुण, अनेक अध्याशयों को उत्पन्न करनेवाले अर्थ तथा व्यंजन से संपन्न, नाना प्रकार के प्रातिहार्यो (करिश्मों) से युक्त, धर्मार्थ देशना प्रतिवेध में गंभीर, सभी मनुष्यों द्वारा अपनी-अपनी भाषा में जानने के स्वभाववाली है। भगवान की उस वाणी को सभी प्रकार से, पूरी तरह से जान सकने में कौन समर्थ हो सकता है, इसलिए 'एवं मे सुतं' कहकर यह कहा गया है कि 'मैंने भी एकाकार ही सुना अर्थात अपने तरीके से सुना। निदर्शन अर्थ में 'स्वयंभू नहीं, न मैंने इसका साक्षात्कार किया है' यह कर अपने को मुक्त करते हुए 'इस प्रकार मैंने सुना, ऐसा मेरे द्वारा सुना गया आदि अब कहा जाकर पूरे सूत्र को दरसाते हैं, दिखाते हैं। अवधारण अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है 'भिक्षुओ, मेरे भिक्षु श्रावकों में जो बहुश्रुत, स्मृतिमान, प्रवीण, धृतिमान और सेवक हैं, अग्र आनंद हैं (अ० नि० १.१.२१९-२२३)। इस प्रकार भगवान द्वारा प्रशंसित भावानुरूप धारण करने की क्षमता दिखाते हुए, लोगों में सुनने की इच्छा उत्पन्न करते हैं। **'एवं मे सुतं'–** यह अर्थतः तथा व्यञ्जनतः ऐसी ही है, न तो कम है और न अधिक, अन्यथा नहीं देखना चाहिए। **मे सुतं–** यहां **'मे'** शब्द का प्रयोग 'मया' के अर्थ में है और श्रोत्र द्वार विज्ञान के अर्थ में सुत शब्द प्रयुक्त है। इसलिए **एवं मे सुतं** ति का अर्थ हुआ इस प्रकार श्रोत-विज्ञान से सुनकर मैंने धारण किया है– यह कहा गया है।

एकं समयं– एक समय। **भगवा–** भाग्यवान, जिन्होंने राग, द्वेष और मोह को भग्न कर दिया है उस अर्थ में **भग्गवा** और जिन्होंने टुकड़ा-टुकड़ा करके धर्म को समझा है, समझाया है इस अर्थ में **भत्तवा–** कहा गया है। **मगधेसु विहरति–** मागध, जनपदीय राजकुमारों को 'मगधा' कहते हैं। उनका निवास होने से (वह) एक जनपद भी रूढ़ि से मगध कहा जाता है। उस मगध जनपद में कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न रूपों में करते हैं। कुछ लोगों का कहना है, "चूंकि चेतियराजा ने झूठ बोलकर भूमि में प्रवेश

करते हुए 'गध में प्रवेश मत करो' (मा गधं पविस) कहा; चूंकि उन राजाओं को जो क्षेत्र को खोदते हुए जा रहे थे, लोगों ने 'गध मत करो' (मा गधं करोथ) कहा, इसलिए इस तरह से तथा और नयों से मगध की व्युत्पत्ति करते हैं" ऐसा बहुधा प्रपंच करते हैं। जो व्युत्पत्ति अच्छी लगे, उसे ग्रहण करें।

विहरति– एक ईर्या पथ की बाधा को दूसरे ईर्यापथ से काटकर, बिना गिरे हुए अपने को ले जाता है, चलना चालू रखता है– यह कहा गया है। दिव्य विहार, ब्रह्म विहार और आर्य विहार[1] से प्राणियों का विविध हित करते हैं इसलिए **'विहरति'** कहा गया है। **हरति** एकत्र करता है, पास लाता है, उत्पादन करता है, पैदा करता है– ऐसा कहा गया है।

वैसे ही जब सत्त्व कामुकता में भटक जाते हैं, तब भगवान उनमें कुशल मूल उत्पादन करने के लिए दिव्यविहार से विहरण करते हैं' यह सोचकर कि 'शायद मेरे इस आचरण को देखकर वे इसमें रुचि पैदा करेंगे और काम से विरक्त हो जायेंगे।' जब प्रभुता के लिए वे सत्त्वों से दूर हो जाते हैं उनसे प्रेम नहीं करते हैं, तब ब्रह्म विहार से उनमें अद्वेष कुशलमूल उत्पादन करने के लिए विहार करते हैं यह सोचकर कि 'शायद मेरे इस आचरण को देखकर वे इसमें रुचि पैदा करेंगे और अद्वेष से द्वेष का शमन करेंगे।' जब प्रव्रजित लोग धर्म को लेकर विवाद करते हैं, उस समय भगवान उनमें अमोह कुशलमूल उत्पन्न करने के लिए आर्यविहार से विहार करते हैं यह सोचकर कि 'शायद मेरे इस आचरण को देखकर वे इसमें रुचि पैदा करेंगे और अमोह से मोह का उपशमन करेंगे।' ईर्यापथ विहार के बिना कभी विहार नहीं करते क्योंकि उसके बिना अपने को एक जगह से दूसरी जगह ले जाना नहीं होगा। यह संक्षेप है। विस्तार से मंगलसुत्तवर्णना में हम कहेंगे।

दक्खिणागिरिस्मिं– जो पहाड़ी राजगीर को घेरे हुई है उसके दाहिने तरफ के जनपद को दक्खिणागिरि कहते हैं। उसी जनपद में– यह कहा गया है। वहीं उनका विहार था– इसलिए यह नाम पड़ा। **एकनाळायं ब्राह्मणगामे–** उस गांव का नाम एकनाला था। वहां अधिकतर ब्राह्मण रहते थे। वह गांव ब्राह्मणों का भोग था अर्थात वह ब्राह्मणों की संपत्ति थी इसलिए ब्राह्मणगांव कहा गया है।

तेन खो पन समयेन– जिस समय भगवान अपराजित आसन पर बैठ, अनुत्तर सम्यक संबोधि को प्राप्तकर, धर्मचक्र प्रवर्तित करते हुए मगध के दक्खिणागिरि महाविहार में ब्राह्मण के इंद्रियपरिपाक की प्रतीक्षा करते हुए विहार कर रहे थे उस समय करण-कारक में कहा गया है।

खो पन– ये दोनों निपात यहां पाद पूरक हैं, आकांक्षा के भेद को दिखाने के लिए– ऐसा जानना चाहिए।

कसिभारद्वाजस्स ब्राह्मणस्स– वह ब्राह्मण कृषि से जीविका उपार्जन करते थे, भारद्वाज उनका गोत्र था– इसलिए ऐसे कहे जाते थे।

पञ्चमत्तानि– जैसे 'भोजन में मात्रज्ञ' (मात्रा), यहां मात्र शब्द से प्रमाण मालूम पड़ता है, वैसा ही यहां भी इसलिए पांच प्रमाण का, न कम, न अधिक, पांच सौ हल कहा गया है।

पयुत्तानि– जोते गये थे, बैलों के कंधे पर जुआठ रखकर नाधा गया था– यह अर्थ है।

१. विहार तीन हैं– दिव्य, ब्रह्म और आर्य।

वप्पकाले– बोने के समय में, बीज छींटने के समय– यह कहा गया है। यहां दो प्रकार का बीज बोना होता है– खेत में कर्दम (कादो) करके या खेत को इतना जोतकर कि मिट्टी महीन धूल बन जाय। यहां धूल में बीज बोना अभिप्रेत है। जिस दिन पहली बार बीज बोया जाता है उसको मंगलवप्प (बुआई) कहते हैं। यहां ये उपकरण संपदाएं हैं– तीन हजार बैल लाये गये थे, सबों के सींग सोने से मढ़े थे, उनके खुर चांदी से मढे थे, सभी श्वेत मालाओं से, सभी प्रकार की सुगंधियों से तथा पांच अंगुलियों के निशानों से अलंकृत थे, सभी अंगप्रत्यंग से पूर्ण तथा सर्वलक्षणसंपन्न थे, कुछ अंजनवर्ण की तरह काले, कुछ स्फटिक की तरह सफेद, कुछ मूंगे की तरह लाल, कुछ मसारगल्ल (बहुमूल्य पत्थर विशेष की तरह) चितकबरे। पांच सौ हल जोतनेवाले हलवाहे वर्फ की तरह सफेद वस्त्र पहने थे, माला से अलंकृत थे, उनके दाहिने कंधे पर फूल की गेंडुरी थी, शरीर पर हरताल तथा लाल संखियों के चमकनेवाले निशान अंकित थे और दस-दस के समूह में वे हल ले जा रहे थे। हलों के शीर्ष, जुआठ तथा पैना (प्रतोद) सभी सोने से मढ़े थे। प्रथम हल में आठ बैल जुते थे, शेष में चार-चार और अवशेष इसलिए लाये गये थे कि थके हुए बैल के बदले जोते जायेंगे। एक-एक के समूह में एक-एक बीज की गाड़ी थी, एक जोतता था, एक बोता था।

ब्राह्मण प्रातःकाल ही दाढ़ी मुड़वा कर, स्नान कर, सुगंध से (अपने को) लेपकर पांच सौ मूल्य का वस्त्र पहन, हजार मूल्य का वस्त्र कंधे पर रख, एक-एक अंगुलि में दो-दो अंगूठी पहन इस तरह बीस अंगुठियां पहन, कानों में सिंह कुंडल पहन, माथे पर ब्राह्मण की पगड़ी बांध, कंठ में स्वर्णमाल पहन ब्राह्मणों के समूह से परिवारित हो काम करने के बारे में आदेश दे रहा था जैसे यह करो– वह करो। अब उनकी पत्नी सुगंधित जल से स्नानकर, सभी अलंकारो से विभूषित हो, ब्राह्मणियों के समूह से परिवारित हो, अनेक सौ पात्रों में खीर पकाकर, बड़ी गाड़ी में लाद, जहां कृषिकर्म हो रहा था, वहां आई। उनका घर भी सर्वत्र गंध से लेपा हुआ था तथा फूलों से अच्छी तरह वहां भूतों, देवों तथा अन्यों की पूजा की गयी थी। खेत में जगह-जगह पर पताके लहराये गये थे। नौकर-चाकरों के साथ काम से थककर आये लोग अढ़ाई हजार थे, सबों के वस्त्र बर्फ की तरह साफ थे, सभी के लिए खीर का भोजन तैयार किया गया था।

अब ब्राह्मण ने जिसमें स्वयं खाते, उस स्वर्ण थाली को धुलवाकर खीर से भरकर उसमें घी, मधु और गुड़ आदि मिलाकर हल की पूजा करवायी। ब्राह्मणी पांच सौ हलवाहों को जो सोने, चांदी, कांसा, तांबा आदि का पात्र लेकर बैठे थे, उनको सोने की कड़छुल से खीर निकाल कर दे रही थी। ब्राह्मण बलिकर्म (आहुति, पूजा) करवा कर सोने की खड़ाऊं पर चढ़, सोने की लाठी से 'इधर खीर दो, इधर घी दो, इधर गुड़ दो' कहते हुए धूम रहा था। अब भगवान गंधकुटी में बैठे थे, वहीं से उन्होंने ब्राह्मण का भोजन कराना अभी शेष ही है जान, यही समय है ब्राह्मण को दमन करने का सोच, चीवर पहन, कायबंधन बांध, संघाटी ओढ़, पात्र ले गंधकुटी से वैसे ही बाहर निकले जैसे अनुत्तर पुरुषदम्य सारथि। इसलिए आनंद ने कहा **"अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा"** यहां **अथ** निपात है दूसरी आकांक्षा के वचन आरंभ में, **खो** पादपूरण के लिए।

भगवा– कहे गये की तरह।

पुब्बण्हसमयं– दिन के पूर्वभाग में, पूर्वाह्न में। पूर्वाह्न में एक क्षण कहा गया है। इस प्रकार अत्यंत

निकटता का संयोग होने पर द्वितीया विभक्ति लगती है।

निवासेत्वा– पहनकर, विहार में जो चीवर पहने रहते, उसको बदलने के अर्थ में यहां जानना चाहिए। भगवान उसके पहले निर्वस्त्र नहीं थे। उनके चीवर बदलने की बात यहां कही गयी है।

पत्तचीवरमादाय– हाथों में पात्र, काया को चीवर से ढंककर, चीवर पहनकर, स्वीकार कर, धारण कर यह अर्थ है। (भोजन) के लिए प्रवेश करने की इच्छावाले भगवान के हाथों में जो दो विकसित कमल के समान थे, इंद्र नील मणि वर्ण का पत्थर का पात्र भ्रमर की तरह आया। इसलिए इस प्रकार आये पात्र को हाथ से लेकर, स्वीकार कर चीवर पहन तथा संघाटी ओढ़कर– यह इसका अर्थ जानना चाहिए। जिस किसी तरह से लेकर– इत्यादि कहा जाता है, जैसे "ठीक से लेकर विदा होता है।"

येन– जिस मार्ग से।

कम्मन्तो– काम करने की जगह।

तेन– उस मार्ग से।

उपसङ्कमि– गये। जहां कसिभारद्वाज का काम हो रहा था, वहीं गये– यह कहा गया है। अब भिक्षु भगवान के पीछे-पीछे क्यों नहीं गये?

कहा जाता है– जब भगवान कहीं अकेले जाना चाहते हैं तो भिक्षाचार बेला में द्वार बंद कर गंधकुटी के अंदर प्रवेश करते हैं। इसको देखकर भिक्षु यह समझ लेते हैं कि 'आज भगवान अकेले ही गांव जाना चाहते हैं, निश्चित ही किसी व्यक्ति को विनीत (शिक्षित) करने के लिए, जो शिक्षित होने योग्य है उसको देखा है उन्होंने।' वे भिक्षु अपना पात्र-चीवर ले गंधकुटी की प्रदक्षिणा कर भिक्षा के लिए जाते हैं। उस समय भगवान ने ऐसा ही किया। इसलिए भिक्षु भगवान के पीछे-पीछे नहीं गये।

तेन खो पन समयेन– जिस समय भगवान वहां पहुंचे जहां काम हो रहा था, उस समय ब्राह्मण लोगों को भोजन खिला ही रहा था, परोसना जारी ही था, भोजन-दान जारी था। जो पहले कहा कि 'ब्राह्मणी पांच सौ किसानों को, जो सोने, चांदी, कांसा, तांबा का पात्र लेकर बैठे थे, सोने की कड़छुल से खीर निकाल-निकाल खिला रही थी।' अब भगवान वहां पहुंचे जहां भोजन कराया जा रहा था। क्यों वहां गये? ब्राह्मण पर अनुग्रह करने के लिए। भगवान भिखमंगे की तरह भोजन मांगने की इच्छा से जहां खिलाया जा रहा था, वहां नहीं पहुंचे। भगवान के बयासी हजार शाक्य और कोलिय राजा रिश्तेदार थे, इन लोंगो ने तो नियमित भोजन देने की कोशिश की थी लेकिन भगवान सिर्फ भोजन के लिए प्रव्रजित न हुए थे परंतु 'अनेक असंखेय्य कल्पों में पांच महापरित्यागों का परित्याग करते हुए पारमी पूरा करते हुए 'मुक्त हो, मुक्त करूंगा, दांत हो, दांत करूंगा, शांत हो, शांत करूंगा परिनिर्वाण को प्राप्तकर दूसरे को परिनिर्वाण प्राप्त कराऊंगा', इसलिए प्रव्रजित हुए। इसलिए अपनी मुक्ति से ...पे०... अपने परिनिर्वाण से दूसरे को मुक्त करते हुए... पे०... परिनिर्वाण प्राप्त कराते हुए संसार में विचरण करते हुए ब्राह्मण पर अनुग्रह करने के लिए भोजन खिलाये जाने के स्थान पर पहुंचे– यह जानना चाहिए।

उपसङ्कमित्वा एकमन्तं अट्ठासि– इस प्रकार वहां पहुंच कर एक ओर खड़े हुए।

एकमन्तं– नपुसंक भाव की व्याख्या है, एक स्थान पर, एक बगल में - ऐसा कहा गया है। यहां

सप्तमी के अर्थ में द्वितीया का प्रयोग है। जहां खड़े होने से ब्राह्मण बुद्ध को देख सके, उनकी कही बात सुन सके, उनको देख सके, वैसे ऊंचे स्थान पर खड़े हुए। खड़े होकर उन्होंने अपनी स्वर्णमय देह से ऐसी आभा छोड़ी जो रक्तवर्ण सोने के रस की तरह थी और ऐसी प्रभासित हो रही थी जैसे हजार चंद्रमा और सूर्य चमक रहे हों, ऐसी आभा उन्होंने चारों ओर अस्सी हाथ की दूरी तक फैलायी, जिसके फैल जाने से ब्राह्मण की कर्मशाला, उसकी दीवार, वृक्ष, जोती गयी माटी का पिंड आदि सब कुछ स्वर्णमय हो गया। अब लोग खीर खाकर, अस्सी अनुव्यंजनों तथा बत्तीस श्रेष्ठ महापुरुष लक्षणों से प्रतिमंडित बुद्ध के शरीर को तथा उनकी दोनों भुजाओं को, जो ब्यामभर निकली प्रभा से विभूषित झंडा पताकाओं से समुज्ज्वलित व ऐश्वर्य सहित चलते-फिरते कमल के तालाब की तरह चारों ओर दर्शनीय थे, रश्मिजाल से समुज्ज्वलित तारागण के समान आकाश की तरह था, चमकता हुआ सोने के पहाड़ का शिखर जो ऐश्वर्य से प्रभावित हो रहा था वैसे बुद्ध को जो एक ओर खड़े थे देखकर हाथ पैर धोकर अंजलि जोड़कर उन्हें चारों ओर से घेर कर खड़े हुए। इस प्रकार उन लोगों के द्वारा संपरिवारित कसिभारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान को भिक्षा के लिए खड़े देखा। भगवान को देखकर ऐसा कहा– 'श्रमण, मैं हल जोतता हूं, और बीज बोता हूं।'

ऐसा उसने क्यों कहा? क्या सब को प्रसन्न करनेवाले, विश्वास उत्पन्न करनेवाले, श्रेष्ठ संयमी भगवान में अश्रद्धा के कारण अथवा अढ़ाई हजार लोगों के लिए खीर तैयार करनेवाला होकर भी एक कड़छुल भिक्षा देने में कंजूसी के कारण? दोनों ही नहीं है, बल्कि उन भगवान के दर्शन से अतृप्त, काम करना छोड़ लोगों को देखकर 'मेरा काम बंद करवाने के लिए यह आया है' सोच उसे अप्रसन्नता हुयी। इस कारण ऐसा कहा। भगवान की लक्षण संपत्ति देखकर उसको ऐसा हुआ 'यदि यह काम करे तो पूरे जंबुद्वीप में मनुष्यों के सिर के चूड़ामणि की तरह हो। कौन-सा ऐसा काम है जो यह नहीं कर सकता है? इस प्रकार आलस के कारण काम में अपने को न लगाकर, बीज बोने के मंगल दिन पर भिक्षाटन कर भोजन खाने के लिए हट्टा-कट्टा शरीर लिए विचरण करता है?' इसलिए कहा– "श्रमण, मैं जोतता हूं, बीज बोता हूं और जोत-बो कर खाता हूं, मेरे काम असफल नहीं होते, मैं वैसा नहीं हूं जैसे तुम इस प्रकार लक्षणसंपन्न हो"– यह अभिप्राय है।

त्वम्पि समण ...पे०... भुञ्जस्सु– कौन-सा ऐसा काम है जो तुम नहीं कर सकते हो, तुम इस प्रकार लक्षणसंपन्न हो– यह अभिप्राय है।

लेकिन मैंने यह सुना है– 'शाक्यराजकुल में एक कुमार उत्पन्न हुआ है, उसने चक्रवर्ती राज्य का त्यागकर, छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है।' इसलिए 'यह वही है' जानकर 'चक्रवर्ती राज्य छोड़कर तकलीफ भुगत रहे हो' उलाहना देते हुए कहा **'अहं खो समण'**। लेकिन यह ब्राह्मण तीक्ष्णप्रज्ञ है, भगवान को नीचा दिखाते हुए नहीं कहता है, भगवान की रूपसंपत्ति देखकर और प्रज्ञासंपत्ति के प्रति श्रद्धा और सम्मान दिखाते हुए कथा (बातचीत) प्रवर्तित करने के लिए ऐसा कहा, 'अहं खो समण'। तब भगवान ने शिक्षा देने के लिए इस देवसहित लोक में अपने में अग्रकृषक भाव को दिखाते हुए कहा, **"अहम्पि खो ब्राह्मणा"**ति।**'** (मैं भी, ब्राह्मण....)

अब ब्राह्मण को चिंता हुई, "यह श्रमण कहता है कि 'मैं जोतता, बोता हूं', लेकिन इसके पास न तो स्थूल हल है, न जुआ है और न कोई कृषि का उपकरण ही देखता हूं, कहीं यह झूठ तो नहीं

बोलता है' ऐसा सोचकर भगवान को पैर के तलवे से सिरपर के बाल तक को अच्छी तरह देखते हुए अंग विद्या में बहुत परिश्रम से प्राप्त दक्षता से उन महापुरुष के बत्तीस लक्षण संपत्ति को जानकर 'यह असंभव है कि ऐसा व्यक्ति झूठ बोलेगा', कहकर उसी समय उत्पन्न अधिकमान से, घमंड से, भगवान को श्रमण न कहकर गोत्र से उनको पुकारते हुए कहा, **"न खो मयं पस्साम, भोतो गोतमस्सा"**ति अर्थात आपके पास के कृषि उपकरण को हमलोग नहीं देखते।

इस प्रकार बोल कर तीक्ष्णप्रज्ञ ब्राह्मण ने 'इनके द्वारा जो कहा गया है, उसका अर्थ गंभीर है, यह जान' और पूछकर उसके अर्थ को जानने की इच्छा से भगवान को गाथा में ही कहा। इसलिए आयुष्मान आनंद ने कहा **'अथ खो कसिभारद्वाजो ब्राह्मणो भगवन्तं गाथाय अज्झभासी"**ति लेकिन आप गौतम के पास तो हमलोग कुछ भी उपकरण नहीं देखते हैं।

यहां **गाथाय–** अक्षर तथा पद से, नियमित वचन से।

अज्झभासि– कहा

७६. कस्सको पटिजानासि, न च पस्साम ते कसिं।
कसिं नो पुच्छितो ब्रूहि, यथा जानेमु ते कसिं॥

"आप अपने को कृषक कहते हैं किंतु आपकी कृषि को हम देख नहीं रहे हैं। हम पूछनेवालों को आप अपनी कृषि के बारे में कहें, जिससे हमलोग आपकी कृषि के बारे में जान सकें।"

७७. सद्धा बीजं तपो वुट्ठिं, पञ्ञा मे युगनङ्गलं।
हिरी ईसा मनो योत्तं, सति मे फालपाचनं॥

"श्रद्धा बीज है और तप वृष्टि, मेरी प्रज्ञा जुआठ और हल है। ह्री (लज्जा) हलदंड (हरीष), मन जोत (रस्सी) है और मेरी स्मृति मेरा फाल और बैल हांकने की छड़ी है।"

यहां ब्राह्मण जब कृषि कहता है तो उसका मतलब है जुआ, हल आदि खेती करने के उपकरण का समायोग। भगवान चूंकि 'रोप कर' कहते हैं जो कृषि से ही संबंधित है और यह कथन बुद्धों का प्रताप है, इसलिए बुद्ध के प्रताप को स्पष्ट करते हुए कृषि से ही संबंधित रोपते हुए कहा। 'श्रद्धा बीज है'। यहां कृषि से ही संबंधित क्या है? निश्चय ही ब्राह्मण द्वारा जब बुद्ध से हल आदि खेती करने की सामग्री के समायोग के बारे में पूछा गया तो भगवान ने जिसके बारे में नहीं पूछा गया था, पर जो उसी से यानी कृषि से ही संबंधित है 'बीज को रोपते हुए' कहा 'श्रद्धा बीज है'। ऐसा होने पर यह कथा क्या बेमेल है अथवा इसका संबंध उससे नहीं है?

कहा जाता है– बुद्धों की कथा बेमेल नहीं होती है और न बुद्ध कोई बात कहते हैं जिसका विषय से संबंध न हो। इस प्रकार दोनों में यहां संबंध जानना चाहिए। इस ब्राह्मण द्वारा जुआ हल आदि खेती करने के उपकरण उनके पास हैं या नहीं– इसके बारे में पूछा गया। भगवान ने उस पर अनुकंपा करके जो नहीं पूछा गया था उसकी उपेक्षा न कर प्रारंभ से ही उसके उपकरण, कृषि या उसका मूल उपकार करनेवाली, सफल कृषि को बताने के लिए, मूल से ही कृषि को दिखाते हुए कहा 'श्रद्धा बीज है' बीज ही कृषि का मूल है, उसके रहने पर ही खेती की जानी चाहिए, न रहने पर न की जानी चाहिए, मात्रा

जानकर ही की जानी चाहिए। बीज के रहने पर ही (लोग) कृषि करते हैं, न रहने पर नहीं करते, प्रमाण भर होने से ही कुशल किसान खेत जोतते हैं, कम रहने पर यह सोचकर नहीं करते कि 'धान कहीं नष्ट न हो जाय' और अधिक रहने पर यह सोचकर नहीं करते कि 'हमारा परिश्रम बेकार न चला जाय।' चूंकि बीज ही मूल है इसलिए भगवान ने मूल से ही कृषि दिखाते हुए उस ब्राह्मण के लिए जो कृषि मूल है, उसी बीज से संबंधित अपनी कृषि से संबंधित जो प्रथम आवश्यक चीज बीज है उसको रोपते हुए 'श्रद्धा ही बीज है' कहा। इस प्रकार यहां पूर्वधर्म से अर्थात कृषि से संबंधित बात जाननी चाहिए।

पूछी गयी बात का उत्तर पहले न देकर नहीं पूछी गयी बात का उत्तर पहले क्यों दिया गया अर्थात नहीं पूछी गयी बात बाद में क्यों नहीं कही गयी? उस पर उपकार करने के विचार से तथा वह धर्म से अपना संबंध बना सकता है– यह सामर्थ्य देखकर। यह ब्राह्मण प्रज्ञावान है, मिथ्यादृष्टिवाले कुल में पैदा होने के कारण श्रद्धा विरहित है। श्रद्धा विरहित और प्रज्ञावान पुरुष दूसरे की श्रद्धा से अपने विषय में न चलते हुए विशेष की प्राप्ति नहीं करता, उनका क्लेशकालुष्य भाव नहीं मिटा रहता है, और मात्र प्रसन्न करने के लक्षणवाली उसकी दुर्बल श्रद्धा बलवती प्रज्ञा के साथ रहकर अर्थ की सिद्धि उसी तरह नहीं कर पाती जैसे हाथी के साथ एक ही धुरे में बैल जोता गया हो। इसलिए उसकी श्रद्धा उपकार करनेवाली नहीं है अर्थात वह वैसा ही है जैसे हाथी के साथ जोता गया बैल अर्थात इस प्रकार उस ब्राह्मण पर उपकार करने के भाव से, उसको श्रद्धा में प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से पीछे कहे जाने योग्य यह अर्थ यदि पहले ही कहा गया है तो ऐसा देशना कुशलता के कारण से जैसे अन्य स्थलों पर भी– 'श्रद्धा ही पाथेय बांधती है, सुनिश्चित करती है, पाथेय का आश्वासन देती है (सं० नि० १.१.७९)। पुरुष की दूसरी सहायिका श्रद्धा होती है (सं० नि० १.१.५९)। श्रद्धा ही पुरुष का श्रेष्ठ धन है (सं० नि० १.१.७३, २४६; सु० नि० १८४)। श्रद्धा से ही बाढ़ पार करता है (सं० नि० १.१.२४६); 'जो श्रद्धा हाथवाला है वह महानाग है– महापुरुष है' (अ० नि० २.६.४३; थेरगा० ६९४)। 'भिक्षुओ, आर्यश्रावक श्रद्धा खोजनेवाला होता है (अ० नि० २.७.६७)। बीज का उपकार करनेवाली वृष्टि है, वह बाद में ही कही जाकर समर्थ होती है। इस प्रकार धर्मसंबंध सामर्थ्य भाव से पीछे कही जाने योग्य बात पहले ही कही गयी– इसी प्रकार अन्य हलदंड तथा रस्सी आदि।'

यहां प्रसन्न करने के लक्षणवाली श्रद्धा है, विश्वास करने के लक्षणवाली भी श्रद्धा है, इसका कृत्य (रस) आनंद पाना, संतोष पाना है, श्रद्धा का लक्षण प्रसन्न करना है, विश्वास पैदा करना है, इसका प्रत्युपस्थान संकल्प करना है, अकालुष्य है और पदस्थान श्रोतापत्ति अंग है, श्रद्धा करने योग्य धर्म भी इसका पदस्थान है। जैसे आइने की तरह जल का तल आदि साफ होता है, वैसे ही चित्त प्रसादभूत होता है, जैसे जल को साफ करनेवाली उदकमणि होती है, वैसे मन को साफ करनेवाली श्रद्धा, तथा वैसे सभी युक्त धर्मो की प्रासादिका होती है।

बीज– पांच प्रकार के हैं– मूलबीज, स्कंधबीज, फलबीज, अग्रबीज और बीजबीज। ये चूंकि सभी उगते हैं, बढ़ते हैं– इस अर्थ में इनका नाम बीज है। जैसा कहा गया है– ये उगने, बढ़ने के अर्थ में बीज हैं।

यहां जिस प्रकार ब्राह्मण की कृषि के लिए जो मूलभूत बीज है वह दो काम करता है, नीचे जड़ जमाता है और ऊपर अंकुर पैदा करता है; इसी प्रकार भगवान की कृषि के लिए जो मूलभूत बीज

श्रद्धा है वह नीचे शील पर प्रतिष्ठित होती है और ऊपर शमथ तथा विपश्यना का अंकुर पैदा करती है। जिस प्रकार बीज जड़ से पृथ्वीरस, जलरस लेकर धान या धान्य को पकाने के लिए डंठल से बढ़ता है उसी प्रकार शील की जड़ से आर्यमार्ग डंठल से शमथ विपश्यना का रस लेकर आर्य फलरूपी धान्य को पकाने के लिए श्रद्धा बढ़ती है। जिस प्रकार अच्छी भूमि में प्रतिष्ठित हो मूलङ्कुर पत्ते को उत्पन्न कर गांठ रहित नाल को पैदा कर वृद्धि को प्राप्त करता है, विपुलता को प्राप्त कर बढ़ता है, दूध पैदा करता है, अनेक धान फल से भरे धान की बालियों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह (श्रद्धा) चित्तसंतान में प्रतिष्ठित होकर विशुद्धियों (जैसे शील विशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, कांक्षावितरण विशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शन विशुद्धि प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि) से वृद्धि को, विपुलता को, प्राप्त कर ज्ञान दर्शन विशुद्धि रूपी दूध पैदा करती है और अनेक प्रतिसंभिदाओं तथा अभिज्ञाओं से भरा हुआ अर्हत्व फल को उत्पन्न करती है। इसलिए भगवान ने 'श्रद्धा बीज है' कहा।

यहां पचास से अधिक कुशल धर्मों के एक साथ उत्पन्न होने पर श्रद्धा ही बीज है– यह कैसे कहा जा सकता है? कहा जाता है– बीज का कृत्य करने के कारण। जैसे ही उनमें विज्ञान ही विशेष रूप से जानने का काम करता है, उसी प्रकार श्रद्धा बीज का काम करती है, वह सभी कुशलकर्मों का मूल है। जैसा कहा है–

"श्रद्धा उत्पन्न होने पर आचार्य या गुरु या और किसी महापुरुष के पास जाता है, जाकर संगति करता है, संगति करते हुए उनकी बातों पर कान देता है, कान देकर धर्म सुनता है, सुनकर धर्म धारण करता है, धारे हुए धर्म के अर्थ की परीक्षा करता है, अर्थ की परीक्षा करने के कारण धर्म से प्रसन्न होता है अर्थात विचार के धरातल पर स्वीकार करता है। धर्म से प्रसन्न होने पर संकल्प उत्पन्न होता है, संकल्प होने पर उत्साहित होता है, उत्साहित हो तौलता है अर्थात धर्म का मूल्यांकन करता है, तौलकर प्रयत्न करता है, प्रयत्न करते हुए काय से परमसत्य का साक्षात्कार करता है, प्रज्ञा से खूब बींधकर उसे देखता है।" (म० नि० २.१८३, ४३२)

काया को तपाता है, तथा अकुशल धर्मों को जलाता है इसलिए **तप** कहा जाता है। इंद्रियसंवर, वीर्य, धुतांग, दुष्कर क्रियाओं का यह पर्याय है। यहां इंद्रियसंवर से अभिप्राय है। **वुट्ठि–** वृष्टि और हवा के साथ वर्षा इस प्रकार इसके अनेक भेद हैं। यहां सिर्फ वृष्टि अभिप्रेत है। जिस प्रकार ब्राह्मण का बीजमूलक शस्य (धान) वर्षा से अनुगृहीत हो बढ़ता है, मुरझाता नहीं है, फल देता है, इसी प्रकार भगवान के जो इंद्रियसंवर अनुगृहीत श्रद्धा तथा श्रद्धा मूलक शील आदि धर्म हैं वे बढ़ते हैं, सूखते, मुरझाते नहीं हैं। इसलिए कहा 'तप ही वृष्टि है।' **'पञ्ञा मे'** जो **'मे'** शब्द कहा गया है उसको इन पदों में भी जोड़ना चाहिए **'सद्धा मे बीजं, तपो मे वुट्ठिं–** श्रद्धा मेरी बीज है, मेरा तप वृष्टि है।' उससे क्या स्पष्ट होता है? जैसे, ब्राह्मण, तुम्हारे बोये बीज में यदि वर्षा हुई तो ठीक, अगर न हुई तो पानी भी देना होगा, पर मेरे द्वारा प्रज्ञा रूपी जुआ तथा हल में मनरूपी जोत (रस्सी) से वीर्य रूपी बैल को नाधकर, जोतकर, स्मृतिरूपी छेकुनी से उन्हें प्रेरितकर अपनी संतान रूपी खेत में बोये गये श्रद्धा-बीज को वृष्टि का अभाव हो– यह प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यह तपस्या ही मेरी सतत, निरंतर वृष्टि है।

पुद्गल इससे जानता है या स्वयं को प्रज्ञापूर्वक जानता है इसलिए **पञ्ञा** (प्रज्ञा) है। कामावचर आदि के भेद से यह अनेक प्रकार की होती है। यहां विपश्यना के साथ मार्गप्रज्ञा अभिप्रेत है।

युगनङ्गलं– जुआ और हल। जिस प्रकार ब्राह्मण के जुआ और हल दो हैं, वैसे ही भगवान की प्रज्ञा दो प्रकार की है। अब जैसे जुआ हलदंड पर उपनिश्रित है, आगे रहता है, हलदंड में बंधा रहता है, रस्सी का निश्रय है, बैलों को एक साथ ले जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञा ह्री (लज्जा) प्रमुख धर्मों का उपनिश्रय होती है। जैसे कहा है 'सभी कुशल धर्म प्रज्ञोत्तर हैं (अ० नि० ३.८.८३) और प्रज्ञा को ही लोग श्रेष्ठ और कुशल कहते हैं; वह तारों के बीच जैसे नक्षत्रराज चंद्रमा हो (जा० २.१७.८१)। कुशल धर्मों के उत्पन्न होने के पहले ही उत्पन्न होने के अर्थ में पुरतो अर्थात आगे होती है। जैसे कहा है– 'शील, लज्जा और जागरूकता– ये धर्म प्रज्ञावान के अनुगामी होते हैं।' लज्जा के विप्रयोग (असंयुक्त) होने से प्राप्त होने पर भी हलदंड से बंधी होती है, मन नामक समाधि रूपी रस्सी के निःश्रय के कारण जोत का निश्रय होती है, अत्यंत संकल्पित (उत्साह) एवं अतिलीनभाव (आलस) का प्रतिषेध करने या रोकने के कारण वीर्यरूपी बैलों को एक साथ ले जानेवाली होती है। जैसे फालवाला हल जोतने के समय ठोस जमीन को फाड़ता है, चीरता है, फैलनेवाली जड़ों को चीरता है, उन्हें नष्ट करता है वैसे ही स्मृतियुक्त प्रज्ञा विपश्यना करते समय बहुत प्रकार के धर्मों को उत्पन्न करनेवाले स्थूल एवं ठोस आलंबन को फाड़ती है, चीरती है और सभी क्लेशों की फैलनेवाली जड़ों को चीरती है, उन्हें नष्ट करती है। वह लोकोत्तर भी है और उससे इतर लोकीय भी हो सकती है इसलिए कहा, 'मेरी प्रज्ञा जुआ और हल है।'

इससे व्यक्ति लजाता है, स्वयं लजाता है और अकुशल प्रवृत्ति से घृणा करता है अतः **हिरि** है। उसके ग्रहण से चूंकि इसके साथ ओत्तप्प (पाप-भीरुता) भी रहता है इसलिए यह भी गृहीत होता है। **ईसा–** लकड़ी का वह दंड जिसमें जुआ भी बंधा रहता है और हल भी। जैसे ब्राह्मण की ईसा (हलदंड) जुआ और हल का संधारण करती है, उसी प्रकार भगवान की लज्जा भी लोकीय तथा लोकोत्तर प्रज्ञा नामक जुआ और हल संधारण करती है, क्योंकि लज्जा है इसलिए प्रज्ञा का अभाव नहीं है। जैसे हलदंड से बंधा जुआ और हल अचल और अशिथिल हो काम करनेवाले होते हैं, उसी प्रकार (लज्जा) से बंधी प्रज्ञा अचल और अशिथिल हो काम करनेवाली होती है, अविच्छिन्न होकर निरंतरता से काम करती है क्योंकि निर्लज्जता से उसकी निरंतरता नहीं टूटती है। इसलिए कहा **हिरी ईसा**– लज्जा हलदंड है।

सोचता है, विचारता है, जानता है इसलिए **मन** है, यह चित्त का अधिवचन (पर्याय) है। यहां समाधि अभिप्रेत है, वह समाधि जो उच्चतम मन से संप्रयुक्त हो। **योत्तं–** जोत, रस्सी का बंधन। वह तीन तरह का होता है– हलदंड के साथ जुआ का बंधन, जुए के साथ बैल का बंधन और हांकनेवाले के साथ बैलों का बंधन। यहां जैसे ब्राह्मण की रस्सी हलदंड, जुआ और बैलों को एक में बांध कर अपना कृत्य संपादन करती है, उसी तरह भगवान की समाधि उन सभी धर्मों को– लज्जा, प्रज्ञा, वीर्य को एक आलंबन में ऐसा बांधकर कि कोई विक्षेप न हो, हिल-डुल न हो अपना कृत्य संपादित करती है। इसलिए कहा, 'मन रज्जुबंधन है।'

व्यक्ति इससे स्मरण करता है, बहुत पहले किये हित को स्मरण करता है, स्वयं याद करता है इसलिए **सति** है। इसका लक्षण है 'नहीं भूलना' 'विस्मृत नहीं होना'। फाड़ता है, तोड़ता है इसलिए **फालो**। इससे हांकता है, चलने के लिए प्रेरित करता है इसलिए **पाजन**। इसको यहां **'पाचन'** कहा गया है, प्रतोद का यह पर्याय है। फाल और पाचन– **फालपाचनं**। जैसे ब्राह्मण का फाल और पाचन (प्रतोद) है, उसी प्रकार भगवान की विपश्यना तथा मार्ग से युक्त स्मृति है। जैसे फाल हल की रक्षा करता है,

इसके आगे जाता है, उसी प्रकार स्मृति कुशल धर्मों में रास्ता या दिशा खोजती हुई, आलंबन को सेवती हुई, प्रज्ञा हल की रक्षा करती है, वैसे 'स्मृति रक्षित मन से विचरण करता है' (अ० नि० ३.१०.२०) आदि में **'आरक्खा'** (आरक्षित) कहा गया है। नहीं भूलती है इस कारण प्रज्ञा के आगे होती है। स्मृति से जो धर्म परिचित हैं उनको प्रज्ञा अच्छी तरह जानती है, भूलने पर नहीं। जैसे प्रतोद बैलों को बींधने का भय दिखाते हुए हिम्मत हारने नहीं देता है, बेरास्ते जाने से रोकता है, उसी प्रकार स्मृति वीर्य रूपी बैलों को अपाय का भय दिखाकर आलस्य करने तथा हिम्मत हारने नहीं देती है, काम गुण नामक जो अगोचर है उसमें जाने से मना करके कर्मस्थान में नियोजित करती है, लगाती है और बेरास्ते में जाने से वारण करती है अर्थात रोकती है । इसलिए कहा– 'स्मृति मेरी फाल और प्रतोद है।'

७८. कायगुत्तो वचीगुत्तो, आहारे उदरे यतो।
सच्चं करोमि निद्दानं, सोरच्चं मे पमोचनं॥

"मैं काय से, वाचा से रक्षित हूं, अर्थात मैं काय तथा वाणी से संयत हूं। पेट में भोजन की मात्रा कितना लूं– इसमें संयमित हूं। सत्य ही से मैं निराई करता हूं अर्थात इसी से मेरी कृषि में जो घास-फूस उगता है उसकी सफाई करता हूं और जब तक मैंने निर्वाण प्राप्त नहीं कर लिया तब तक मेरी मुक्ति नहीं हुई अर्थात मेरे कंधे से जुए नहीं उतरे।"

कायगुत्तो– तीन प्रकार के कायिक सुकर्मों से रक्षित। **वचीगुत्तो–** चार प्रकार के वाचसिक सुकर्मों से रक्षित यहां तक प्रातिमोक्ष संवरशील कहा गया है। **आहारे उदरे यतो–** यहां भोजन के बहाने सभी प्रत्ययों को (ग्रहण कर) लेने के कारण चार प्रकार के प्रत्ययों में संयत। इससे आजीवपारिशुद्धि शील कहा गया है। **उदरे यतो–** उदर में, पेट में संयतता, मितभोजी, कम खानेवाला, आहार की मात्रा को जाननेवाला– कहा गया है। इस तरह भोजन में मात्राज्ञान के बहाने प्रत्यय प्रतिसेवनशील कहा गया है। इससे क्या स्पष्ट होता है?

जैसे तुम ब्राह्मण बीज बोकर धान की रक्षा के लिए कांटे की बाड़ या वृक्ष की बाड़ लगाते हो या चहारदीवारी से घेरा करते हो, जिससे गाय, भैंस तथा और जानवर उसमें प्रवेश न पा सकने के कारण तेरे उस धान को बर्बाद नहीं करते, इस प्रकार मैं भी श्रद्धा का बीज बोकर नाना प्रकार के कुशल कर्मरूपी धान के परिपालन ले लिए कायिक वाचिक कर्मों की रक्षा तथा भोजन में संयत हो तीन प्राकारों से घिरा रहता हूं, जिससे राग आदि अकुशल धर्म रूपी गाय, भैंस तथा अन्य जानवर मुझ में प्रवेश न पा सकने के कारण नाना प्रकार के कुशल कर्मरूपी धान को बर्बाद नहीं करते।

सच्चं करोमि निद्दानं– यहां दोनों दरवाजों से (काय तथा वची द्वार) से क्रमशः अकुशल कर्म नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, धोखा नहीं देना **सच्चं** (सत्य) है। **निद्दानं–** काटना, छांटना, उखाड़ना। करण अर्थ में कर्मवचन है– जानना चाहिए अर्थात तृतीया अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। यहां यह अर्थ है– सत्य से ही निराई करता हूं, उखाड़ता हूं, काटता हूं। क्या कहा गया है? जैसे तुम बाहर में कृषि करके धान को बर्बाद तथा नष्ट करनेवाली घासों (खर-पतवार) आदि को, हाथ से, हसिया से काटते हो, उखाड़ते हो, उसी प्रकार मैं भी अपने अंदर की खेती करके कुशल को नष्ट करनेवाले वैसे खर-पतवारों को जो कुशल रूपी फलों को बढ़ने से रोकते हैं सत्य से निराई करता हूं, उखाड़ता हूं। ज्ञानसत्य को ही यहां

सत्य जानना चाहिए जिसको यथाभूत ज्ञान कहा जाता है। उससे आत्मसंज्ञा आदि जो खर-पतवार हैं उनकी निराई करता हूं– ऐसी योजना करनी चाहिए। अथवा **निद्दानं–** काटना, उखाड़ना अर्थ है। ऐसा होने पर जैसे तुम दास या कर्मकर से निराई करवाते हो, 'खर-पतवार को उखड़वाते हो, कटवाते हो, इस प्रकार मैं भी सत्य से करता हूं। यहां 'सच्च' का ही प्रयोग हुआ है द्वितीया विभक्ति में (तृतीया के अर्थ में)। अथवा **सच्चं–** दृष्टि सत्य। अर्थात उसकी निराई करता हूं, जो मिथ्या दृष्टि काटने योग्य, उखाड़ने योग्य हो, उसको काटता हूं, उखाड़ता हूं– इस प्रकार भी उपयोग वचन से ही अर्थात द्वितीया विभक्ति लगाकर ही कहा।

सोरच्चं मे पमोचनं– यहां जो कायिक तथा वाचसिक कर्मों का अव्यतिक्रम है, नियमों का उल्लंघन नहीं है, उसी प्रकार शील ही संवर कहा गया है– उससे यहां अभिप्राय नहीं है– यह 'कायगुत्तो' अर्थात 'कायिक कर्मों से रक्षित हूं' आदि विधि से कहा गया है, तो यहां अर्हत फल अभिप्रेत है। उस सुंदर निर्वाण में रति भाव से **सोरच्चं** (भद्रता) कहा जाता है। **पमोचनं–** योग का विसर्जन अर्थात कंधों से योग (जुआ) का हटना। क्या कहा गया है? जैसे तुम जुआ हटाते हो या खोलते हो तो फिर शाम को या दूसरे दिन या आनेवाले वर्ष में तुम्हें जुआ जोड़ना पड़ता है, वह जुआ समझो लगा ही रहता है, कभी हटता ही नहीं, ऐसा मेरा नहीं है। मेरा जुआ बीच में खुले या हटे– ऐसा भी नहीं है। मैं तो दीपंकर दसवल के समय से प्रज्ञा रूपी हल में वीर्य रूपी बैल को जोत कर चार असंखेय्य और एकलाख कल्प तक महाकृषि करता ही रहा, तब तक न खोला जब तक सम्यक संबोधि की प्राप्ति मैंने न कर ली। बीच के सारे समय को बिताकर बोधिवृक्ष के नीचे अपराजित रूप से पालथी मार बैठकर जब सभी गुणों से परिवारित या सभी गुणों से घिरे मुझको अर्हत्वफल की प्राप्ति हुई, तब मैं सभी कठिन प्रयत्नों से शांति पाकर मुक्त हुआ, अब मुझे फिर उसको नाधना या जोड़ना न पड़ेगा। इस अर्थ से मेल मिलाकर भगवान ने कहा **'सोरच्चं मे पमोचनं'**।

७९. विरियं मे धुरधोरय्हं, योगक्खेमाधिवाहनं।
गच्छति अनिवत्तन्तं, यत्थ गन्त्वा न सोचति॥

"वीर्य ही मुझे ढोनेवाला बैल है, उसी पर चढ़कर मैं जाता हूं, जो मुझे योग क्षेम अर्थात निर्वाण की ओर वहन करता है अर्थात मुझे वहां ले जाता है जहां शांति ही शांति, आराम ही आराम है। यह विना पीछे मुड़े चलता ही रहता है और वहां तक जाता है जहां जाकर शोक नहीं करता।"

वीरियं मे धुरधोरय्हं– यहां वीर्य 'कायिक या चैतसिक वीर्यारंभ' आदि नय से कहे गये में प्रधान है। जुआ में जोता जानेवाला बैल **धुरधोरय्हं**, धुर को ढोता है– यह अर्थ है। जैसे ब्राह्मण के धुर में बैल से खींचा जानेवाला हल कठोर जमीन को फाड़ता है, फैलनेवाली जड़ों, आदि को चीरता है इसी प्रकार भगवान के वीर्य से खींचा जानेवाला प्रज्ञारूपी हल कहे गये प्रकार से ही कठोरता को फाड़ता है और क्लेश रूपी फैलनेवाली जड़ों को चीरता है। इसलिए कहा, **'वीरियं मे धुरधोरय्हं'**। अब जो बैल आगे जुआ को ढोते हैं वे 'धुर' कहलाते हैं और जो बैल उनके पीछे होते हैं वे धोरय्ह कहलाते हैं। जुआ में आगे और उसके पीछे ढोनेवाले बैल **'धुरधोरय्हं'** कहलाते हैं। चार बैलों में जो दो आगे जोते जाते हैं वे **धुर** और दो जो पीछे जोते जाते हैं वे **धोरय्हं** कहलाते हैं इस तरह चारों **धुरधोरय्ह** कहे जाते हैं। यहां जैसे

ब्राह्मण के एक-एक हल में चार बैल आगे-पीछे चलते हुए उत्पन्न और अनुत्पन्न घास की जड़ों को नष्टकर शस्य संपत्ति को सिद्ध करते हैं अर्थात धान के उत्पन्न होने में सहायता करते हैं वैसे ही भगवान वीर्य के भेद से चार सम्यक प्रधान के आगे-पीछे चलते हुए उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशल कर्मों की जड़ों को काटकर, नष्टकर कुशल संपत्ति को सिद्ध करते हैं। इसलिए कहा– **'वीरियं मे धुरधोरय्हं**।'

योगक्खेमाधिवाहनं– यहां योग, क्षेमत्व और योगक्षेम निर्वाण को कहते हैं; उसी की ओर अधिकृत हो ले जाता है, उसके सामने ले जाता है इसलिए **अधिवाहनं** और योग तथा क्षेम की ओर ले जानेवाला **योगक्खेमाधिवाहनं** है। इससे क्या स्पष्ट होता है? जैसे तुम्हारे चारों बैल (आगे और उनके पीछे नधे बैल) पूरब दिशा या पश्चिम आदि दिशाओं में और किसी भी दिशा में जाते हैं, वैसे ही मेरे चार प्रकार के सम्यक प्रधान वीर्य निर्वाण की ओर ही मुझे ले जाते हैं।

इस प्रकार ले जाते हुए, **गच्छति अनिवत्तन्तं** विना पीछे लौटे हुए जाते हैं। जिस प्रकार तुम्हारे बैल हल को वहन करते हुए खेत के किनारे तक जाते हैं और फिर लौटते हैं, उस तरह मेरा बैल (वीर्य) दीपङ्कर के समय से बिना पीछे लौटे हुए चलता आ रहा है। चूंकि उस-उस मार्ग से प्रहीण क्लेश पुनः प्रहातव्य नहीं होते जैसे तुम्हारे हल के द्वारा उखड़ी घास पुनः बाद में उखाड़ने योग्य होती है, इसलिए यहां वह प्रथम मार्ग से देखे तथा उखड़े क्लेश को, द्वितीय मार्ग से स्थूल क्लेश को, तृतीय मार्ग से साथ-साथ चलनेवाले क्लेशों को और चौथे मार्ग से सभी क्लेशों को दूर करते हुए बिना वापस लौटे जाता है **'गच्छति अनिवत्तन्तं'**। अथवा **'गच्छति अनिवत्तं'** अर्थात पीछे लौटने से रहित हो जाता है– यह अर्थ है। **तं** का अर्थ है **धुरधोरय्हं** जुए में जोते जानेवाले बैल। इस प्रकार यहां पद विभाजन जानना चाहिए। इस प्रकार जाते हुए जैसे तुम्हारे बैल उस स्थान तक तुम्हें नहीं ले जाते हैं, जहां जाकर किसान अशोक, निःशोक और विरज होकर दुःख नहीं करता, यह वहां जाता है। (अर्थात मेरा वीर्यरूपी बैल वहां तक जाता है), जहां जाकर शोक नहीं करता– **यत्थ गन्त्वा न सोचति**। जहां स्मृतिरूपी प्रतोद से इस वीर्य रूपी बैल को प्रेरित करते हुए मेरे समान किसान जाकर अशोक, निःशोक और विरज होकर शोक नहीं करता, उस सर्वशोक रूपी शल्य का समुद्घात कर निर्वाण रूपी अमृत नामक स्थान पर जाता है।

अब उपसंहार करते हुए भगवान ने यह गाथा कही–

८०. एवमेसा कसी कट्ठा, सा होति अमतप्फळा।
एतं कसिं कसित्वान, सब्बदुक्खा पमुच्चतीति॥

"यही मेरी की गयी कृषि है, यह अमृत फल देनेवाली है। ऐसी कृषि करके कोई भी सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है।"

संक्षेप में इसका यह अर्थ है। 'ब्राह्मण, मेरी **एसा** यह **कसि** कृषि, जिसका बीज श्रद्धा है और जो वृष्टि तथा तप इन दोनों से अनुगृहीत है। प्रज्ञामय जुआ और हल, ह्रीमय हलदंड और मनोमय जोत से एक साथ बांधकर प्रज्ञारूपी हल में स्मृति रूपी फाल ठोककर स्मृति रूपी प्रतोद लेकर कायिक, वाचिक कर्म को शुद्ध रख तथा आहार की मात्रा जान कर, सत्य से निराई कर विनम्रता या संयम, मुक्ति और वीर्य रूपी बैलों को निर्वाण की ओर अनवरत जोतता रहा अर्थात कृषि करता रहा, कृषिकर्म के अंत में चार प्रकार के श्रामण्यफलों को पाया। **सा होति अमतप्फला–** ऐसी कृषि ही अमृतफल देनेवाली है।

अमृत कहते हैं निर्वाण को, निर्वाण का शुभपरिणाम होता है– यह अर्थ है। यह कृषि न केवल मुझको ही अमृत फल देनेवाली है, किंतु जो कोई क्षत्रिय या ब्राह्मण या वैश्य या शूद्र या गृहस्थ या प्रव्रजित इस कृषि को करता है, वह सभी **एतं कसिं कसित्वान, सब्बदुक्खा पमुच्चति–** ऐसी कृषि करके सभी दुखों से मुक्त हो जाता है; सभी प्रकार के भवचक्र के दुःख से, दुःख दुःख से, संस्कार दुःख तथा विपरिणाम दुःख से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार भगवान ने ब्राह्मण को अर्हत्व की ओर ले जाते हुए निर्वाण में पर्यवसान होनेवाली देशना समाप्त की।

उसके बाद ब्राह्मण ने गंभीर अर्थवाली देशना सुनकर यह कहा, 'मेरी कृषि का फल खाकर दूसरे ही दिन भूख अनुभव करता है। इस कृषि का फल तो अमृत है, इसका फल खाकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है'। और यह जानकर खूब प्रसन्न होकर प्रसन्न करने के लिए उसने खीर देना आरंभ किया। इसलिए कहा, **"अथ खो कसिभारद्वाजो"**ति**–** अब कसिभारद्वाज ने। यहां **महतिया–** बड़ा, **कंसपातिया–** सोने की थाली में, एक लाखमूल्य की सोने की अपनी थाली में, **वड्ढेत्वा–** स्पर्श कर, भरकर डालकर कहा गया है। **भगवतो उपनामेसि–** घी, मधु, गुड़ आदि डालकर, सजाकर, कीमती कपड़े से आच्छादित कर, ऊपर उठाकर, सावधानी से तथागत के लिए ले गया। किसलिए? **भुञ्जतु भवं गोतमो पायासं, कस्सको भव**"न्ति**–** गौतम, आप पायस खायं, आप कृषक हैं। उसके बाद कैसे वे कृषक हैं इसका कारण बताते हुए **"यञ्हि ...पे०... कसती"**ति**,** चूंकि **भवं कससि–** कहा गया है। अब भगवान ने गाथाभिगीतं से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही–

८१. गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं, सम्पस्सतं ब्राह्मण नेस धम्मो।
गाथाभिगीतं पनुदन्ति बुद्धा, धम्मे सती ब्राह्मण वुत्तिरेसा॥

"गाथा कहने के बाद मिला भोजन मेरे लिए अखाद्य है। ब्राह्मण, यह उसका धर्म नहीं है जो सम्यक प्रकार से देखता है। गाथा कहने के बाद मिले भोजन को बुद्ध अस्वीकार करते हैं। जब तक धर्म है, ब्राह्मण, तब तक बुद्धों की यही रीति है।"

यहां **गाथाभिगीतं–** गाथा से पाया गया, गाथा गाकर प्राप्त– यह कहा गया है। **मे–** मेरे द्वारा। **अभोजनेय्यं–** भोजन के योग्य नहीं होता। **सम्पस्सतं–** सम्यक आजीविका को देखनेवालों का, ठीक से देखनेवालों का– बुद्धों का– यह कहा गया है। **नेस धम्मो–** 'गाथा गाकर (पाया गया) भोजन खाद्य नहीं है, यह धर्म, यह आचरण नहीं है।' इसलिए **गाथाभिगीतं पनुदन्ति बुद्धा–** बुद्ध अस्वीकार करते हैं, नहीं खाते हैं। क्या भगवान ने खीर के लिए ही गाथा कही थी– जिससे ऐसा कहा गया? इसके लिए गाथा नहीं कही थी, किंतु, प्रातःकाल से ही खेत के पास रहकर एक कड़छुल भी भिक्षा न पाकर फिर सभी बुद्धगुणों का प्रकाशन कर भोजन पाया– इसको वैसा पाना कहा गया है जैसे नट नर्त्तक द्वारा नाच गाकर पाया गया भोजन होता है। चूंकि इस तरह का भोजन बुद्धों के योग्य नहीं है इसलिए **अभोजनेय्यं–** अखाद्य कहा गया। अल्पेच्छता के अनुरूप भी यह नहीं है, इसलिए भी भावी जनता पर अनुकंपा करके ऐसा कहा। जहां दूसरे से प्रकाशित अपने गुण से उत्पन्न लाभ को अस्वीकार करते हैं जैसे अल्पेच्छ घटिकार कुम्भकार, वहां सिरे तक पहुंची अल्पेच्छता से समन्वागत भगवान अपने से अपने गुण के प्रकाशन से उत्पन्न लाभ का स्वाद कैसे ले सकेंगे? अतः जो भगवान द्वारा कहा गया वह युक्त है–

यहां तक, इस लोकापवाद से अपने को मुक्त करते हुए कि 'अप्रसन्न, न देने की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण को गाथा गाकर देनेवाला बनाकर, श्रमण गौतम ने भोजन स्वीकार किया– इस देशना को भोजन के लिए दिया।' देशना पारिशुद्धि को स्पष्ट कर अब आजीव पारिशुद्धि स्पष्ट करते हुए कहा– **धम्मे सती ब्राह्मण वुत्तिरेसा–** हे ब्राह्मण, जब तक धर्म है बुद्धों की यही रीति है, आचरण है। इसका अर्थ यह हैः– आजीव पारिशुद्ध धर्म या दसविध सुचरित धर्म या बुद्धों के आचरण धर्म के रहने पर, अनुपहत (दोषयुक्त न होने पर) रहने पर **वुत्तिरेसा–** यही वृत्ति है। हे, ब्राह्मण, बुद्धों का जीवन वृत्ति का खोजना ऊपर अवदात आकाश में हाथ पसारने से जरा-सा कम है।

ऐसा कहे जाने पर ब्राह्मण ने यह सोचकर कि 'मेरे द्वारा दी गयी खीर अस्वीकार करते हैं, यह भोजन अनुकूल नहीं है, मै धन्य नहीं हूं, दान न दे पाऊंगा' दौर्मनस्य पैदा किया। उसने यह सोचा कि 'शायद (इसे) कोई अन्य स्वीकार करे। उसको जानकर भगवान ने "मैं भिक्षा मांगने के समय आया, इतने समय से इस ब्राह्मण को प्रसन्न कर रहा हूं' फिर भी इसने दौर्मनस्य उत्पन्न किया। अब इस दौर्मनस्य से मेरे चित्त को प्रकोपित कर अमृत रूपी श्रेष्ठ धर्म का प्रतिवेधन नहीं कर सकेगा" यह सोचकर उसमें श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए उसके द्वारा प्रार्थित मनोरथ को पूरा करते हुए कहा– **"अञ्ञेन च केवलिनं"**

८२. 'अञ्ञेन च केवलिनं महेसिं, खीणासवं कुक्कुच्चवूपसन्तं।
अन्नेन पानेन उपट्ठहस्सु, खेत्तं हि तं पुञ्ञपेक्खस्स होती'ति॥

"अन्य जो महर्षि हैं जो केवली हैं, क्षीणाश्रव हैं, जो कौकृत्य रहित हैं, पश्चात्ताप रहित हैं उनकी भोजन तथा जल से सेवा करो। ये ही पुण्यक्षेत्र हैं।" अर्थात ऐसे ही व्यक्ति को खिलाकर पुण्यार्जन किया जा सकता है।

यहां– **केवलिनं–** सर्वगुणपरिपूर्ण, सभी तृष्णाओं से, बंधनों से, विसंयुक्त, मुक्त को। महान शीलस्कंध आदि गुणों को खोजने के कारण महर्षि को– **महेसिं**, सभी आश्रवों के परिक्षीण होने के कारण क्षीणाश्रव को **खीणासवं**, हाथ पैर के कौकृत्य से लेकर सभी प्रकार के कौकृत्यों से उपशांत, पश्चात्ताप रहित को **कुक्कुच्चवूपसन्तं–** अर्थात जिसमें पश्चात्ताप नहीं है। **उपट्ठहस्सु–** भोजन कराओ, सेवा में उपस्थित रहो, परिचर्या करो। इस प्रकार ब्राह्मण द्वारा चित्त के उत्पन्न करने पर भी पर्याय से ही कहते हैं, ऐसा नहीं कहते कि, 'दो, लाओ'। शेष स्पष्ट ही है।

अब ब्राह्मण ने यह सोचकर कि 'यह खीर तो मैंने भगवान के लिए लायी थी, अब मैं अपनी इच्छा से इसको किसी को देने योग्य नहीं हूं', पूछा **"अथ कस्स चाहं"–** अब मैं किसको दूं? तब भगवान ने यह जानकर कि 'तथागत या उनके श्रावक को छोड़ अन्यों के लिए यह पचा पाना कठिन है' कहा– **'न ख्वाहं तं'** मैं वैसे व्यक्ति को नहीं देखता हूं जो इसे खा सके। यहां **सदेवक** वचन से– पांच कामावचर देवों का ग्रहण, **समारक** वचन से– छठे कामावचर देवों का ग्रहण, **सब्रह्मक** वचन से– रूपावचर, अरूपावचर ब्रह्म का ग्रहण, वे भी खायँ– यह असंभव है। **सस्समणब्राह्मणि** वचन से– शासन विरोधी शत्रु श्रमण ब्राह्मणों का ग्रहण और ब्राह्मणों श्रमणों का ग्रहण जिन्होंने क्रमशः पाप बहा दिये हैं, पाप शांतकर दिये हैं, **पजा** वचन से सत्त्व लोक का ग्रहण, **सदेवमनुस्स** वचन से संमुति देव तथा अवशेष मनुष्यों का ग्रहण– इस प्रकार यहां तीन वचनों से मनुष्य लोक, दो प्रकार की प्रजा से प्राणि लोकों का

ग्रहण जानना चाहिए। यह संक्षेप है, विस्तार से **आळवक सुत्त** में वर्णन करेंगे।

देव आदि सहित इस लोक में क्यों किसी को यह ठीक से नहीं पचेगा? औदारिक (स्थूल) भोजन में सूक्ष्म ओज छिंटे रहने के कारण। इस खीर में जैसे यह भगवान के लिए, उनके निमित्त निकाली गयी, देवता द्वारा ओज छिड़का गया जैसे सुजाता की खीर में, चुंद के यहां पकाये जानेवाले शूकरमर्दव में, वेरञ्जा में भगवान द्वारा लिए जाते कौर में, और भैषज्य खंधक में कच्चान के गुड़ के घड़े में अवशेष गुड़ में। उस औदारिक खीर में ओज छिंटे रहने के कारण देवों को नहीं पचता है। देवता सूक्ष्म शरीरधारी हैं, उनको मनुष्यों का स्थूल आहार ठीक से नहीं पचता है। मनुष्यों को भी नहीं पचता है। (अर्थात यह खीर कामावचर के पांच देवगण, मार तथा रूपावचर और अरूपावचर लोक के ब्रह्मगण खायं– यह असंभव है।) मनुष्य स्थूल शरीरधारी हैं, उनको सूक्ष्म दिव्योज नहीं पचता है। तथागत की प्राकृतिक आग से ही वह पचता है, ठीक से पचता है। कायबल, ज्ञानबल के प्रभाव से तथागत के शिष्य क्षीणाश्रव को समाधिबल से मात्रा का ज्ञान होने से पचता है– इनसे अन्य जो ऋद्धिमान हैं उनको भी यह नहीं पचता। इसका कारण अचिंतनीय है, यह बुद्ध-विषय है।

तेन हि त्वं– चूंकि अन्य को नहीं देखता हूं, मेरे अनुकूल नहीं है, मेरे अनुकूल नहीं होने से श्रावक के लिए भी अनुकूल नहीं है, इसलिए 'तू ब्राह्मण' कहा गया है। **अप्पहरिते–** जहां हरी घास नहीं के बराबर हो, जहां हरी घास अल्प उगी हो, पत्थर की पीठ के समान जगह पर। **अप्पाणके–** जहां प्राणी नहीं हों, खीर फेंकने से मरने योग्य प्राणी जहां न हो अर्थात जहां खूब जलराशि हो, घास पर निश्रित प्राणियोंके साथ, घास पर रहनेवाले प्राणियों की रक्षा के लिए ऐसा कहा। **चिच्चिटायति चिटिचिटायति–** चिटचिट आवाज करता है। **सन्धूपायति–** चारों ओर धुआंता है। **सम्पधूपायति–** उसी प्रकार अधिक धुआं करता है। ऐसा क्यों हुआ? भगवान के आनुभाव से, न जल, न खीर, न ब्राह्मण, न अन्य देव यक्ष आदि के आनुभाव से। भगवान ने ब्राह्मण में धर्म संवेग उत्पन्न करने के लिए ऐसा अधिष्ठान किया। **सेय्यथापि नाम–** उपमा निदर्शन मात्र ही के लिए है यह जैसे फाल है– इतना ही कहा गया है। **संविग्गो चित्तेन–** चित्त से संविग्न। **लोमहट्ठजातो सरीरेन** अर्थात– वैसे शरीर से जिसके सभी बाल सीधे खड़े हुए हों। शरीर में निन्यानवे हजार जो रोमकूप हैं उनमें बाल ऐसे खड़े हुए जैसे सोने की दीवाल में मणि की खूंटी ठोंकी हो। शेष स्पष्ट ही है।

पैरों पर गिरकर भगवान की देशना का अनुमोदन करते हुए उनसे कहा, "आश्चर्य है, हे गौतम, आश्चर्य है।"

यहां **अभिक्कन्तं** शब्द का प्रयोग अत्यधिक संतोष प्रकट करने में है। विस्तार से इसका अर्थ वर्णन **मंगलसुत्तवर्णना** में किया जायगा। चूंकि अत्यधिक हर्ष प्रकट करने के अर्थ में है, इसलिए 'साधु, साधु, (बहुत अच्छा, बहुत अच्छा) हे गौतम' कहा गया होगा– यह जानना चाहिए।

"भये कोधे पसंसायं, तुरिते कोतूहलच्छरे।
हासे सोके पसादे च, करे आमेडितं बुधो"ति॥

"भय में, क्रोध में, प्रशंसा में, शीघ्रता में, कौतुहल में, आश्चर्य में, हंसी में, शोक में, आनंद में, पंडित इसके प्रयोग की घोषणा करते हैं।"

इस लक्षण से यहां आनंद के कारण, प्रशंसा के कारण यह दो बार कहा गया है– यह जानना चाहिए। अथवा **अभिक्कन्तं** का अर्थ– अति इष्ट, मन को अति प्रिय लगनेवाला, अति सुंदर ऐसा कहा गया है।

यहां एक बार 'अभिक्कन्त' शव्द कहकर देशना की स्तुति करते हैं और दूसरी बार कह कर अपना आनंद प्रकट करते हैं। यहां यह अभिप्राय है– आश्चर्य है हे गौतम! जो आप गौतम की यह धर्म देशना है और आश्चर्य है हे गौतम, जो आप गौतम की धर्म देशना से उत्पन्न यह मेरा आनंद है। भगवान के वचन के दो-दो अर्थों को मिलाकर स्तुति करता है– आप गौतम का वचन द्वेष नाश करने के कारण अतिसुंदर है, गुण की प्राप्ति से अतिसुंदर है, वैसे ही सुंदर है श्रद्धा उत्पन्न करने के कारण, प्रज्ञा उत्पन्न करने के कारण, अर्थ सहित, व्यञ्जन सहित होने के कारण, पद की स्पष्टता के कारण, गंभीर अर्थ के कारण, कर्णप्रिय होने के कारण, हृदयंगम होने के कारण, न अपनी प्रशंसा और न दूसरे की निंदा करने के कारण, करुणा-शीतलता के कारण, प्रज्ञा के अवदात होने के कारण, इंद्रियगोचर क्षेत्र को रमणीय करने के कारण, विमर्दन करने की क्षमता के कारण, सुनने में सुख के कारण, चिंतन करने से कल्याण पाने के कारण आदि से जोड़ना चाहिए।

उसके बाद चार उपमाओं से देशना की ही स्तुति करता है। यहां **निक्कुज्जितं**, जिसका मुंह नीचे की ओर हो, औंधामुंह। **उक्कुज्जेय्य–** जिसका मुंह ऊपर हो, सीधा रखा हुआ। **पटिच्छन्नं–** घास पत्ते आदि से ढंका हुआ। **विवरेय्य–** उद्घाटित करे, खोले। **मूळ्हस्स–** जो दिशा भूल गया हो उसको। **मग्गं आचिक्खेय्य–** हाथ पकड़कर 'यह रास्ता है' ऐसा कहे। **अन्धकारे–** कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की आधी रात जब आकाश सघन मेघ पटल से चारों ओर घिर कर अंधकार में हो उस अंधकार में। यहां तक यह पद का अर्थ है।

इसके अतिरिक्त यह अभिप्राय जोड़ना है– जैसे कोई औंधे को सीधा करे, इस प्रकार सद्धर्म विमुख, असद्धर्म में पतित मुझको असद्धर्म से उठाते हुए, जैसे ढंके को उघाड़ दे; इस प्रकार भगवान कस्सप के शासन के अंतर्धान से लेकर मिथ्या दृष्टि से गहन रूप से ढंके हुए शासन को उघाड़ते हुए, जैसे रास्ता भटके को रास्ता बताये, इस प्रकार कुमार्ग और मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले मुझको स्वर्ग और मोक्ष-मार्ग बताते हुए, जैसे अंधकार में तेल-प्रदीप रख दे, इस प्रकार अज्ञान अंधकार में डूबे मुझको जो बुद्ध आदि रत्नों के रूप को नहीं देख पाता था, उसको ढंकनेवाले मोहांधकार विध्वंसक देशना ज्योति के धारण से मुझको आप गौतम द्वारा इन पर्यायों से देशना देने के कारण अनेक पर्याय से धर्म प्रकाशित हुआ।

अथवा एक माप से या एक मात्रा से यह धर्म दुःख दर्शन से 'अशुभ' में 'शुभ' है इस विपर्यास को प्रहाण करने से वैसा है जैसे औंधे को सीधा कर दे, समुदय दर्शन से 'दुःख' में 'सुख' है इस विपर्यास को प्रहाण करने से वैसा है जैसे ढंके को उघाड़ दे; निरोध दर्शन से 'अनित्य' में 'नित्य' है इस विपर्यास को प्रहाण करने से वैसा है जैसे रास्ता-भटके को रास्ता बता दे; मार्ग दर्शन से 'अनत्ता' में 'आत्मा' है– इस विपर्यास को प्रहाण करने से वैसा है जैसे प्रज्वलित ज्योति, इसलिए यह उदाहरण दिया गया है– औंधे को सीधा कर दे... प्रज्वलित ज्योति धारण करे ताकि आंखवाले रूपों को देख सकें– इस प्रकार प्रकाशित है।

चूंकि यहां श्रद्धा, तप, कायिक कर्म आदि के संरक्षण के कारण शीलस्कंध प्रकाशित होता है,

प्रज्ञा से प्रज्ञास्कंध, ह्री, मन आदि से समाधि स्कंध प्रकाशित होता है, योगक्षेम (निर्वाण) से निरोध प्रकाशित होता है, इस प्रकार तीन स्कंध (शील, समाधि, प्रज्ञा) आर्य मार्ग और निरोध से उसी रूप के दो आर्यसत्य प्रकाशित होते हैं। यहां समुदय का प्रतिपक्षी मार्ग और दु:ख का प्रतिपक्षी निरोध ये दो प्रतिपक्ष से आर्य सत्य प्रकाशित होते हैं। इस तरह चार आर्य सत्य प्रकाशित हैं। इसलिए अनेक तरह से प्रकाशित हुआ है– यह जानना चाहिए।

एसाहं आदि में यह मैं हूं इसलिए **एसो अहं– एसाहं। सरणं गच्छामि–** पैरों पर गिर कर प्रणिपात, कर शरण गमन किया– अब वचन से अंगीकार करते हुए कहा– अथवा प्रणिपात से बुद्ध की शरण गये– अब उसका प्रारंभ कर शेष में धर्म और संघ में भी जाना कहा। **अज्जतग्गे–** आज से शुरू करके, **अज्जदग्गे** भी पाठ है 'द' पदसंधिकारक है। आज से प्रारंभ कर– यह कहा गया है। **पाणुपेतं–** जव तक मेरा जीवन है, तब तक, तीन शरण गमन से मैं किसी अन्य शास्ता की शरण में नहीं गया हूं– ऐसा आप गौतम जानें, धारण करें– यह कहा गया है। यहां तक दूसरे से सुनी हुई प्रतिपत्ति (आचरण) दिखाई गयी है। औंधे को... आदि कह कर शास्ता की संपत्ति दिखाकर इस यह मैं **(एसाहं)** आदि से शिष्यसंपत्ति दिखाई गयी है। इससे प्रज्ञा का लाभ दिखाकर श्रद्धा लाभ दिखाया गया। अब इस प्रकार श्रद्धा के लाभ से प्रज्ञावानों को जो करना चाहिए, उसको करने की इच्छावाला हो, भगवान से याचना करता है **लभेय्याहं–** अर्थात मैं लाभ करूं। यहां भगवान की ऋद्धि आदि से प्रसन्न चित्त हो, 'भगवान चक्रवर्ती राज्य का त्याग कर प्रव्रजित हुए, तब मैं क्यो नहीं?' ऐसा विचार कर श्रद्धा से प्रव्रज्या की याचना करता है, उसे पूरा करने के लिए प्रज्ञा उपसंपदा की प्रार्थना करता है। शेष प्रकट ही है।

एको वूपकट्ठो आदि में **एको** का अर्थ अकेले होने, काय एकांतता से, **वूपकट्ठो–** चित्त एकांतता से, **अप्पमत्तो–** कर्मस्थान में स्मृति न छोड़ने से, **आतापी–** शारीरिक मानसिक वीर्य से, परिश्रम से, **पहितत्तो–** प्रयत्न करके– इसकी अपेक्षा न कर कि काय जीवित रहेगा या नहीं। **विहरन्तो–** किसी ईर्यापथ से विहार करते हुए। न **चिरस्सेव–** प्रव्रज्या के बारे में, प्रव्रज्या के संबंध में कहता है। **कुलपुत्त–** दो प्रकार के कुलपुत्र, जो जाति से कुलपुत्त है और दूसरे जो आचार से कुलपुत्र है। यह दोनों ही दृष्टिकोणों से कुलपुत्र है। **अगारस्मा–** घर से। घर के हित में अगारिय अर्थात कृषि, गोपालन आदि कुटुंब पोषण कर्म आदि कहे जाते हैं। यहां अगारिय नहीं है इसलिए **अनगारियं** है, प्रव्रजित का यह पर्याय है, अधिवचन है। **पब्बजन्ति–** पास जाते हैं, पास पहुंचते हैं। **तदनुत्तरं–** उससे अनुत्तर को **ब्रह्मचरियपरियोसानं–** मार्ग ब्रह्मचर्य का पर्यवसान, अर्थात अर्हत फल को कहा जाता है। इसी के लिए कुलपुत्र प्रव्रजित होते हैं। **दिट्ठेव धम्मे–** अपने में। **सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा–** अपनी प्रज्ञा से प्रत्यक्ष अनुभूति कर, स्वयं जानकर– यह अर्थ है। **उपसम्पज्ज विहासि–** प्राप्तकर, कार्य पूरा कर, विहार किया। इस प्रकार विहार करते हुए **'खीणा जाति ...पे०... अब्भञ्ञासि** 'जन्मक्षीण हुआ, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, जो करना था कर लिया अब और कुछ करना शेष नहीं है' आदि उसने समझा। इससे उसकी प्रत्यवेक्षण भूमि दिखाता है।

कैसे उसका जन्म क्षीण हुआ, कैसे उसने इसको पूरी तरह समझ लिया? कहा जाता है– पहले ही क्षीण होने के कारण उसके अतीत के जन्म क्षीण नहीं हुए, और न भविष्य में प्रयत्न के अभाव से भविष्य के जन्म भी क्षीण हुए और न वर्तमान का जीवन क्षीण हुआ विद्यमान होने के कारण। किंतु जो मार्ग की भावना नहीं करने के कारण एक, चार तथा पंच वोकार भवों में एक स्कंध, चार स्कंध

तथा पांच स्कंधों के भेद से जो जन्म हो, उस मार्ग की भावना करने से अनुत्पाद धर्मता उत्पन्न हो क्षीण हो जाती है उसको वह मार्ग की भावना से प्रहीण क्लेश का प्रत्यवेक्षण कर क्लेश के अभाव में विद्यमान जो कर्म है वह भविष्य में अप्रतिसंधिक अर्थात प्रतिसंधि न ग्रहण करानेवाला होता है– ऐसा जानते हुए जानता है।

वुसितं– रहा, वास किया, जीवन जीया, वैसा ही आचरण किया, पूरा किया। **ब्रह्मचरियं–** मार्ग ब्रह्मचर्य– अष्टांगिक मार्ग पर चलना। **कतं करणीयं–** चार आर्यसत्यों में चार मार्गों से परिज्ञा, प्रहाण और साक्षात्कार करने और भावना करने के कारण सोलह प्रकार के कृत्यों को पूरा किया– यह अर्थ है। **नापरं इत्थत्ताय–** अब पुनः इस भव में, इस प्रकार सोलह प्रकार के कृत्यों को पूरा करने के लिए, क्लेश क्षय के लिए मार्ग की भावना करनी नहीं है। अथवा **इत्थत्ताय–** पुनः होने के भाव के कारण इससे इस प्रकार के अब वर्तमान में जो स्कंधसंतान हैं उनके बाद कोई स्कंध संतान नहीं है– ये पांच स्कंध अच्छी तरह से जान लिए गये हैं और अब ये जड़ कटे वृक्ष की तरह हैं– इस बात को पूरी तरह से समझ लिया। **अञ्ञतरो–** एक। **अरहतं–** अरहंतों के, महाश्रावकों के बीच आयुष्मान भारद्वाज एक हुए– यह यहां अभिप्राय है।

कसिभारद्वाजसुत्तवर्णना समाप्त।

५. चुन्दसुत्तवर्णना

पुच्छामि मुनि पहूतपञ्ञं से आरंभ होनेवाला चुंदसुत्त है।

इसकी क्या उत्पत्ति है?

संक्षेप में जो चार प्रकार की उत्पत्तियां हैं जैसे अत्तज्झासय (अपनी इच्छा से), परज्झासय (दूसरे की इच्छा से), अट्ठुपत्ति (अर्थ बताने के लिए) और पुच्छावसिक (पृच्छावश या किसी के पूछने पर) उनमें इस सुत्त की उत्पत्ति पुच्छावसिक है। विस्तार से (इसकी उत्पत्ति यह है)– एक समय भगवान मल्ल में चारिका करते हुए बड़े भिक्षु संघ के साथ पावा पहुंचे। भगवान पावा में चुंद कम्मार (लोहार) पुत्त के आम्रवन में विहार कर रहे थे। यहां से लेकर जहां तक 'अब भगवान पूर्वाह्न में चीवर पहन, पात्र और चीवर ले भिक्षुसंघ के साथ चुंद कम्मारपुत्त के घर (दी० नि० २.१८९) पहुंचे और पहुंचकर प्रज्ञप्त आसन पर बैठे। वहां तक सुत्त में जैसा आया है, विस्तार करना चाहिए।

इस प्रकार भिक्षुसंघ के साथ भगवान के बैठने पर चुंद कम्मारपुत्त ने बुद्ध प्रमुख भिक्षुसंघ को भोजन कराते हुए व्यंजन सूप आदि ग्रहण करने के लिए भिक्षुओं को सोने की थालियां दीं। भिक्षा हेतु बनाये गये नियम के न होने से कुछ भिक्षुओं ने सोने की थाली को स्वीकार किया, कुछ ने नहीं। भगवान को तो एक ही पात्र पत्थर का था, दूसरा पात्र बुद्ध स्वीकार करते ही नहीं हैं। अब किसी पापी भिक्षु ने हजार मूल्यवाले सोने की थाली को अपने भोजन के लिए प्राप्तकर चोरी करने के इरादे से चाभी रखनेवाली थैली में डाल दिया। चुंद ने भोजन कराने के बाद हाथ-पैर धो भगवान को नमस्कार करते हुए भिक्षुसंघ को देखते हुए उस भिक्षु को देखा, देखकर भी न देखने जैसा कर भगवान में तथा स्थविर में गौरव होने के भाव से उसको कुछ नहीं कहा और इसलिए भी नहीं कहा कि 'मिथ्या दृष्टिवाले सुनकर इसकी चर्चा न करने लगें'। उसने यह जानने की इच्छा से कि 'क्या श्रमण संवरयुक्त होते हैं अथवा संवररहित इस तरह के श्रमण की तरह'?– शाम के समय भगवान के पास पहुंचकर पूछा– **'पुच्छामि मुनिं।'**

८३. पुच्छामि मुनिं पहूतपञ्ञं (इति चुन्दो कम्मारपुत्तो), बुद्धं धम्मस्सामिं वीततण्हं।
द्विपदुत्तमं सारथीनं पवरं, कति लोके समणा तदिङ्घ ब्रूहि॥

"प्रभूतप्रज्ञ मुनि को, बुद्ध को जो धर्मस्वामी और वीततृष्ण हैं, जो द्विपदों में उत्तम हैं, श्रेष्ठ सारथी हैं। मैं (चुंदकम्मारपुत्त) पूछता हूं कि संसार में कितने प्रकार के श्रमण हैं, आप मुझे बतायें।"

यहां **पुच्छामि** यह 'तीन प्रकार से जैसे **अदिट्ठ जोतना पुच्छा'** आदि पद्धति से जो पूछना है वह निद्देस में (चूल० नि० पुण्णकमानवपुच्छानिद्देस १२) कहा गया है। **मुनिं–** मौन ज्ञान को कहा जाता है। जो प्रज्ञा है, सम्यक प्रकार से जानना है ...पे०... सम्यक दृष्टि है, उस ज्ञान से समन्वागत मुनि है, मौन

प्राप्त है, तीन प्रकार के मौनेय्य जैसे काय मौनेय्य (महानि० १४) आदि विधि से। वहां कहे गये विधि के समान ही यह यहां संक्षेप है।

पुच्छामि– अनुमति प्राप्त कर, **मुनिं–** मुनियों में मुनि, भगवान को संबोधित करता है। **पहूतपञ्ञं–** इन बातों से, इन स्तुति वचनों से, इनसे उन मुनि की स्तुति करता है। यहां **पहूतपञ्ञं–** प्रभूत प्रज्ञा, विपुल प्रज्ञावाला। जानने योग्य बातों की सीमा तक पहुंचे होने के कारण उनकी विपुलता जाननी चाहिए। **इति चुन्दो कम्मारपुत्तो–** इन दोनों को धनियसुत्त में कहे गये की तरह जानना चाहिए। इसके बाद इतना न कहकर, सभी कहे को छोड़कर जो नहीं कहा गया है उसका वर्णन करेंगे।

बुद्धं– तीन बुद्धों में तीसरे बुद्ध। **धम्मस्सामिं–** मार्ग धर्म के जनक होने के कारण, पिता द्वारा पुत्र को अपने सिखाये शिल्प आदि की तरह, आचार्य का धर्म का स्वामी, धर्मेश्वर, धर्मराज, धर्म वशवर्ती आदि अनेक अर्थ हैं। यह कहा भी गया है– "ब्राह्मण, वह भगवान अनुत्पन्न मार्ग के उत्पादकर्त्ता, नहीं पैदा हुए मार्ग को पैदा करनेवाले, अनाख्यात मार्ग को आख्यात करनेवाले, मार्ग को जाननेवाले, मार्गविद और मार्ग कोविद हैं। मार्ग का अनुगमन करनेवाले उनके श्रावक अब इस मार्ग पर इससे समन्वागत हो विहार करते हैं" (म० नि० ३.७९)।

वीततण्हं– काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा से जो विगत हैं, जिन्होंने इन्हें छोड़ दिया है। **द्विपदुत्तमं–** दो पैरोंवाले में श्रेष्ठ, उत्तम। यहां लेकिन भगवान न केवल दो पैरोंवाले में श्रेष्ठ हैं वल्कि जितने भी विना पैरवाले प्राणी या दो पैरवाले प्राणी हैं... या नैवसंज्ञीनासंज्ञी प्राणी है उन सबों में उत्तम हैं। ऐसा कहकर उत्कृष्टता वताने के लिए दो पैरवालों में श्रेष्ठ कहा गया है। दो पैरवाले प्राणी ही सभी प्राणियों में उत्कृष्ट हैं, चक्रवर्ती, महाश्रावक तथा प्रत्येकबुद्ध इन्हीं में से होते हैं, उनमें उत्तम कहे जाने से सभी प्राणियों में श्रेष्ठ हैं– ऐसा कहा गया है।

सारथीनं पवरं– हांकता है, जाने कहता है इसलिए सारथी, हाथी दमन करनेवाले आदि का पर्याय है, अधिवचन है। उनमें भगवान प्रवर हैं, श्रेष्ठ हैं; अनुत्तर रूप से दमन करने के कारण, दम्य पुरुषों को दमन करने के सामर्थ्यभाव से। जैसे कहा–

"भिक्षुओ, हस्ति दमन करनेवाले द्वारा दम्य हाथी हांका जाकर एक दिशा में जाता है, दौड़ता है (चाहे वह दिशा) पूरव हो या पश्चिम या उत्तर या दक्षिण; घोड़े को दमन करनेवाले द्वारा दम्य घोड़ा हांका जाकर,... गौ दमन करनेवाले द्वारा दम्य गौ हांका जाकर... या दक्षिण, वैसे ही भिक्षुओ, तथागत, अर्हत सम्यक संबुद्ध द्वारा हांका जाकर दम्य पुरुष आठों दिशाओं में जाता है, दौड़ता है, रूपवान रूपों को देखता है, यह एक दिशा है... पे०... संज्ञावेदयित निरोध अवस्था प्राप्तकर विहार करता है अर्थात उस ध्यान को प्राप्तकर विहार करता है, यह आठवीं दिशा है (म० नि० ३.३१२)।

कति– कितने प्रकार के पूछने के अर्थ में प्रयुक्त, **लोके–** प्राणी लोक में, **समणा–** पूछे जाने योग्य अर्थ का उदाहरण, **इङ्घ–** याचन अर्थ में निपात है। **तदिङ्घ–** आप अवश्य, **ब्रूहि–** कहें, कथन करें।

ऐसा कहे जाने पर भगवान ने चुंद कम्मारपुत्त को इस तरह का जैसे 'भंते, क्या कुशल है, क्या अकुशल है' (मं० नि० ३.२९६) गृहस्थ धर्म संबंधी प्रश्न न पूछकर श्रमण संबंधी प्रश्न पूछते देखकर ध्यान लगाया और यह जानकर कि 'यह पापी भिक्षु के विषय में प्रश्न पूछ रहा है'– उसको अन्यत्र व्यवहार मात्र के लिए अश्रमणभाव स्पष्ट करते हुए **'चतुरो समणा'** कहा।

८४. चतुरो समणा न पञ्चमत्थि, (चुन्दातिभगवा) ते ते आविकारोमि सक्खिपुट्ठो।
मग्गजिनो मग्गदेसकोच्च, मग्गे जीवित योच मग्गदूसी॥

"चार प्रकार के श्रमण हैं, पांचवां नहीं है। तुम मुझसे पूछ रहे तो मैं तुम्हें बतलाता हूं। वे हैं– मार्गजिन, मार्गदर्शक, मार्गजीवी तथा मार्गदूषक।"

यहां **चतुरो–** संख्या बताने के लिए। **समणा–** कहीं भगवान दूसरे मत के संस्थापक को श्रमण संवोधित करते हैं– 'जैसे कहा उन भिन्न-भिन्न श्रमण ब्राह्मणों के व्रत कौतुहल मंगल' आदि (म० नि० १.४०७); कभी पृथक्जन को– जैसे कहा– 'भिक्षुओ, श्रमण श्रमण है, ऐसा लोग जानते हैं' (म० नि० १.४३५) कभी शैक्ष्य को– जैसे कहा– 'भिक्षुओ, यह श्रमण है, यह दूसरा श्रमण है' (म० नि० १.१३९; दी० नि० २.२१४; अ० नि० १.४.२४१) कभी क्षीणाश्रव को– जैसे कहा– 'आश्रवों के क्षय से श्रमण होता है (म० नि० १.४३८) कभी अपने को ही, जैसे कहा, 'भिक्षुओ, श्रमण तथागत का ही यह अधिवचन है' (अ० नि० ३.८.८५)। यहां तीन पदों से सभी आर्य तथा शीलवान पृथक्जन तथा चतुर्थ पद से इनसे इतर जो अश्रमण हैं, जो सिर्फ मथमुंडे हैं, काषायवस्त्रधारी सिर्फ नाम के श्रमण हैं उनका संग्रह कर, उनको सम्मिलित कर 'चार प्रकार के श्रमण' कहा। **न पञ्चमत्थि–** इस धर्म विनय में व्यवहार मात्र से या झूठ-मूठ श्रमण होने की बात करनेवाला पांचवें प्रकार का श्रमण नहीं है।

ते ते आविकरोमि– उन चार प्रकार के श्रमणों को तुम्हें स्पष्ट करूंगा, उन श्रमणों के बारे में बताऊंगा। **सक्खिपुट्ठो–** सामने में पूछा गया, गवाह के रूप में पूछा गया। **मग्गजिनो–** मार्ग से सब क्लेशों को जिसने जीत लिया– यह अर्थ है। **मग्गदेसको–** दूसरे को मार्ग बतानेवाला। **मग्गेजीवति–** सात शैक्ष्य (जो अर्हत नहीं हुआ है) प्राणियों में किसी शैक्ष्य ने लोकोत्तर भूमि में सम्यक मार्ग पर पूरी तरह चलना समाप्त नहीं किया है और जो शीलवान पृथक्जन लोकीय मार्ग में जीता है उसे कहते हैं। या शीलवान पृथक्जन लोकोत्तर मार्ग के निमित्त जीते हुए भी मार्ग पर चलता है यह जानना चाहिए। **यो च मग्गदूसी–** जो दु:शील है, मिथ्यादृष्टिवाला है, सम्यक मार्ग पर न चलकर विपरीत मार्ग पर चलता है वह मार्गदूषक है।'

'ये चार प्रकार के श्रमण हैं'– इस प्रकार भगवान ने संक्षेप में चार प्रकार के श्रमणों को बताया। 'यह मार्गजिन है, यह मार्गोपदेशक है, यह मार्ग पर चलकर जीनेवाला है और यह मार्गदूषक है'– इस प्रकार ठीक से प्रतिवेधन करने में असमर्थ चुंद ने फिर पूछा 'मार्गजिन कौन हैं?'

८५. कं मग्गजिनं वदन्ति बुद्धा, (इति चुन्दो कुमारपुत्तो) मग्गक्खायी कथं अतुल्यो होति।
मग्गे जीवन्ति मे ब्रूहि पुट्ठो, अथ मे अविकरोहि मग्गदूसि॥

"बुद्ध किसे मार्गजिन कहते हैं? (चुंदकम्मारपुत्त ने पूछा।) अतुलनीय मार्गदेशक कैसा होता है? मेरे पूछने पर यह भी बतावें कि मार्गजीवी और मार्गदूषी कौन होते हैं?"

यहां **मग्गे जीवति मे–** वह किस मार्ग पर चलकर जीवन जीता है जो पूछा गया उसको आप मुझे कहें। शेष प्रकट ही है।

अव भगवान ने उसको चार गाथाओं द्वारा चार प्रकार के श्रमणों को बताते हुए, निर्देशित करते

हुए कहा–

८६. यो तिण्णकथंकथो विसल्लो, निब्बानाभिरतो अनानुगिद्धो।
लोकस्स सदेवकस्स नेता, तादिं मग्गजिनं वदन्ति बुद्धा॥

"जो संदेह रहित है, शल्य रहित, निर्वाण में लीन, आसक्ति रहित है, जो देव सहित लोक का नेता है, उसे बुद्धमार्गजिन कहते हैं।"

'जो संदेह रहित हो गया, जिसके हृदय से सारे क्लेश रूपी शल्य निकल गये।' यहां **तिण्णकथंकथो विसल्लो–** यह उरगसुत्त में कहे गये की तरह ही है। यह विशेष है। चूंकि इस गाथा में मार्गजिन से बुद्ध श्रमण अभिप्रेत हैं, इसलिए सर्वज्ञता ज्ञान से संदेह तथा संदेह से मिलते-जुलते सभी धर्मों में अज्ञानता को तीर्ण कर जाने के कारण, अज्ञानता को पार कर जाने के कारण 'तिण्णकथंकथो' या वह व्यक्ति जो संदेहों के पार चला गया है, जानना चाहिए। पहले कहे गये की तरह संदेहों के पार चले गये सोतापन्न आदि 'प्रत्येक बुद्ध सकृदागामी के विषय से लेकर बुद्ध विषय के अंत तक अशुद्ध या विकृत ज्ञान के कारण पर्याय से एक तरह से अतीर्णसंदेह होते हैं। लेकिन भगवान सभी प्रकार से संदेहों को पारकर गये हैं अर्थात वे तीर्णसंदेह हैं। **निब्बानाभिरतो–** निर्वाण में अभिरत, फल समापत्ति के कारण सदा उनका चित्त निर्वाण की ओर झुका होता है– यह अर्थ है। भगवान वैसे ही हैं जैसे कहा है– 'हे अग्निवेशन, वह मैं उस कथा की परिसमाप्ति पर, उसी पूर्व समाधि निमित्त में ही अपने चित्त को स्थापित करता हूँ, शांत बनाता हूं, एकाग्र करता हूं, और समाधिस्थ करता हूं, जोड़ता हूं (म० नि० १.३८७)।'

अनानुगिद्धो– किसी भी धर्म को तृष्णा की दृष्टि से न देखते हुए अर्थात किसी भी धर्म में लोभ न करते हुए। **लोकस्स सदेवकस्स नेता–** (लोगों को) आशय, अनुशय के अनुसार धर्मोपदेश देकर पारायण, महासमय आदि अनेक सुत्तों में अगणित देव मनुष्यों को सत्य का प्रतिवेधन कराकर देवसहित लोक के नेता, लोक को ले जानेवाला, तारनेवाला, पार करानेवाला– यह अर्थ है। **तादिं** उसके समान, कहे गये प्रकार से लोक धर्मों में निर्विकार– यह अर्थ है। शेष प्रकट ही है।

इस प्रकार भगवान ने इस गाथा से यह स्पष्ट किया कि मार्गजिन बुद्ध श्रमण ही है। अब क्षीणाश्रव श्रमण के बारे में निर्देश करते हुए **परमं परमं** कहा।

८७. परमं परमन्ति योध ञत्वा, अक्खाति विभजते इधेव धम्मं।
तं कङ्खछिदं मुनिं अनेजं, दुतियं भिक्खुनमाहु मग्गदेसिं॥

"जो यहां इस लोक में श्रेष्ठ को श्रेष्ठ की तरह जानता है और यहां धर्म को आख्यात करता है, सम्यक रूप से विभाजन करता है, वह संदेहातीत मुनि जो तृष्णारहित है, दूसरा भिक्षु कहलाता है– जो मार्गदेशक है– मार्ग बतानेवाला है।"

यहां **परमं** का अर्थ निर्वाण है, सभी धर्मों में जो अग्र है, उत्तम है। **परमन्ति योध ञत्वा–** जो इस शासन में श्रेष्ठ को श्रेष्ठ समझ कर, प्रत्यवेक्षणज्ञान से समझकर। **अक्खाति विभजते इधेव धम्मं–** निर्वाण धर्म को आख्यात करता है, अपने प्रतिवेधन से दूसरों को बताता है कि 'यह निर्वाण है, मार्ग धर्म का विभाजन करता है 'ये चारों सम्यक स्मृति उपस्थान है...पे०... यह आर्य अष्टांगिक मार्ग है। दोनों

को या जो शीघ्रता से समझनेवाले हैं उनको संक्षेप देशना से बताते हैं और जो विस्तार से बताने पर समझनेवाले हैं उनको विस्तार से बताकर, विभाजन कर, वर्गीकरण कर-करके बताते हैं। इस प्रकार बताते हुए, वर्गीकरण करते हुए, 'इस शासन में यह धर्म है, इससे बाहर नहीं है' सिंहनाद करते हुए समझाते हैं और वर्गीकरण करते हैं। इसलिए कहा कि 'यहां धर्म को समझाते हैं, वर्गीकरण करते हैं।' **तं कङ्खच्छिदं मुनिं अनेजं–** इस प्रकार चार आर्यसत्यों के प्रतिवेधन से अपनी, तथा देशना से दूसरे की शंका को दूर करने के कारण, उनके संदेह को दूर करनेवाले को, मौनेय्य से समन्वागत होने से मुनि को, तृष्णा के अभाव से वीततृष्ण को दूसरे प्रकार का मार्ग देशक श्रमण या भिक्षु कहा गया है **दुतियं भिक्खुनमाहु मग्गदेसिन्ति।**

इस प्रकार इस गाथा से स्वयं अनुत्तर मार्ग को उत्पन्नकर, देशना से अनुत्तर मार्गदेशक होते हुए भी राजा के दूत की तरह या लेखपाठक की तरह अपने शासन को ले जानेवाले को, अपने शासन को प्रकाशित करनेवाले को मार्गदेशक क्षीणाश्रव श्रमण बताकर, अब शैक्ष्य श्रमण तथा शीलवान पृथकजन श्रमण का निर्देश करते हुए कहा–

८८. यो धम्मपदे सुदेसिते, मग्गे जीवति सञ्ञतो सतीमा।
अनवज्जपदानि सेवमानो, ततियं भिक्खुनमाहु मग्गजीविं॥

"जो अच्छी तरह से उपदिष्ट धर्म मार्ग पर चलता है, जो संयमी है, स्मृतिमान है, दोष रहित मार्ग पर चलनेवाला है, उसे ही लोग तीसरे प्रकार के भिक्षु अर्थात मार्गजीवी कहते हैं।"

यहां पदों का अर्थ स्पष्ट ही है। लेकिन यह अर्थवर्णना है। जो निर्वाण धर्म के पद होने से **धम्मपदे** अर्थात धर्म मार्ग पर, दोनों अंतों को छोड़कर देशना देने के कारण, आशय आदि के अनुरूप या सतिपट्ठान आदि नाना प्रकार से देशना देने के कारण **सुदेसिते** (अच्छी तरह से उपदिष्ट) मार्ग को जिसने अङ्ग बना लिया है, मार्ग कृत्य को समाप्त नहीं करने के कारण जो मार्ग में जीता है **(मग्गे जीवति)**, शील संयम से जो संयमित है, काया आदि में बराबर देर-देर तक स्मृति बनाये रखने तथा सुप्रतिष्ठित करने के कारण **सतिमा** (स्मृतिमान), अणुमात्र भी दोष के अभाव से अनवद्य होने के कारण, भाग से या पद के कारण सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म जो अनवद्दपद हैं, भङ्गज्ञान प्रभृति से भावना तथा सेवा करते रहने से **सेवमानो–** उन भिक्षुओं को तीसरे प्रकार के श्रमण मार्गजीवी कहा।

इस प्रकार भगवान ने इस गाथा द्वारा मार्गजीवी कहकर शैक्ष्य श्रमण तथा शीलवान पृथकजन श्रमण हैं ऐसा निर्देशित कर अब काषायवस्त्रधारी झूठ-मूठ दिखावा करनेवाले श्रमण को जो नाम मात्र का श्रमण है निर्देशित करते हुए **"छदनं कत्वाना"**ति कहा।

८९. छदनं कत्वान सुब्बतानं, पक्खन्दी कुलदूसको पगब्भो।
मायावी असञ्ञतो पलापो, पतिरूपेन चरं स मग्गदूसी॥

"सुव्रतियों की नकल करनेवाला, बढ़-चढ़कर बोलनेवाला, कुल को दूषित करनेवाला, प्रगल्भ, मायावी, असंयमी, प्रलाप करनेवाला, भिक्षु का वेष बनाकर, भिक्षु की तरह लगनेवाला दिखकर विचरण करता है तो वह मार्गदूषक है।"

यहां **छदनं कत्वान–** भिक्षु का रूप बनाकर, वेष धारण कर, भिक्षु का जो चिह्न है उसको धारण कर– यह अर्थ है। **सुब्बतानं–** बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा श्रावकों का, उनके व्रत ही सुंदर होते हैं, इसलिए वे सुव्रती कहे जाते हैं। **पक्खन्दि–** डींग मारनेवाला, बिना सोचे समझे छलांग लगानेवाला, अंत तक पहुंचनेवाला, अंतिम छोर तक प्रवेश करनेवाला– यह अर्थ है। दुःशील व्यक्ति अपनी दुःशीलता को उस तरह छिपाते हुए जैसे घास-पत्ते आदि से गूह छिपाया जाता है। सुव्रतियों अर्थात बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और श्रावकों का वेष धारण कर 'मैं भी भिक्षु हूं' कहते हुए भिक्षुओं के बीच छलांग लगाकर चला आता है। 'इतने वर्षोंवाले भिक्षु द्वारा यह ग्रहण किया जाय' ऐसा (सोचकर) लाभ दिये जाने पर 'मैं इतने वर्षों का हूं' ऐसा कह ग्रहण करने के लिए कूद पड़ता है, इसलिए कहा जाता है, 'सुव्रतियों का वेष बनाकर प्रवेश करता है, छलांग लगाते आता है।' क्षत्रिय आदि चारों कुलों में उत्पन्न प्रसाद (शुद्धता) को अपने अयोग्य आचरण से दूषित करता है– अतः कुलदूषक कहलाता है। **पगब्भो** आठ कारणों से शारीरिक प्रगल्भता से, चार कारणों से वाचसिक प्रगल्भता से तथा अनेक कारणों से मानसिक प्रगल्भता से जो समन्वागत हो– यह अर्थ है। यह यहां संक्षेप है, इसका विस्तार **मेत्तसुत्त** की अर्थकथा में कहेंगे।

किये काम को ढंकने के लक्षण से युक्त होने के कारण, माया से समन्वागत होने के कारण **मायावी** (कहा गया है)। शील संयम के अभाव से **असञ्ञतो** (असंयत), प्रलाप (व्यर्थ) की बातचीत सदृश होने से **पलापो,** जैसे भूसा के भीतर चावल नहीं रहता, फिर भी बाहर से वह चावल की तरह दिखता है, इसी प्रकार कोई व्यक्ति यहां भीतर से शीलादिगुण से विरहित होने पर भी बाहर से सुव्रती का वेष बनाकर, श्रमण सदृश दिखकर श्रमण की तरह दीखता है। वह इस तरह भूसा के सदृश होने के कारण 'भूसा' कहा जाता है।

आनापानस्सति सुत्त में 'भिक्षुओ, सारी परिषद शुद्ध है, सार में प्रतिष्ठित है, (म० नि० ३.१४६) भूसा से, बेकार की बातों से रहित है, इस प्रकार पृथकजन कल्याण को भी प्रलाप (भूसा) कहा गया है।

यहां **कपिलसुत्त** में, 'इसलिए प्रलाप को (भूसा को) बहा दो, जो अश्रमण हो श्रमण का वेष बनाता है, उसे भी बहा दो, फेंक दो (सु० नि० २८४), (ऐसा कहकर) पराजित हुआ व्यक्ति प्रलाप (भूसा) कहा गया है।

पतिरूपेन चरं समग्गदूसी– जैसे जनता उसको, जो सुव्रत धारण कर अपने को छिपाता है, जब विहार करते हुए (देखती है तो) यह जंगल में रहनेवाला है, वृक्षमूल में सोनेवाला है, यह फटा-चिटा कपड़ा धारण करनेवाला है, यह भिक्षा मांगकर खानेवाला है, अल्पेच्छ है, संतुष्ट है, ऐसा समझती है।

इस प्रकार विपरीत आचरण से युक्त ढोंगी भिक्षु का रूप धारण कर विहार करनेवाला व्यक्ति अपने लोकोत्तर मार्ग को तो दूषित करता ही है, दूसरे की सुगति के मार्ग को भी दूषित करता है– इसलिए ऐसे व्यक्ति को मार्गदूषक **(मग्गदूसी)** जानना चाहिए।

इस प्रकार इस गाथा द्वारा मार्गदूषक की, दुःशील की, सिर्फ नाम के लिए भिक्षु कहानेवाले की व्याख्या कर, दुःशील को अलग कर अब उनके परस्पर अलग रहने के भाव को दिखाते हुए (उदाहरण देकर समझाते हुए) **'एते च पटिविज्झि'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

९०. एते च पटिविज्झि यो गहट्ठो, सुतवा अरियसावको सपञ्ञो।
सब्बे नेतादिसा ति ञत्वा, इति दिस्वा न हापेति तस्स सद्धा।
कथं हि दुट्ठेन असम्पदुट्ठं, सुद्धं असुद्धेन समं करेय्या"ति॥

"अगर किसी गृहस्थ ने, या प्रज्ञावान तथा श्रुतवान आर्यश्रावक ने इन चारों को अच्छी तरह समझ लिया है तो यह देखकर तथा जानकर कि सभी भिक्षु इसकी तरह नहीं हैं, उसकी श्रद्धा घटती नहीं क्योंकि वह दुष्ट भले साधु से तथा अशुद्ध शुद्ध से बराबरी कैसे कर सकता है?"

इसका अर्थ यह है– इन चारों प्रकार के श्रमणों को ऊपर कहे गये लक्षणों से **पटिविज्झि–** जाना, साक्षात्कार किया। **यो गहट्ठो–** जो गृहस्थ है, क्षत्रिय, ब्राह्मण या अन्य कोई इन चारों प्रकार के श्रमणों के लक्षण सुनने मात्र से **सुतवा** अथवा श्रुतवान, उसके लक्षण को आर्यों के निकट सुनने के कारण **अरियसावको** (आर्यश्रावक), उन श्रमणों के 'यह-यह लक्षण है' जानने मात्र से **सप्पञ्ञो** (प्रज्ञावान), जिस प्रकार यह पीछे कहा गया मार्ग दूषक है, उससे भिन्न **सब्बे नेतादिसा**"ति **ञत्वा इति दिस्वा,** सभी ऐसे नहीं हैं यह जानकर, देखकर ऐसे पाप करते हुए को, ऐसे पापी भिक्षु को देखकर। यहां यह योजना है– जिस श्रुतवान, आर्य श्रावक प्रज्ञावान गृहस्थ ने उसे जान लिया है, उसको अपनी प्रज्ञा से ऐसा जानकर कि सभी ऐसे नहीं हैं– उन्हें विचरण करते देखकर अपनी श्रद्धा कम नहीं करता, ऐसे पापी भिक्षु को पापकर्म करते देखकर भी, अपनी श्रद्धा कम नहीं करता, नहीं घटाता, नष्ट नहीं करता है।

इस प्रकार इस गाथा द्वारा उनमें परस्पर अमिश्रित भाव को प्रकाशित करते हुए अर्थात यह दिखाते हुए कि दोनों प्रकार के भिक्षु परस्पर भिन्न हैं, एक नहीं हैं। अब यह देखकर भी कि सभी ऐसे नहीं हैं– ऐसा जानते हुए आर्यश्रावक की प्रशंसा करते हुए **कथं हि दुट्ठेन** कहा। उसका संबंध यह है। श्रुतवान आर्य श्रावक का, इस एक को पाप करते देखकर सभी ऐसे नहीं है– यह जानना। क्या कारण है? दुष्ट के साथ साधु की, अशुद्ध के साथ शुद्ध की कैसे बराबरी की जाय– (दोनों को एक कैसे कहा गया?) इसका अर्थ यह है– श्रुतवान आर्य श्रावक जो प्रज्ञावान है कैसे शीलविहीन दुष्ट से, मार्गदूषक से, जो दुष्ट नहीं है वैसे तीन प्रकार के श्रमणों को, तीन प्रकार के शुद्ध श्रमणों को, नाम मात्र के श्रमण से जिनकी काया, वाणी तथा मन का आचरण अपरिशुद्ध है तुलना करे, बराबर माने, समान है– ऐसा जाने? सुत्त के अंत में उपासक का न तो मार्ग बताया गया है न फल। उसकी मात्र शंका ही प्रहीण हो गयी है।

चुन्दसुत्तवर्णना समाप्त।

६. पराभवसुत्तवर्णना

एवं मे सुतं से प्रारंभ होनेवाला पराभव सुत्त है। इसकी क्या उत्पत्ति है?

मंगलसुत्त सुनकर देवताओं के मन में ऐसा हुआ कि 'भगवान ने मंगलसुत्त में प्राणियों की वृद्धि तथा स्वस्ति की बात कहते हुए एकांशतः उनके भव के विषय में ही कहा, अर्थात उनकी वृद्धि के बारे में ही कहा। पराभव के बारे में, पराजय के बारे में नहीं, अच्छा हो अब हम प्राणियों की हानि कैसे होती है, उनका नाश कैसे होता है तथा उनका पराभव कैसे होता है– इसके बारे में पूछें।' अब मंगलसुत्त कहे जाने के दूसरे दिन दस सहस्र चक्रवालों में रहनेवाले देवता **पराभवसुत्त** सुनने की इच्छा से इस चक्रवाल में सन्निपतित हुए। बाल के अग्रभाग पर जितना अवकाश है, स्थान है, उस पर दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर एवं अस्सी देवता अपने को सूक्ष्म बनाकर सभी देवता, मार तथा ब्रह्म श्री तथा तेज से बढ़-चढ़कर शोभते हुए, प्रज्ञप्त, श्रेष्ठ बुद्ध आसन पर बैठे भगवान को घेरकर खड़े थे। तब देवेंद्र शक्र द्वारा आज्ञा दिये जाने पर एक देवपुत्र ने भगवान से पराभव प्रश्न पूछा। अब भगवान ने पूछे जाने पर यह सुत्त कहा।

यहां **'एवं मे सुतं'** आदि आयुष्मान आनंद ने कहा, **'पराभवन्तं पुरिसं'** आदि नय से एक छोड़कर एक गाथा देवपुत्र द्वारा कही गयी है, **"सुविजानो भवं होती"**ति आदि नय से एक छोड़कर एक गाथा तथा जो अवसान गाथा है भगवान ने कही है, उन सबों को यहां एकत्र कर **'पराभवसुत्त'** कहा जाता है। यहां **'एवं मे सुतं'** आदि में जो वक्तव्य है, उस सब को मंगलसुत्तवर्णना में हम कहेंगे।

९१. पराभवन्तं पुरिसं, मयं पुच्छाम गोतम।
भगवन्तं पुट्ठुमागम्म, किं पराभवतो मुखं॥

"भगवान के पास पूछने आये हैं। हम लोग भगवान से असफल व्यक्ति के बारे में पूछते हैं। गौतम, आप बतायें कि मनुष्य असफल कैसे होता है, उसके पराभव का कारण क्या है?"

'पराभवन्तं पुरिसं' आदि में **पराभवन्तं** का अर्थ हानि को प्राप्त करते हुए का, नष्ट होते हुए का, **पुरिसं** जो कोई सत्त्व या प्राणी है। **मयं पुच्छाम गोतमं** शेष देवताओं के साथ अपने को निर्देशित कर अनुमति दिये जाने पर वह देवपुत्र भगवान को गोत्र नाम से संबोधित करता है। **भवन्तं पुट्ठुमागम्म** हमलोग भिन्न-भिन्न चक्रवालों से आये हुए देवता भगवान से पूछने के लिए आये हैं– यह अर्थ है। इससे आदर दर्शाया गया है। **किं पराभवतो मुखं–** इस प्रकार आये हमलोगों को आप कहें कि असफल पुरुष होने का क्या कारण है अर्थात पुरुष की असफलता का स्रोत क्या है, द्वार क्या है, मूल क्या है, कारण क्या है, जिससे हम पराभूत पुरुष को जान सकें– यह अर्थ है। **'पराभवन्तं पुरिसं'** कह कर इससे यहां कहे गये असफल व्यक्ति के पराभव का कारण पूछते हैं। पराभव अर्थात असफलता के कारण ज्ञात होने पर, उस कारण साम्य से जो कोई असफल व्यक्ति है उसे जान सकता है।

अब भगवान ने उसको अच्छी तरह से, प्रकट करने के उद्देश्य से प्रतिपक्ष को बताकर, व्यक्ति को अधिष्ठान बनाकर, देशना देकर असफलता के कारण को प्रकाशित करते हुए **सुविजानो भवं** आदि कहा।

९२. सुविजानो भवं होति, दुविजानो पराभवो।
धम्मकामो भवं होति, धम्मदेस्सी पराभवो॥

"कौन व्यक्ति सफल है– यह जानना आसान है, कौन असफल है– यह जानना भी आसान है। जो सफल है उसे धर्म में रुचि है, वह धर्म की कामना करता है और जो असफल है वह धर्म से द्वेष करता है, घृणा करता है अर्थात उसे धर्म से अरुचि है।"

इसका अर्थ यह है– जो यह **भवं** बढ़ता हुआ, विनाश को न प्राप्त करता हुआ व्यक्ति है, वह सुविज्ञेय है अर्थात वह सफल है– यह जानना आसान है, आसानी से, बिना कठिनाई के, जाना जा सकता है। जो असफल व्यक्ति है, हारा हुआ है, **पराभव** है, हानि को, विनाश को प्राप्त होता है, जो तुम असफल व्यक्ति के कारण को मुझसे पूछते हो– वह भी जानना आसान ही है। कैसे? जो व्यक्ति धर्मकामी होता है, धर्म में रुचि रखकर सफल होता है, दस कुशल कर्मपथ पर चलने की इच्छा करता है, कामना करता है, इस पर चलने की वह इच्छा करता है– वह इसकी स्पृहा करता है, इसको सुनता है और सुनकर मार्गारूढ़ होता है। उसके आचरण को देख-सुनकर वह आसानी से जाना जाता है, सुविज्ञेय होता है। इससे इतर या भिन्न व्यक्ति **धम्मदेस्सी पराभवो** अर्थात जो धर्मद्वेषी है, असफल है, वह धर्म से घृणा करता है, उसकी कामना नहीं करता, उसकी स्पृहा नहीं करता, न उसकी इच्छा करता है, न उसे सुनता है और न धर्म-पथपर आरूढ़ होता है। उसके विपरीत आचरण को देख-सुनकर वह भी आसानी से जाना जाता है, सुविज्ञेय होता है। इस प्रकार यहां भगवान ने प्रतिपक्ष दिखाते हुए अर्थतः धर्म कामना को वृद्धि का कारण बताकर धर्मद्वेष को पराभव का, असफलता का कारण दिखाया है– यह जानना चाहिए।

अब उस देवता ने भगवान के कहे का अभिनंदन करते हुए **'इति हेतं'** आदि कहा।

९३. इति हेतं विजानाम, पठमो सो पराभवो।
दुतियं भगवा ब्रूहिं, किं पराभवतो मुखं॥

"उसको हमलोगों ने जान लिया, यह प्रथम पराभव है। हे भगवान, अब दूसरा पराभव कहें, असफलता का दूसरा कारण क्या है?"

इसका अर्थ यह है– जैसा भगवान ने कहा, उसी प्रकार हमलोगों ने उसे जाना है, ग्रहण किया है, धारण किया है। **पठमो सो पराभवो** वह धर्मद्वेष पराभव का प्रथम कारण है। पराभव के जिन कारणों को जानने हम यहां आये हैं उनमें से यह पहला पराभव का कारण कहा गया है। यहां **विग्गहो–** विग्रह है– इससे पराजित होता है, पराभूत होता है, इसलिए पराभव है। किससे पराजित होता है? जो पराभव का मुख है, कारण है, उससे। वैसे तो कहने के लिए पराभव के अनेक कारण हैं, पर अर्थतः पराभव के कारण बहुत नहीं हैं। इस प्रकार पराभव के एक कारण को हमलोग जान गये हैं– यह कह भगवान का अभिनंदन किया और दूसरे कारण को जानने की इच्छा से **"दुतियं भगवा ब्रूहि, किं पराभवतो मुख"**न्ति

कहा। इसके बाद तृतीय, चतुर्थ आदि के बारे में भी इसी विधि से जानना चाहिए।

व्याख्या स्वरूप यह कहा जा सकता है कि चूंकि वे-वे प्राणी उन-उन पराभव के कारणों से समन्वागत हैं, अर्थात अलग-अलग पराभव के कारण से समन्वागत हैं। सभी एक कारण से असफल, पराभूत नहीं होते और न सभी एक ही तरह के हैं, इसलिए अलग-अलग प्राणियों के अलग-अलग कारणों को दिखाने के लिए **"असन्तस्स पिया होन्ती"**ति आदि विधि से, नय से व्यक्ति के अध्याशय को देख देशना देकर पराभव के कारणों को बतलाया– ऐसा जानना चाहिए।

९४. असन्तस्स पिया होन्ति, सन्ते न कुरुते पियं।
असतं धम्मं रोचेति, तं पराभवतो मुखं॥

"जो संत नहीं हैं, वे उसके प्रिय होते हैं, जो संत हैं, वे उन्हें अच्छे नहीं लगते। जो संत नहीं है उसी का धर्म उसे रुचता है– यही पराभव का कारण है।"

संक्षेप में यह अर्थवर्णना है। **असन्तो** का अर्थ छः शास्ता हैं। ये या अन्य कोई जो अशांत कायिक, वाचसिक तथा मानसिक कर्म से समन्वागत है, वैसे असंत उसके प्रिय होते हैं। सुनक्खत्त आदि को जैसे अचेलक कोर क्षत्रिय आदि प्रिय थे। **सन्तो** कहते हैं बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा श्रावक को या अन्य किसी को जो शांत कायिक, वाचसिक तथा मानसिक कर्मों से समन्वागत हैं, वे उन्हें प्रिय नहीं लगते, वे उन्हें अपना प्रिय, इष्ट, सुंदर नहीं मानते– यह अर्थ है। यहां **वेनेय्य** (शिक्षित होने योग्य) होने के कारण वचन भेद किया गया है– यह जानना चाहिए। अथवा– **सन्ते न कुरुते,** संतो की सेवा नहीं करता है यह अर्थ है, जैसे 'राजाओं की सेवा करता है' इस अर्थ में राजाओं को प्रिय लगनेवाला अपने को बनाता है ऐसा शब्दविद (वैयाकरण) कहते हैं। **पियं** प्रिय बनाते हुए, तुष्ट करते हुए, प्रसन्न करते हुए– यह अर्थ है। **असतं धम्मो** का अर्थ बासठ मिथ्या दृष्टियां या दस अकुशल कर्म हैं। उसको असंतो का धर्म रुचिकर लगता है, वह उस धर्म की स्पृहा करता है, कामना करता है, उसका अभ्यास करता है। इस प्रकार इस गाथा द्वारा पराभव के तीन कारण कहे गये हैं– असंत प्रेम, संत के प्रति प्रेम न होना तथा असद्धर्म में रुचि। इनसे समन्वागत व्यक्ति असफल होता है, पराभूत होता है, विनाश को प्राप्त होता है, वृद्धि प्राप्त नहीं करता, न इस लोक में, न परलोक में, इसलिए पराजय का, असफलता का कारण कहा जाता है। विस्तार से इसके बारे में 'असेवना च बालानं, पंडितानञ्च सेवना' गाथा वर्णन में हम कहेंगे।

९६. निद्दासीली सभासीली, अनुट्ठाता च यो नरो।
अलसो कोधपञ्ञाणो, तं पराभवतो मुखं॥

"अगर किसी व्यक्ति को नींद प्यारी लगे, सभा में उठना-बैठना अच्छा लगे, अगर वह प्रयत्न न करे, आलसी हो और क्रोध उसके स्वभाव का लक्षण हो तो ये उसके पराभव के कारण हैं।"

निद्दासीली का अर्थ यह है कि जो चलते, बैठते, खड़ा होते, लेटते सोया रहता है।

सभासीली का अर्थ समाज में, भीड़ में रहना पसंद करनेवाला तथा खूब बोलने में रत रहनेवाला। **अनुट्ठाता** वीर्य और तेज से रहित, उत्थानशील न होना। गृहस्थ होकर भी, प्रव्रजित होकर भी दूसरों से प्रेरित किये जाने पर ही गृहस्थ कर्म और प्रव्रजित कर्म क्रमशः आरंभ करता है। **अलसो–** जन्म से

आलसी, शारीरिक थकावट से इतना अभिभूत कि जब खड़ा हो तो खड़ा ही रहना चाहता है और बैठने के स्थान पर बैठा ही रहना चाहता है, अपने उत्साह से अन्य ईर्यापथ नहीं बदलता। अतीत में कोई व्यक्ति जंगल में आग लग जाने पर भी उठने में आलस कर रहा था– यहां इस उदाहरण को दिया गया है।

यह यहां उत्कृष्ट माप है। उसके बाद अनुत्कृष्ट माप से आलसी को आलसी ही जानना चाहिए। रथ का लक्षण ध्वज है (ध्वज रथ की पहचान है), आग का धुआं (बिना धुएं की आग नहीं होती), उसी तरह जिसका लक्षण क्रोध है वह **कोधपञ्ञाणो** है। द्वेष चरितवाला, शीघ्र क्रोधित होनेवाला, जिसका चित्त पुराने घाव की तरह हो वैसा व्यक्ति ऐसा ही होता है। इस गाथा से निद्राशीलता, सभाशीलता, अनुत्थानता, आलस तथा क्रोधी स्वभाव का होना ये पांच प्रकार के पराभव के कारण कहे गये है। इनसे समन्वागत गृहस्थ न तो गार्हस्थ्य वृद्धि को प्राप्त करता है और न प्रव्रजित ही प्रव्रज्या के क्षेत्र में वृद्धि प्राप्त करता है, वह निश्चय ही असफल होता है, हारता है, पराभव को प्राप्त होता है, इसलिए 'पराभव मुख' 'असफलता का कारण' कहा गया है।

९८. यो मातरं पितरं वा, जिण्णकं गतयोब्बनं।
पहु सन्तो न भरति, तं पराभवतो मुखं॥

"अगर कोई समर्थ रहने पर भी अपने बूढ़े माता-पिता का भरण-पोषण नहीं करता तो यह उसके पराभव का कारण है।"

माता– पैदा करनेवाली को जानना चाहिए।

पिता– पैदा करने वाले को पिता।

जिण्णकं– शारीरिक शिथिलता से जो जीर्ण हो गये हों।

गतयोब्बनं– यौवन अर्थात युवावस्था पार कर अस्सी या नब्बे साल का जो हो गया हो, जो स्वयं काम करने में असमर्थ हो।

पहुसन्तो– समर्थ होकर भी, सुख से जीते हुए भी।

न भरति– पालन पोषण नहीं करता है।

इस गाथा द्वारा माता-पिता का भरण-पोषण न करना, सेवा न करना असफलता का एकमात्र कारण कहा गया है। जो इससे समन्वागत है उसको माता-पिता के भरण-पोषण से मिलनेवाले लाभ नीचे कहे गये हैं।

'उसके द्वारा माता पिता की परिचर्या करने से पंडित उसकी यहां (इस लोक में) प्रशंसा करते हैं और मरणोपरांत वह स्वर्ग में आनंद करता है' (इतिवु० १०६; अ० नि० १.४.६३)। (इस गाथा द्वारा) माता-पिता के भरण-पोषण से जो लाभ बताया गया है, वह प्राप्त नहीं करता, निश्चय ही 'माता-पिता का भरण-पोषण जो नहीं करता, वह दूसरे का क्या करेगा' निंदा, वर्जयिता तथा दुर्गति प्राप्त करते हुए असफल होता ही है, इसलिए 'पराभव का कारण' कहा जाता है।

१००. यो ब्राह्मणं समणं वा, अञ्ञं वा पि वनिब्बकं।
मुसावादेन वञ्चेति, तं पराभवतो मुखं॥

"अगर कोई झूठ बोलकर किसी ब्राह्मण या श्रमण को या किसी भी अन्य भिक्षु या राहगीर को ठगता है तो यह भी उसके पराभव का कारण है।"

पापों को बहा देने के कारण **ब्राह्मणं,** शमित होने के कारण **समणं**। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण भी ब्राह्मण और प्रव्रजित होने से श्रमण। उसके बाद **अञ्ञं वापि–** जो कोई याचक हो।

मुसावादेन वञ्चेति– 'भंते, कहिये किस प्रत्यय की आपको आवश्यकता है' ऐसा पूछ उनको निमंत्रित कर तथा उनको प्रत्यय देने को कह कर, सहमत होकर भी पीछे अल्पदान अर्थात तुच्छ दान देकर उनकी उस आशा पर पानी फेर देता है, बातों से ठग लेता है। इस गाथा द्वारा ब्राह्मण आदि को झूठ बोल कर ठगने को पराभव का, असफलता का एक कारण बताया गया है। इससे समन्वागत (अर्थात ऐसा झूठ बोलनेवाला) इस लोक में निंदित होता है और परलोक में दुर्गति पाता है तथा स्वर्ग में जाने पर भी जो चाहता है वह नहीं पाता। यह कहा गया है– जो दुःशील है, शील विपन्न है, उसकी निंदा (पापमय कीर्ति शब्द) दूर-दूर तक फैलती है। (दी० नि० २.१४९; अ० नि० २.५.२१३; महाव० २८५) वैसे ही 'भिक्षुओ, चार धर्मों से समन्वागत व्यक्ति नरक में फेंकने के लिए ही लाया गया है अर्थात वह निश्चय ही नरक जाता है। कौन से चार? जो झूठ बोलता है आदि (अ० नि० १.४.८२)। वैसे ही, 'सारिपुत्त, यहां कोई श्रमण या ब्राह्मण के पास जाकर निमंत्रण देता है और पूछता है भंते, आपको किस प्रत्यय की आवश्यकता है, कहिये' और जिस प्रत्यय को देने के लिए निमंत्रित करता है वह नहीं देता है। यदि वह लोक से च्युत होकर यहां आता है, तो वह जो-जो व्यापार करता है, जिस-जिस व्यापार में अपने को लगाता है, वह व्यापार ही चौपट हो जाता है। सारिपुत्त, यहां कोई...पे०... वह जिस प्रत्यय को देने के लिए निमंत्रित करता है वह इच्छानुसार नहीं देता है। अगर वह वहां से च्युत हो यहां आता है तो वह यहां जो-जो व्यापार करता है, जिस-जिस व्यापार में अपने को लगाता है, वह उसकी इच्छा के अनुसार लाभ नहीं देता" (अ० नि० १.४.७९)

इस प्रकार इन निंदा आदि को प्राप्त करते हुए असफल होता है, इसलिए 'पराभव का कारण' कहा गया है।

१०२. पहूतवित्तो पुरिसो, सहिरञ्ञो सभोजनो।
एको भुञ्जति सादूनि, तं पराभवतो मुखं॥

"व्यक्ति जिसके पास प्रभूत मात्रा में धन है, सुवर्ण है, खाद्य सामग्री है, अकेले ही स्वादिष्ट भोजन करता है। यह उसकी असफलता का कारण है।"

पहूतवित्तो– प्रभूत मात्रा में सोना, चांदी तथा मणि रत्न से संपन्न होना,

सहिरञ्ञो– जिसके पास प्रभूत कार्षापण हो,

सभोजनो– अनेक प्रकार के सूप, व्यञ्जन समन्वित भोजनवाला।

एको भुञ्जति सादूनि– स्वादिष्ट भोजन अपने बेटे को भी न देकर, छिपकर, खाता है, अकेले ही स्वादिष्ट भोजन करता है। इस गाथा द्वारा भोजन लोलुपता तथा भोजन मात्सर्य असफलता का, पराभव का कारण कहा गया है। इनसे समन्वागत व्यक्ति निंदा तथा दुर्गति पाता है, लोग उसके साथ रहना पसंद नहीं करते और ऐसा व्यक्ति हार जाता है, असफल होता है, इसलिए इसे पराभव का कारण कहा गया है। कहे गये की तरह सुत्तानुसार सबकी योजना करनी चाहिए। अति विस्तार भय से योजना नय को न दिखाकर अर्थ मात्र ही हम कहेंगे।

१०३. जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।
सञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥

"अगर कोई व्यक्ति जन्म, धन तथा गोत्र के कारण घमंडी होकर अपने संबंधी की अवमानना करता है तो यह उसकी असफलता का, पराभव का कारण है।"

जातित्थद्धो का अर्थ वह व्यक्ति है जो अपने को जाति संपन्न मानता है अर्थात अपने को उच्चकुल में जनमा समझता है तथा ऐसा सोचकर घंमडी हो जाता है और हवा से भरे थैले की तरह फूलकर झुकता नहीं है। इसी तरह धन तथा गोत्र के अभिमान से भर उठता है।

सञ्ञातिं अतिमञ्ञेति– अपने संबधी को घृणा की दृष्टि से देखता है, उसकी अवमानना करता है जैसे शाक्य विटटूभ की करते थे। 'यह कृपण है, दरिद्र है' ऐसा कह धन की दृष्टि से भी अवमानना करते हैं, उचित सम्मान नहीं देते हैं। (इस कारण) वे संबंधी उसकी पराजय, हानि, चाहते हैं। इस गाथा द्वारा वस्तु के दृष्टिकोण से चार प्रकार के, किंतु लक्षण से एक ही कारण पराभव का कहा गया है।

१०४. इत्थिधुत्तो सुराधुत्तो, अक्खधुत्तो च यो नरो।
लद्धं लद्धं विनासेति, तं पराभवतो मुखं॥

"अगर कोई औरत के पीछे पड़ा रहता है, मादक द्रव्य पीता है, तथा जुआ खेलता और उसने जो धन कमाया, उसको इन तीनों में उड़ाता है तो यह उसके पराभव का कारण है।"

इत्थिधुत्तो– स्त्रियों में अनुरक्त (रत), आसक्त। जो कुछ उसके पास है, वह सब देकर एक के बाद दूसरी स्त्री का संग्रह करता है। उसी प्रकार अपने पास जो धन है वह सब देकर सुरापान कर प्रमत्त हो जाता है। अतः **सुराधुत्तो–** पहना हुआ कपड़ा भी दांव पर लगाकर जुआ खेलने में जो लगा है वह **अक्खधुत्तो** है। इन तीन कारणों से, जो कुछ भी उसको लाभ होता है, वह पाकर नष्ट करता है– जानना चाहिए। इस प्रकार वह असफल ही होता है। इसलिए इस गाथा में ये तीन प्रकार के पराभव के कारण कहे गये हैं।

१०५. सेहि दारेहि असन्तुट्ठो, वेसियासु पदुस्सति।
दुस्सति परदारेसु, तं पराभवतो मुखं॥

"अपनी पत्नी से असंतुष्ट, वह वेश्याओं के पास जाता है, दूसरे की पत्नियों के पास जाता है। यह पराभव का कारण है।"

सेहि दारेहि– अपनी पत्नी से। जो अपनी पत्नी से असंतुष्ट हो वेश्याओं के पास जाता है, **वेसियासु पदुस्सति**। उसी तरह **परदारेसु–** वह दूसरे की पत्नियों के पास जाता है। चूंकि वेश्याओं को धन देकर, परस्त्री गमन से राज दंड आदि पाकर पराभव अनुभव करता है, हारता है, इसलिए इस गाथा में उसके पराभव के इन दो कारणों को बताया है।

११०. अतीतयोब्बनो पोसो, आनेति तिम्बरुत्थनिं।
तस्सा इस्सा न सुपति, तं पराभवतो मुखं॥

"बूढ़ा होकर भी ऐसी पत्नी लाता है जिसके पयोधर तिम्बरु फल की तरह हैं। उसके प्रति ईर्ष्यालु होकर वह (रात को) सो नहीं पाता। यह उसके पराभव का कारण है।"

अतीतयोब्बनो– युवावस्था को पारकर अस्सी या नब्बे वर्ष का होकर, **आनेति–** लाता है, परिग्रहण करता है, **तिम्बरुत्थनिं–** तिम्बरुफल सदृश स्तनवाली तरुण दारिका। **तस्सा इस्सा न सुपति–** युवती को वृद्ध के साथ रतिक्रीड़ा या संवास अच्छा नहीं लगता, प्रियकर नहीं होता। मैं चाहता हूं वह किसी तरुण की इच्छा न करे, इस ईर्ष्या से उस पर नजर रखते हुए वह नहीं सोता है। वह चूंकि कामाग्नि तथा ईर्ष्याग्नि से जलते हुए बाहर के काम में अपने को न लगाकर असफल होता ही है, इसलिए इस गाथा द्वारा ईर्ष्या से न सोने की बात को पराभव का कारण कहा गया है।

११२. इत्थिं सोण्डिं विकिरणिं, पुरिसं वापि तादिसं।
इस्सरियस्मिं ठपेति, तं पराभवतो मुखं॥

"वह उस स्त्री को जो मांस मछली खाने का लोभी है, तथा इन चीजों को प्राप्त करने के लिए जो धन को धूल की तरह उड़ानेवाली है अर्थात पानी की तरह बहानेवाली है, नाश करनेवाली है तथा उसी तरह के पुरुष को, अधिकार देकर राज-काज चलाने के लिए बैठाता है– यह उसके पराजय का कारण है।"

सोण्डिं– मांस या मछली के प्रति लोभ रखनेवाली, लालची।

विकिरणिं– उसके लिए धन को धूल समझकर उड़ानेवाली, नाश करनेवाली।

पुरिसं वापि तादिसं– और जो पुरुष इसी तरह का है उसको जो अधिकार संपन्न कर, सील (मोहर) तथा मुद्रिका आदि देकर घर के काम में या बाहर व्यापार आदि के काम में अधिकृत करता है, वह चूंकि अपने दोष से धन का क्षय प्राप्तकर हारता है, पराभूत होता है, इसलिए इस गाथा द्वारा उसको इस प्रकार अधिकार सौंपने को पराभव का कारण कहा गया है।

११४. अप्पभोगो महातण्हो, खत्तिये जायते कुले।
सो च रज्जं पत्थयति, तं पराभवतो मुखं॥

"कम धनवाला किंतु खूब तृष्णा करनेवाला क्षत्रिय कुल में पैदा होता है। वह संसार में राजा बनना चाहता है, राज्य प्राप्त करना चाहता है। यह भी उसके पराभव का कारण है।"

अप्पभोगो– संचित धन के स्रोत का जिसके पास अभाव हो।

महातण्हो– जो महती भोग-तृष्णा से समन्वागत हो। जो प्राप्त करे, उससे असंतुष्ट रहनेवाला।

खत्तिये जायते कुले– क्षत्रिय के कुल में जन्म लेता है।

सो च रज्जं पत्थयति– वह इस महातृष्णा से गलत ढंग से अपने दायाद के रूप में, अनुचित उपाय से जो क्रम विरुद्ध है, असंभव है उस दूसरे राज्य की दायाद स्वरूप कामना करता है। वह ऐसी कामना करते हुए चूंकि अपने पास जो थोड़ा धन है उसे योद्धाओं को, रण में लड़नेवाले सिपाहियों को देकर राज्य नहीं प्राप्तकर पराभूत होता है। इसलिए इस गाथा द्वारा उसकी इस राज्य कामना को पराभव का एक कारण कहा गया है।

इसके बाद यदि वह देवता ऐसा कहते कि 'असफलता का तेरहवां कारण भगवान कहें, ...पे०... और एक लाखवां कारण भगवान कहें तो उसे भी भगवान कहते। चूंकि देवता यह देखकर कि 'ऐसा पूछने से क्या लाभ? क्या एक भी कारण वृद्धि करनेवाला नहीं है?' और ऐसा सोच उन पराभव के कारणों को न सुनते हुए, उन पर ध्यान न देते हुए, इतना ही पूछकर अफसोस करते हुए चुप हो गया। इसलिए भगवान ने उसके आशय को जानकर देशना समाप्त करते हुए **'एते पराभवे लोके'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

११५. एते पराभवे लोके, पंडितो समवेक्खिय।
अरियो दस्सनसम्पन्नो, स लोकं भजते सिवन्ति॥

"संसार में अवनति के इन कारणों को देख, जो पंडित हैं, बुद्धिमान हैं आर्यदर्शनसंपन्न हैं, वह इस आनंदमय लोक में रहने लगता है।"

यहां **पंडितो–** पूरी तरह खोज-बीन करने की शक्ति से समन्वागत व्यक्ति।

समवेक्खिय– प्रज्ञा-चक्षु से ठीक से परीक्षा करके।

अरियो– न मार्ग से, न फल से बल्कि पराभव रूपी पापाचार जो नहीं करते वह आर्य है। जिस दर्शन से, जिस प्रज्ञा से पराभव को देख त्यागता है, उस दर्शन तथा प्रज्ञा से संपन्न होने के कारण **दस्सनसम्पन्नो। स लोकं भजते सिवं–** वह इस प्रकार के मंगलमय, उत्तम क्षेमवाला उपद्रव रहित देवलोक को भजता है, वहां जाता है, उसीकी कामना करता है– यह कहा गया है। देशना के अंत में पराभव के कारणों को सुन उत्पन्न संवेग के अनुरूप ध्यान से सुनकर, कितने देवताओं ने श्रोतापत्ति, सकदागामी तथा अनागामी फल को पाया– इसकी गणना में देवताओं ने कितने समय बिता दिये। जैसे कहा गया है– महासमयसुत्त, मङ्गलसुत्त, समचित्तसुत्त, राहुलोवादसुत्त, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त तथा पराभवसुत्त कहे जाने के अवसरों पर असंख्य, अप्रमेय देवता एकत्र हुए। उन अवसरों पर जिन देवताओं ने ज्ञान प्राप्त किया, उनकी गणना असंख्य है।

पराभवसुत्तवर्णना समाप्त।

७. अग्गिकभारद्वाजसुत्तवर्णना

एवं मे सुतं से प्रारंभ होनेवाला सुत्त अग्गिक भारद्वाज सुत्त है। इसे **'वसलसुत्त'** भी कहते हैं। इसकी क्या उत्पत्ति है?

भगवान श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे। **कसिभारद्वाज सुत्त** में कहे गये की तरह भोजन करने के बाद बुद्धचक्षु से लोक को देखते हुए अग्गिक भारद्वाज ब्राह्मण को शरण में जाने तथा शिक्षापदों को ग्रहण करने की उपनिश्रय संपत्ति से संपन्न देखकर 'वहां मेरे जाने पर बातचीत होगी और बातचीत के अंत में मेरी धर्म देशना सुन यह ब्राह्मण शरण में आकर शिक्षापदों को ग्रहण करेगा' ऐसा जानकर, वहां गये तथा बातचीत समाप्त होने के बाद ब्राह्मण द्वारा धर्म देशना की याचना करने पर यह सुत्त कहा। **'एवं मे सुतं'** आदि की व्याख्या **मंगलसुत्त** वर्णन करते समय करेंगे। **"अथ खो भगवा पुब्बण्हसमय"**न्ति आदि की व्याख्या जैसे कसिभारद्वाजसुत्त में की गयी है वैसे जानना चाहिए।

तेन खो पन समयेन अग्गिकभारद्वाजस्स– जो-जो पहले नहीं कहा गया है, उस-उस का यहां वर्णन करेंगे। जैसे– वह ब्राह्मण आग में हवन करते थे, आग की पूजा करते थे– यह तो उनके अग्गिक नाम से ही स्पष्ट है, गोत्र से वे भारद्वाज थे। इसलिए **अग्गिक भारद्वाजस्स** अर्थात 'अग्गिक भारद्वाज का' कहा गया है।

निवेसने– घर में। उस ब्राह्मण के घर के द्वार पर बीच सड़क पर अग्निहोत्र शाला थी। 'घर के द्वार पर' कहने पर उस प्रदेश की घर से अत्यंत समीपता के कारण 'घर में' ऐसा कहा गया है। समीप अर्थ में सप्तमी का प्रयोग है, घर के समीप– यह अर्थ है। **अग्गि पज्जलितो होति–** अग्नि आधान में स्थित आग समिधा पाकर, पंखे की हवा पाकर जल उठती थी और ऊपर उठती लौ से समाकुल (भर) हो जाती थी।

आहुति पग्गहिता– सिर से स्नान कर बहुत सत्कार के साथ खीर, घी, मधु तथा गुड़ आदि तैयार किये, मिलाये गये जो कुछ भी आग में डाली जाय, हवन के तौर पर डाली जाय, आहुति कही जाती है।

सपदानं– प्रत्येक घर में, घर छोड़-छोड़ कर नहीं। भगवान सभी लोगों पर अनुग्रह करने के लिए तथा आहार संतुष्टि से ऊँच, नीच कुल में जाकर भिक्षा मांगते हैं। इसलिए 'घर-घर में भिक्षा मांगते हुए' कहा गया है।

अब क्या कारण है कि सभी गुणों से संपन्न, सबको प्रसन्न करनेवाले भगवान को देखकर ब्राह्मण का चित्त प्रसन्न नहीं हुआ, क्यों उसने भगवान को कठोर वचन कहे?

कहा जाता है– इस ब्राह्मण का मानना था कि 'मंगल कर्म करते समय श्रमण का दर्शन अमंगलकारी है', उसके बाद 'महाब्रह्मा की भोजन वेला में यह काला-कलूटा मथमुंडा श्रमण मेरे घर में आया है' ऐसा सोचकर उसका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ, (सोचा) निश्चय ही द्वेष के कारण आया है। इसलिए क्रोधित

होकर, असंतुष्ट होकर, **'तत्रेव मुण्डक–** ओ मथमुंडे, वहीं रुको' ऐसा अप्रिय वचन कहा। फिर भी चूंकि ब्राह्मणों का यह मानना है कि 'मथमुंडे अशुद्ध (अशुभ) होते हैं', इसलिए 'यह अशुद्ध है, इसलिए देव ब्राह्मण को नहीं पूजता है' ऐसा कह घृणा करते हुए 'मथमुंडा' कहा। ऐसा मथमुंडा होना उच्छिष्ट है, इस जगह (हवन करने के स्थान पर) आने योग्य नहीं है, इस प्रकार के शारीरिक दोष के साथ श्रमण की वह प्रशंसा नहीं करता है और श्रमण भाव को घृणा की दृष्टि से देखते हुए **समणक** अर्थात श्रमणक 'घटिया श्रमण' कहा। न केवल द्वेष के कारण ही, बल्कि वृषलों को प्रव्रजित कर उनके साथ रहने तथा खान-पान करने से पतित हुआ यह व्यक्ति वृषल से भी नीच है, पापी है अतः घृणा करते हुए **'वसलक'–** अर्थात 'घटिया वृषल' कहा। 'वृषल जाति के लोगों द्वारा, चांडालों द्वारा आहुति देखा जाना, आहुति का मात्र सुना जाना भी' पाप होता है– मानते हुए ऐसा कहा।

ऐसे कहे जाने पर भी भगवान ने प्रसन्न मुख से ही ब्राह्मण के ऊपर अनुकंपा शीतल चित्त से मधुर स्वर में, सभी प्राणियों में वे आसाधरण हैं– अपने इस भाव को प्रकाशित करते हुए **'जानासि पन त्वं ब्राह्मण'** (ब्राह्मण, क्या तुम जानते हो?) कहा।

अब ब्राह्मण ने भगवान के मुख पर प्रसन्नता व्यक्त करनेवाले भाव को देखा, अनुकंपा, शीतल हृदय से निकाले गये मधुर स्वर को सुना और उसका हृदय अमृत से अभिषिक्त हुआ। प्रसन्न हो चमकते चेहरे से विनम्र हो (दर्प छोड़कर) अपनी जाति के अनुकूल विष उगलनेवाले बोली-व्यवहार को छोड़कर "निश्चय ही जिसको मैं नीचकुल में जनमा, चांडाल समझता हूं, वह परमार्थतः वृषल (चांडाल) नहीं है, नीच कुल में जन्म लेना चांडाल होने का कारण नहीं है' ऐसा सोचकर **'न ख्वाहं भो गोतम–** अर्थात हे गौतम, मैं नहीं जानता' कहा। ऐसी धर्मता है कि जो हेतुसंपन्न है, वह कठोर होते हुए भी प्रत्यय के उपलब्ध होते ही प्रत्यय के लाभ से मृदुल हो जाता है, कोमल हो जाता है।

यहां– **साधु** शब्द का अर्थ याचना, सम्पटिच्छन्न (स्वीकार करना, 'अच्छा' साधु कहना), सुंदर तथा दृढ़ करना आदि है। 'भगवान, आप संक्षेप में धर्म देशना करें' (सं० नि० २.४.९५; अ० नि० २.७.८३)आदि वाक्य में 'साधु' शब्द का प्रयोग याचना करने के अर्थ में है।

'भंते, बड़ा अच्छा हुआ! उस भिक्षु ने भगवान की बात का अभिनंदन कर, अनुमोदन कर (मं० नि० ३.८६) आदि में सहमति जताने में। 'अच्छा, सारिपुत्त, खूब अच्छा सारिपुत्त' (दी० नि० ३.३४९) आदि में प्रसन्नता के अर्थ में।

"धर्म में रुचि रखनेवाला राजा सुंदर है, सुंदर है वह मनुष्य जो प्रज्ञावान है अर्थात जिसका लक्षण प्रज्ञा है, सुंदर है वह जो मित्रों को धोखा नहीं देता, चोट नहीं पहुंचाता और पापमय कर्म न करना सुख है' (जा० २.१८.१०१) आदि में सुंदर अर्थ में। 'उसे सुनो, ठीक से मन में लाओ' (म० नि० १.१) आदि में दृढ़ करने के अर्थ में। यहां इसका अर्थ याचना करना है।

तेन हि– उसका अभिप्राय बताना है, यदि जानने की इच्छा रखते हो। यह कारण वचन है चूंकि सुनना चाहते हो, इसलिए, ब्राह्मण, सुनो, ठीक से ध्यान देकर धारण करो। वैसा ही तुमको कहूंगा जैसा तुम जान सकोगे, समझ सकोगे– इस प्रकार दूसरे पदों के साथ संबंध जानना चाहिए। यहां **सुणाहि–** श्रवणेंदिय में जो विक्षेप हो उसको दूर करने की बात कही गयी है; **साधुकं मनसि करोहि–** मन को

दृढ़तापूर्वक लगाकर मनेंद्रिय के विक्षेप को हटाने, दूर करने की बात कही गयी है। पहले से शब्दों को, जो शब्द कहे गये हैं, ठीक-ठीक सुनना अर्थात ठीक-ठीक न सुनने में जो बाधा आती है उसे दूर करना, और दूसरे से उल्टा अर्थ न समझना बल्कि उल्टा अर्थ जिस कारण समझा जाता है उसका वारण करना कहा गया है। पहले से धर्म श्रवण में नियोजित किया जाता है, बाद में सुने हुए धर्मों को धारण करने के लिए परीक्षण आदि में पहले से, 'यह धर्म सव्यंजन है, इसलिए मन में धारण करने योग्य है' बताया गया है; दूसरे से 'यह सार्थक है, इसलिए मन में धारण करने योग्य है, 'यह बताया गया है। 'साधुकं' पद को दोनों पदों से जोड़कर 'चूंकि यह धर्म, धर्म-गंभीर और देशना-गंभीर दोनों है– इसलिए ठीक से, ध्यान देकर सुनो। चूंकि यह अर्थ गंभीर और प्रतिवेधन में गंभीर है, इसलिए ठीक से मन में धारण करो– इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए **"सुणाहि साधुकं मनसि करोही"**ति कहा।

उसके बाद 'इस गंभीर धर्म में मैं कैसे प्रतिष्ठा पाऊंगा' अर्थात इसको समझने के लिए मेरा क्या सहारा होगा सोचकर हताश होते हुए (उस) ब्राह्मण को उत्साहित करते हुए 'कहूंगा' कहा। यहां 'जैसे तुम समझोगे, उसी तरह सुष्ठु पदों एवं शुद्ध भाषा द्वारा, अच्छी तरह स्पष्ट कर कहूंगा' ऐसा अभिप्राय है– यह जानना चाहिए। तब उत्साहित होकर **"एवं भो"ति खो अग्गिक भारद्वाजो ब्राह्मणो पच्चस्सोसि–** ऐसा ही हो, अग्गिक भारद्वाज ब्राह्मण ने स्वीकार किया, सहमति जतायी– ऐसा कहा गया। बुद्ध द्वारा दी गयी शिक्षा के अनुसार मार्ग पर अभिमुख हो 'हां' कहा। अब उसको 'भगवान ने ऐसा कहा' के साथ अब जो कहा जायगा उसके साथ मेलकर **"कोधनो उपनाही"**ति आदि कहा गया।

११६. कोधनो उपनाही च, पापमक्खी च यो नरो।
विपन्नदिट्ठि मायावी, तं जञ्ञा वसलो इति।

"जो क्रोधी है, द्वेषी है, दुष्ट है, ईर्ष्यालु दृष्टि रखनेवाला है, मायावी है, उसी को वृषल (चांडाल) समझो।"

यहां **कोधनो–** क्रुद्ध होनेवाला।

उपनाही– उस क्रोध को दृढ़ करके ईर्ष्या से जो समन्वागत है।

दूसरे के गुण को जो ढंकता है, पोंछ कर समाप्त कर देता है, वह दूसरे के गुण का अवमूल्यन करनेवाला है। अतः **पापमक्खी** है।

विपन्नदिट्ठि– अर्थात जिसकी सम्यक दृष्टि विनष्ट हो गयी है, विनष्ट होने से विहत रूप होकर दस वस्तुओं में जिसकी मिथ्या दृष्टि है।

मायावी– अपने में विद्यमान दोष को ढंकने के लक्षणवाली माया से समन्वागत।

तं जञ्ञा वसलो इति– इस प्रकार के व्यक्ति को, ऐसे हीन धर्मों को बरसाने से, सिंचित करने से, धारा के रूप में बहाने से उसे वृषल जानो, समझो।

यह परमार्थतः वृषल ही है, अपने ही हृदय को संतुष्ट करना चाहता है, दूसरे का नहीं। इस प्रकार भगवान ने यहां प्रारंभिक पद से ही ब्राह्मण के क्रोध का निग्रह कर 'क्रोध आदि धर्मवाला पुद्गल हीन होता है' व्यक्ति को ध्यान में रख देशना से क्रोध आदि धर्म की देशना करते हुए एक ही पर्याय से

वृषल कौन है तथा वृषलकारक धर्म कौन है– इसका उपदेश किया। इस प्रकार देशना करते हुए 'तुम और मैं' की बात न करते हुए, दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा न कर धर्म के सम्यक ज्ञान से उस ब्राह्मण को वृषल और अपने को ब्राह्मण बताया।

अब जो यह ब्राह्मणों की मान्यता है कि 'कभी-कभार प्राणि हिंसा तथा चोरी करके भी ब्राह्मण ब्राह्मण ही रहता है' वैसी मान्यता को अमान्य कर जो प्राणियों की हिंसा आदि अकुशल धर्मों से समन्वागत हो उनके खतरे को न देखते हुए उन धर्मों को करते हैं। उनके "ये धर्म हीन हैं, वृषलकारक हैं" तथा उनके खतरे को दिखाते हुए दूसरे पर्याय से वृषल तथा वृषलकारक धर्म को बताने के लिए **'एकजं वा द्विजं वा'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

११७. एकजं वा द्विजं वापि, योध पाणं विहिंसति।
यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो इस लोक में प्राणियों की हिंसा करता है, चाहे वह एक बार जनमता है, (जैसे मनुष्य आदि) या दो बार (जैसे पक्षी आदि) जिसको प्राणियों पर दया नहीं है, उसे ही वृषल समझो।"

यहां **एकजो–** अंडज को छोड़ अवशेष योनिज प्राणी। वह एक बार में ही पैदा हो जाता है।

द्विजो अंडज। वह माता के गर्भ से तथा अंडकोष से दो बार जनमता है। उस एक बार में तथा दो बार में जनमे को।

योध पाणं– जो इस लोक में प्राणी को।

विहिंसति– काय द्वार की चेतना तथा वाचसिक द्वार की चेतना के प्रयोग से जीवित ही मार डालता है। **'पाणानि हिंसति'–** यह भी पाठ है। यहां इस लोक में जो एक बार में जनमे (मनुष्य आदि को) तथा दो बार में जनमे (पक्षी आदि को) प्राणियों की हिंसा करता है– यइस प्रकार का संबंध जानना चाहिए। **यस्स पाणे दया नत्थि–** इससे मन में अनुकम्पा के अभाव को कहा है। शेष कहे गये की तरह। इसके बाद की गाथाओं में जो यहां नहीं कहा गया उसका वर्णन करेंगे।

११८. यो हन्ति परिरुन्धति, गामानि निगमानि च।
निग्गाहको समञ्ञातो, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो गांव या शहर को बर्बाद करता है या उन पर घेरा डालता है और जो लोगों को तकलीफ देने में कुख्यात है, उसे ही वृषल समझो।"

हन्ति– नष्ट करता है, विनाश करता है।

परिरुन्धति– सेना से घेरकर वहीं रहता है।

गामानि निगमानि च– यहां 'च' शब्द से 'नगर भी' कहा जाना चाहिए।

निग्गाहको समञ्ञातो– इस तरह नष्ट करने तथा घेरकर रखने से गांव, शहर तथा नगर नाश करनेवाले संसार में जो विदित होते हैं।

११९. गामे वा यदि वा रञ्ञे, यं परेसं ममायितं।
थेय्या अदिन्नमादेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"गांव या जंगल में यदि कोई दूसरे की अभीप्सित वस्तु को चोरी से लेता है तो उसे वृषल समझो।"

गामे वा यदि वा रञ्ञे– यहां गांव के साथ उपचार से गांव, नगर एवं निगम सभी समझे जाते हैं, इन्हें छोड़ शेष जंगल है। उस गांव में या जंगल में **यं परेसं ममायितं–** दूसरों द्वारा परिगृहीत तथा न फेंका गया प्राणी या संसार की कोई और वस्तु।

थेय्या अदिन्नमादेति– उनके द्वारा न दिये जाने पर अनुज्ञात न होने पर चोरी से लेता है, जिस किसी तरीके से या उपाय से जिस या किसी अवहार से[१] ग्रहण करने में, लेने में सफल होता है।

थेय्य– स्तेय, बिना दिये लेना, अपहरण करना।

पसय्ह– जबर्दस्ती लेना।

परिकप्प– छलबल, चालाकी तथा धूर्त्तता से लेना।

पटिच्छन्न– चुपके से, चोरी छिपे लेना।

कुस– ढेर लगी है, उस पर कुस घास डालना। इस तरह छिपाना तथा बाद में लेना।

१२०. यो हवे इणमादाय, चुज्जमानो पलायति।
नहि ते इणमत्थीति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो ऋण लेकर, 'ऋण लौटा दो', कहे जाने पर यह कहकर भाग जाता है कि 'मैंने तुमसे ऋण नहीं लिया' उसे वृषल समझो।"

इणमादाय– अपने धन में से कुछ बचाकर, कुछ न बचाकर "इतने समय में इतनी वृद्धि करके दूंगा; (सूद पर लेकर), 'इससे जो वृद्धि होगी, आमदनी होगी, वह मेरा मूलधन आपका ही होगा", या 'जो आमदनी होगी, वह हम दोनों की होगी' इस प्रकार से गारंटी दे-देकर, ऋण लेकर। **चुज्जमानो पलायति नहि ते इणमत्थि–** उस ऋण देनेवाले से 'मेरा ऋण दो' कहे जाने पर, बार-बार कहे जाने पर 'तुम्हारा कर्ज मैंने नहीं लिया है, मैंने लिया है इसका क्या प्रमाण है' इस प्रकार कहते हुए घर में रहते भी वह भाग जाता है।

१२१. यो वे किञ्चिक्खकम्यता, पन्थस्मिं वजन्तं जनं।
हन्त्वा किञ्चिक्खमादेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो रास्ते में चलते व्यक्ति को मारकर तृष्णा के कारण मामूली चीज को भी ले लेता है, उसे वृषल समझो।"

किञ्चिक्खकम्यता– इच्छा के कारण किसी भी मामूली चीज को। **पन्थस्मिं वजन्तं जनं–** राह चलते किसी पुरुष या स्त्री को, **हन्त्वा किञ्चिक्खमादेति–** मारकर, पीटकर जो उसके पास है वह ले लेता है।

१. पांच तरह के अवहार (चोरी) हैं-- थेय्य, पसय्ह, परिकप्प, पटिच्छन्न तथा कुस।

१२२. अत्तहेतु परहेतु, धनहेतु च यो नरो।
सक्खिपुट्ठो मुसा ब्रूति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो अपने लिए, दूसरे के लिए तथा धन के लिए गवाही देने को कहने पर झूठ बोलता है, उसे वृषल जानना चाहिए।"

अत्तहेतु– अपने जीवन के लिए।

परहेतु– दूसरे के जीवन के लिए।

धनहेतु– अपने या दूसरे के धन के लिए। 'च' कार सर्वत्र अनिश्चितता के अर्थ में।

सक्खिपुट्ठो– 'जो जानते हो, उसे कहो' पूछे जाने पर।

मुसा ब्रूति– जानते हुए भी 'नहीं जानता हूं' तथा न जानते हुए 'जानता हूं' जो कहता है तथा जो असली मालिक है उसको असली मालिक नहीं बताता और जो असली मालिक नहीं है, उसे असली मालिक बनाता है।

१२३. यो ञातीनं सखीनं वा, दारेसु पटिदिस्सति।
साहसा सम्पियेन वा, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो अपने संबंधियों तथा मित्रों की पत्नियों के साथ जबर्दस्ती या उनकी सहमति से दुराचरण करता है, उसे वृषल समझो।"

जातीनं– संबंधियों की,

सखीनं– मित्रों की,

दारेसु– दूसरे द्वारा ग्रहण की गयी पत्नियों के साथ,

पटिदिस्सति– प्रतिकूल आचरण करते दिखाई देता है– यह अर्थ है।

साहसा– बलपूर्वक, इच्छा नहीं रहने पर,

सम्पियेन– उसके द्वारा कामना किये जाते हुए या स्वयं कामना करते या दोनों ओर से स्नेह के कारण– यह कहा गया है।

१२४. यो मातरं पितरं वा, जिण्णकं गतयोब्बनं।
पहु सन्तो न भरति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो योग्य रहने पर अर्थात धन रहने पर भी बूढ़े माता-पिता का भरण-पोषण नहीं करता, उसे वृषल समझो।"

मातरं पितरं– माता-पिता। इस प्रकार जो प्राणी मेत्ता के आसन्न कारण हैं।

जिण्णकं गतयोब्बनं– इस प्रकार जो प्राणी करुणा करने लायक प्राणी हैं।

पहु सन्तो न भरति– धनसंपन्न तथा जीविकासंपन्न होने पर भी भरण-पोषण नहीं करता।

१२५. यो मातरं पितरं वा, भातरं भगिनिं ससुं।
हन्ति रोसेति वाचाय, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो माता-पिता, भाई-बहिन या सास को मारता है, उन्हें क्रोधित करता है, उसे वृषल समझो।"

ससुं– सास को।

हन्ति– हाथ से या ढेले से या अन्य किसी से प्रहार करता है, मारता है।

रोसेति– उसको क्रोधित करता है अर्थात उसमें क्रोध उत्पन्न करता है।

वाचाय– कठोर वचन से।

१२६. यो अत्थं पुच्छितो सन्तो, अनत्थमनुसासति।
पटिच्छन्नेन मन्तेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"क्या मंगलकारी है तथा लाभकारी है? पूछे जाने पर जो अमंगल तथा हानि की बात बताता है और अस्पष्ट रूप से घुमा-फिराकर राय देता है, उसे वृषल समझो।"

अत्थं– या तो इसलोक में या परलोक में या जो कुछ परमार्थतः मंगलकारी हो।

पुच्छितो सन्तो– पूछे जाने पर,

अनत्थमनुसासति– उसके अहित के लिए उपदेश करता है, बताता है।

पटिच्छन्नेन मन्तेति– हितकर बातें कहते हुए भी जैसे वह न समझे इसलिए अप्रकट रूप से ऐसी भाषा का प्रयोग कर बताता है, राय देता है जिससे सुननेवाला ठीक से न समझ सके अर्थात आचार्यमुष्टि रखकर, बहुत दिनों तक अपने साथ रखकर अंत में बताता है पर सब कुछ नहीं बताता, कुछ हाथ में रखकर बताता है।

१२७. यो कत्वा पापकं कम्मं, मा मं जञ्ञा ति इच्छति।
यो पटिच्छन्नकम्मन्तो, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो अकुशलकर्म करके भी यह नहीं चाहता कि कोई उसके इस काम को जाने और जो अपने किये को छिपा लेता है उसे वृषल समझो।"

यो कत्वा– यहां पूर्वभाग में मेरे द्वारा जो पापेच्छता के बारे में कहा गया है 'यहां कोई कायिक, वाचसिक तथा मानसिक दुष्कर्म करके, उसको छिपाने के लिए बुरा संकल्प करता है और यह इच्छा करता है कि मेरे दुष्कर्म को कोई न जाने।' जैसे दूसरा न जाने, वैसे ही किये हुए और ढंके हुए उसके कर्म हैं– वह **पटिच्छन्नकम्मन्तो**।

१२८. यो वे परकुलं गन्त्वा, भुत्वान सुचिभोजनं।
आगतं नप्पटिपूजेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो दूसरे के घर जाकर पवित्र भोजन कर लेता है, परंतु आने पर उसकी इज्जत नहीं करता है, उसे वृषल समझो।"

परकुलं– संबंधी के घर या मित्र के घर में।

आगतं– जिसने उसे खिलाया, उसके अपने घर आने पर भोजन पानी आदि से,

नप्पटिपूजेति– भोजन पानी नहीं देता है, या जूठा देता है– यह अभिप्राय है।

१२९. यो ब्राह्मणं समणं वा, अञ्ञं वा पि वनिब्बकं।
मुसावादेन वञ्चेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो झूठ बोलकर ब्राह्मण, श्रमण या किसी याचक को ठगता है, उसे वृषल समझना चाहिए। (यो ब्राह्मणं वा ति **पराभव सुत्त** में इसका वर्णन किया गया है।)"

१३०. यो ब्राह्मणं समणं वा, भत्तकाले उपट्ठिते।
रोसेति वाचा न च देति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"भोजन काल के उपस्थित होने पर अपनी वाणी से ब्राह्मण या श्रमण को क्रोधित करता है और (भोजन) नहीं देता, उसे वृषल समझो।"

भत्तकाले उपट्ठिते– भोजन काल आने पर। **'उपट्ठितं'** भी पाठ है, भोजन के समय आनेवाले को– यह अर्थ है।

रोसेति वाचा न च देति– 'यह मेरे हित के लिए है, मुझसे पुण्य कराने के लिए जबर्दस्ती आ गया है' ऐसा न सोच अनुचित कठोर वचन कह क्रुद्ध करता है, यहां तक कि सामने होने पर भी पहचानता नहीं, भोजन देने की बात तो दूर रही। यह अभिप्राय है।

१३१. असतं योध पब्रूति, मोहेन पलिगुण्ठितो।
किञ्चिथवं निजिगीसानो, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"मोहग्रसित हो, मामूली चीज प्राप्त करने की इच्छा से वह जो कहता है जो कभी घटा नहीं, जो असत्य बोलता है, तो उसे वृषल समझो।"

असतं योध पब्रूति– जो यहां यह कहता है कि ऐसा निमित्त या शकुन प्रकट हो रहा है कि 'अमुक दिन तुमको ऐसा-ऐसा होगा'– इस प्रकार असज्जनों की बात कहता है तो उसे वृषल जानना चाहिए। 'असन्तं' भी पाठ है। 'असत्य' अर्थ है।

पब्रूति– बोलता है 'अमुक गांव में मेरा ऐसा घर है, ऐसी संपत्ति है, आओ, वहां चलें, मेरी गृहिणी बनोगी– ऐसा-ऐसा तुम्हें दूंगा' ऐसा कह दूसरे की पत्नी को तथा दासी को ठगते हुए धूर्त की तरह।

निजिगीसानो– चाहते हुए, खोजते हुए, उसको ठगकर जो कुछ है उसे लेकर भाग जाने की इच्छावाला यह अभिप्राय है।

१३२. यो चत्तानं समुक्कंसे, परे च मवजानाति।
निहीनो सेन मानेन, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो घमंडी होने के कारण स्वयं घटिया आदमी है, छोटा है, वह आत्म प्रशंसा करता है और दूसरे की अवमानना करता है– वैसे को वृषल समझो।"

यो चत्तानं– जो अपने को।

समुक्कंसे– जन्म आदि के कारण अपनी प्रशंसा करता है, उच्च स्थान पर अपने को रखता है।

परे च मवजानाति– उस कारण दूसरे की अवमानना करता है, नीच समझता है। म'कार यहां पदसंधि कारक है।

निहीनो– गुणवृद्धि से परिहीन, जिसने अधमभाव प्राप्त कर लिया है।

सेन मानेन– उस आत्मप्रशंसा एवं दूसरों की घृणा करने के कारण अपने घमंड से।

१३३. रोसको कदरियो च, पापिच्छो मच्छरी सठो।
अहितको अनोत्तप्पी, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो दूसरे को क्रोधित करता है, कदर्य (कंजूस) है, दुर्गुण से समन्वागत है, दूसरे की बुराई चाहता है, पाप इच्छा बढ़ानेवाला है, शठ है, लज्जाहीन है और गलत काम कर जो पश्चात्ताप नहीं करता उसे वृषल समझो।"

रोसको– कायिक तथा वाचसिक कर्म से दूसरे को क्रुद्ध करनेवाला।

कदरियो– जिसमें मात्सर्य है, जो दूसरे को देते देकर या पुण्य करते देख वारण करता है, मना करता है- उसका यह पर्याय है, अधिवचन है।

पापिच्छो– असंत गुण उत्पन्न करने की इच्छा से जो समन्वागत हो।

मच्छरी– आवास आदि में स्वार्थी होना।

सठो– असंत, उसके गुण प्रकाशन के लक्षण से, शठता से जो समन्वागत है, जो ठीक वाणी, सम्यक वाणी नहीं बोलता है– नहीं करने की इच्छावाला होकर भी 'करता हूं' आदि वचन से युक्त।

पाप को घृणा की दृष्टि से देखनेवाला, ह्री जिसके पास नहीं है; शूली पर चढ़े भी गलत काम करने के लिए जिसे पश्चात्ताप न हो, जिसको कोई उद्वेग न हो वह **अहिरिको अनोत्तप्पी** है।

१३४. यो बुद्धं परिभासति, अथवा तस्स सावकं।
परिब्बाजं गहट्ठं वा, तं जञ्ञा वसलो इति॥

"जो बुद्ध या उनके श्रावक को या किसी परिव्राजक या गृहस्थ को गाली देता है, उसे वृषल समझो।"

बुद्धं– सम्यक संबुद्ध को।

परिभासति– 'असर्वज्ञ' आदि शब्दों से गाली देता है,

सावकं– श्रावक को 'ठीक मार्ग पर नहीं चल रहा है' आदि शब्दों से गाली देता है।

परिब्बाजं गहट्ठं वा– प्रव्रजित को तथा उसके शिष्य को जो गृहस्थ हो या प्रत्ययदायक हो उसे श्रावक ही कहता है। अधार्मिक को या परिव्राजक को या जिस किसी गृहस्थ को गलत आरोप लगाकर गाली देता है– इस प्रकार का अर्थ यहां प्राचीन काल के लेखक करना चाहते हैं।

१३५. यो वे अनरहं सन्तो, अरहं पटिजानाति।
चोरो सब्रह्मके लोके, एसो खो वसलाधमो॥

"वस्तुतः जो अर्हत न होकर अपने को अर्हत कहता है वह ब्रह्मासहित इस लोक में चोर है, वह वास्तव में वृषलों में भी वृषल है, अधम है।"

अनरहं सन्तो– अक्षीणाश्रव होते हुए।

अरहं पटिजानाति– 'मैं अर्हत हूं ऐसा कहता है जैसे उसको लोग ऐसा जानें कि यह अर्हत है' वैसी ही वाणी बोलता है, शरीर से वैसे ही पराक्रम करता है, चित्त से वैसी ही इच्छा करता है, वैसा ही स्वीकार करता है।

चोरो– चोर।

सब्रह्मके लोके– उत्कृष्टता दिखाने के लिए कहा– सभी लोकों से तात्पर्य है। लोक में चोर उसको कहते हैं जो सेंध मार कर घर में घुसे, लूट पाट करे, चोरी करे, जो रास्ते में घात लगाकर बैठा रहे, दूसरे के धन को लूटने के लिए, वे ही चोर कहलाते हैं। बुद्ध शासन में संघ की संपत्ति आदि तथा चार प्रत्ययों आदि को लूटनेवाला चोर कहा जाता है। जैसे कहा–

"भिक्षुओ, इस लोक में पांच प्रकार के चोर पाये जाते हैं। कौन-से पांच? भिक्षुओ, एक प्रकार के चोर के मन में ऐसा होता है 'कब मैं एक सौ या हजार से परिवारित हो गांवों, शहरों तथा राजधानियों में (लोगों को) मारते हुए, कत्ल करते हुए, काटते हुए, कटवाते हुए, आग में पकाते हुए, पकवाते हुए घूमूं?' वह बाद में ऐसा ही करता है। इसी प्रकार, भिक्षुओ, किसी पापी भिक्षु के मन में ऐसा ही होता है, 'कब मैं एक सौ या एक हजार से परिवारित हो... राजधानियों में सत्कृत होते, सम्मानित होते, आदृत होते, पूजित होते, गृहस्थों तथा प्रव्रजितों से मिलनेवाले चीवर आदि आवश्यकताओं को लाभ करने के लिए घूमूं? बाद में वह ऐसा ही करता है। भिक्षुओ, इस प्रकार का महाचोर है इस संसार में।

"फिर, भिक्षुओ यहां कोई पापी भिक्षु तथागत द्वारा प्रवेदित धर्म विनय का भलीभांति अध्ययन कर यह बताता है कि वह उसका है, भिक्षुओ! यह दूसरे प्रकार का महाचोर है इस लोक में।

"फिर भिक्षुओ, यहां कोई पापी भिक्षु शुद्ध ब्रह्मचर्य का जीवन जीते, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए घटिया किस्म के ब्रह्मचर्य से उसका नाश करता है। भिक्षुओ, यह तीसरे प्रकार का महाचोर है इस लोक में।

"फिर भिक्षुओ, यहां कोई पापी भिक्षु संघ की वस्तुओं को, कीमती आवश्यकताओं को जैसे

आराम, आरामभूमि, विहार, विहारभूमि, वस्तुएं, मंच, पीठ, गद्दा, तकिया, गागर, लोहे का बक्सा, लोहे का घड़ा, लोहे की कड़ाही, वसूला, फरसा, कुल्हाड़ी, कुदाल, छैनी, तथा, बांस, मूंज, एक प्रकार का बांस, घास, मिट्टी, लकड़ी का बर्त्तन, मिट्टी का बर्त्तन– इनसे गृही बंधन संग्रह करता है, गृहबंधन में बंधने के लिए प्रेरित होता है। यह चौथे प्रकार का महाचोर है, इस संसार में।

"भिक्षुओ, देवसहित इस लोक में देवों तथा मनुष्यों में यह सबसे बड़ा चोर है, अग्र चोर है जो अपने में न रहते हुए भी, झूठ-मूठ, परामानुषिक स्थिति की प्रशंसा करता है।" (पारा० १९५)

इस दुनिया के चोर दुनिया के धनधान्य की चोरी करते है, बुद्धशासन में जो चोर कहे गये हैं उनमें पहले प्रकार के चोर उसी प्रकार चीवर आदि प्रत्ययों के लिए चोरी करते है, दूसरे प्रकार के चोर त्रिपिटक धर्म की, तीसरे प्रकार के चोर दूसरे के ब्रह्मचर्य की, चौथे प्रकार के चोर संघ के कीमती सामानों की और पांचवें प्रकार के चोर ध्यानसमाधि मार्ग तथा फल आदि भेदवाला जो लौकिक, लोकोत्तर गुणधन है उसकी तथा लौकिक वस्तुओं जैसे चीवर आदि प्रत्ययों की चोरी करते हैं। जैसे कहा है, 'भिक्षुओ, निश्चय ही चोरी से वे राष्ट्र का अन्न खाते है।'

जो पांचवां महाचोर है उसके बारे में भगवान ने कहा है 'ब्रह्मासहित लोक में यह चोर है।' वह देवसहित इस लोक में देवों तथा मनुष्यों में यह सबसे बड़ा चोर है, अग्र चोर है जो अपने में न रहते हुए भी झूठ-मूठ परामानुषिक स्थिति की प्रशंसा करता है (पारा० १९५)। इस प्रकार दोनों प्रकार के धन लौकिक तथा लोकोत्तर की चोरी करते हुए, अग्र महाचोर कहा गया है। इसलिए उसको यहां के ब्रह्मसहित लोक में अर्थात सारे लोकों में इस तरह बड़ा बनाकर कहा गया है।

१३६. एते खो वसला वुत्ता, मया येते पकासिता।
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

"ये ही वस्तुतः वृषल (चांडाल) कहे जाते हैं, जिनका प्रकाशन मैंने यहां किया है। जन्म से कोई वृषल नहीं होता और न कोई ब्राह्मण। कर्म से ही वृषल तथा ब्राह्मण होता है।)"

एसो खो वसलाधमो– यहां 'खो' अवधारण (जोर डालने के) अर्थ में है। इसलिए ये ही वृषल हैं, अधम हैं। चांडालों में भी सबसे हीन, निकृष्ट हैं, इस पर जोर देता है। क्यों? विशिष्ट वस्तुओं पर चोर धर्म की वर्षा होने के कारण अर्थात उसकी बढ़ी हुई चोरवृत्ति के कारण जब तक वह झूठ-मूठ श्रमण होने की बात को अपने से बाहर नहीं निकाल देता, न भूल जाता है तब तक वृषल कारक धर्म से वह युक्त है।

एते खो वसला– अब प्रथम गाथा में ये जो क्रोध आदि पांच मनोवृत्तियां निवास स्थान संबंधी विपत्ति कही गयी है, पाप मात्सर्य को दो करके छ– द्वितीय गाथा में प्रयोग विपत्ति अर्थात साधन का गलत प्रयोग करने के कारण जीव हत्या एक, तृतीय गाथा में प्रयोग विपत्ति अर्थात साधन का गलत प्रयोग करने गांव-शहर को तबाह करना एक, चतुर्थ गाथा में चोरी करना एक, पंचम गाथा में ऋण लेकर न देना एक, षष्ठ गाथा में राह चलते लोगों को जबर्दस्ती लूटना एक, सप्तम गाथा में झूठी गवाही

देना एक, अष्टम गाथा में मित्र को धोखा देना एक, नवम गाथा में कृतज्ञता न दिखाना एक, दसम गाथा में नाश तथा तंग करना एक, एकादस गाथा में हृदय को मोहित करने के कारण एक, द्वादसम गाथा में छिपाने आदि का काम कर दो, तेरहवीं गाथा में अकृतज्ञता होने के कारण एक, चौदहवीं गाथा में ठगने के कारण एक, पंद्रहवीं गाथा में तंग करने से एक, सोलहवीं गाथा में ठगने के कारण एक, सत्रहवीं में आत्मप्रशंसा तथा परनिंदा करने के कारण दो, अट्ठारहवीं गाथा में साधना का गलत प्रयोग एवं गलत इच्छाओं के कारण क्रोध आदि सात, उन्नीसवीं गाथा में गाली देने के कारण एक और वीसवीं गाथा में अग्र महाचोर होने के कारण एक– इस तरह कुल तैंतीस या चौंतीस प्रकार के वसल कहे गये हैं– उनका उदाहरण देते हुए कहा– ये ही वृषल हैं, चांडाल हैं जो मेरे द्वारा कहे गये हैं। इसका अर्थ यह है– जो मैंने पहले संक्षेप में कहा था कि 'ब्राह्मण, जानते हो, वृषल किसे कहते हैं' उसका विस्तार से प्रकाशन यहां किया गया है। अथवा जो मेरे द्वारा पुद्गल के दृष्टिकोण से कहा गया है अर्थात व्यक्ति का उदाहरण देकर कहा गया, वे ही धर्म के दृष्टिकोण से भी प्रकाशित हैं। अथवा यहां आर्यों के कर्म की दृष्टि से वृषल के बारे में कहा गया है, जन्म के कारण नहीं, मेरे द्वारा जो **'कोधनो उपनाही'** आदि से प्रकाशित किया गया।

इस प्रकार भगवान ने वृषल कौन है बताकर चूंकि ब्राह्मण अपनी मिथ्यादृष्टि में बड़ी बुरी तरह से अभिनिविष्ट है, इसलिए उसके मत को, उसके विचार को हटाते हुए, गलत प्रमाणित करते हुए, प्रतिषेध करते हुए **"न जच्चा वसलो होती"**ति कहा। उसका अर्थ यह है– परमार्थतः जन्म से कोई वृषल नहीं होता और न कोई ब्राह्मण होता है, बल्कि कर्म से वृषल या ब्राह्मण होता है; अपरिशुद्ध कर्म की वर्षा करने से वृषल होता है और परिशुद्ध कर्म से अपरिशुद्ध कर्म को बहाते हुए, धोते हुए ब्राह्मण। चूंकि तुम हीन को वृषल और उत्कृष्ट को ब्राह्मण मानते हो, इसलिए हीन कर्म से वृषल होता है और उत्कृष्ट कर्म से ब्राह्मण– ऐसा अर्थ ज्ञापित करते हुए इस प्रकार कहा।

अब उसी अर्थ को उदाहरण द्वारा सिद्ध करने के लिए **'तदमिनापि जानाथ'** से प्रारंभ होनेवाली तीन गाथाएं कहीं। उनमें दो चार पदवाली हैं और एक छ पदवाली– जिनका अर्थ निम्नलिखित है **'न जच्चा वसलो होति'** आदि जो मेरे द्वारा कहा गया।

१३७. तदमिनापि जानाथ, यथामेदं निदस्सनं।
चण्डालपुत्तो सोपाको, मातङ्गो इति विस्सुतो॥

"इस तरह से भी इसे समझो, मैं एक उदाहरण देता हूं। मातङ्ग नामक एक चांडाल था जो प्रसिद्ध हुआ।"

उसे इस प्रकार समझो, जिस तरह से, जिस श्रामण्य से– यह उदाहरण यहां दिया गया है। कौन-सा उदाहरण है? **चण्डालपुत्तो सोपाको ...पे०... ब्रह्म लोकूपपत्तियाति**।

चंडाल का बेटा **चण्डालपुत्तो**। अपने भोजन के लिए मरा हुआ कुत्ता पाकर उसे पकाता है– इसलिए **सोपाको**। **मातङ्गो–** इस प्रकार नाम से। **विस्सुतो–** विश्रुत, प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार जाति से हीन और जीविका से भी हीन नाम में प्रकट ही है।

१३८. सो यसं परमं पत्तो, मातङ्गो यं सुदुल्लभं।
आगच्छुं तस्सुपट्ठानं, खत्तिया ब्राह्मणा बहू॥

"उस मातङ्ग ने परम यश की प्राप्ति की, उस यश की, जो बड़ा दुर्लभ है। बहुत क्षत्रिय और ब्राह्मण उनकी सेवा में उपस्थित हुए।"

सो– पहले पद से संबंधित कर उस मातङ्ग ने,

यसं परमं पत्तो– अद्भुत, उत्तम, अतिविशिष्ट, यश, कीर्ति तथा प्रशंसा की प्राप्ति की।

यं सुदुल्लभं– जो बड़े से बड़े कुल में उत्पन्न होने पर भी दुर्लभ है। हीन कुल में उत्पन्न हुए को आसानी से मिला।

इस प्रकार यश प्राप्त किये के पास–

आगच्छुं तस्सुपट्ठानं, खत्तिया ब्राह्मणा बहू– उस मातङ्ग के पास, उसकी सेवा करने के लिए जंबुद्वीप के बहुत सारे लोग क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आये– यह अर्थ है।

१३९. देवयानं अभिरुय्ह, विरजं सो महापथं।
कामरागं विराजेत्वा, ब्रह्मलोकूपगो अहु।
न नं जाति निवारेसि, ब्रह्मलोकूपपत्तिया॥

"वह उस राग रहित (शुद्ध मार्ग पर) देवयान पर चढ़ जो देवलोक की ओर जाता है, कामराग को प्रहीण कर ब्रह्मलोक पहुंचा। नीची जाति में पैदा होना उसको ब्रह्मलोक जाने से रोक नहीं सका।"

इस प्रकार वह मातङ्ग पूजार्ह (पूजनीय) हो, क्लेश राग से विगत होने के कारण **विरजं,** महान बुद्धों आदि द्वारा मार्गारूढ़ किये जाने के कारण, **महापथं** ब्रह्म लोक नामक देवलोक जाने के सामर्थ्य के कारण देव लोकयान नामक आठ समापत्तियों के यान पर **अभिरुय्ह–** उस पर आरूढ़ होकर **कामरागं विराजेत्वा–** कामराग से प्रहीण हो, मरणोपरांत **ब्रह्मलोकूपगो अहु–** ब्रह्म लोक गये– उसकी जाति से हीन होने पर भी उसे ब्रह्मलोक में उत्पन्न होने से **(ब्रह्मलोकूपपत्तिया)** नहीं रोका गया, कोई बाधा नहीं डाली गयी, वह ब्रह्मलोक में ही उत्पन्न हुए– यह कहा गया है।

मातङ्ग-कथा– यह अर्थ इस प्रकार जानना चाहिए। अतीत काल में महापुरुष इस उस उपाय से प्राणियों का हित करते मरे हुए कुत्ते को खाकर जीवित रहते चांडाल कुल में उत्पन्न हुए। नाम से मातङ्ग, रूप से बिल्कुल दर्शनीय नहीं होकर, कुरूप हो नगर के बाहर चर्मकुटी में रहते थे। नगर में भिक्षा मांग कर जीविका चलाते थे।

एकदिन उस नगर में सुरानक्षत्र की घोषणा किये जाने पर शराब के नशे में धुत्त लोग अपने परिवार के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। किसी धनी ब्राह्मण की पंद्रह-सोलह वर्षीय देवकन्या के समान बेटी ने, जो देखने में खूब सुंदर थी ऐसा सोचा कि 'मैं भी अपने कुल तथा वंश की मर्यादा के अनुरूप क्रीड़ा करूंगी।' ऐसा सोच बहुत खाने-पीने तथा क्रीड़ा करने के साधनों को गाड़ियों में भरवाया। एकदम

सफेद घोड़ों से जुते यान पर चढ़कर बहुत बड़े परिवार के साथ उद्यानभूमि जा रही थी। उसका नाम था **दिट्ठमङ्गलिका–** वह ऐसे कुरूप को जो अपशकुन होता है नहीं देखना चाहती थी, इसलिए उसका नाम दिट्ठमङ्गलिका पड़ा।

तब वह मातङ्ग प्रातःकाल उठकर फटा-चिटा कपड़ा पहन, कांस की थाली हाथ में ले नगर में प्रवेश कर रहा था, मनुष्यों को दूर से आते देखकर थाली बजाता। दिट्ठमङ्गलिका ने आगे-आगे हीन लोगों को, 'भागो, भागो, राह से हटो' कह हटाते हुए पुरुषों द्वारा ले जाते हुए मातङ्ग को नगर द्वार के बीच देखा तथा पूछा, 'यह कौन है? 'मैं मातङ्ग नामक चांडाल हूं।' उसने 'इसे देख कर जाने से क्या लाभ' सोच यान को लौटा लिया। लोग यह सोच कि 'उद्यान जाकर हमलोग जो खाद्य-भोज्य वस्तुएं पाते, उसमें हमलोगों को मातङ्ग ने बाधा डाली है' बहुत क्रोधित हुए और ढेले से मातङ्ग को मारते हुए यह कहा 'लो चांडाल' और खूब मारा। मृत समझ उसके दोनों पैर पकड़ घसीटकर एक ओर ले गये और कूड़ा-करकट से उसे ढंककर चले गये। जब उसे होश हुआ तो उठकर लोगों से पूछा, "भाई यह जो द्वार है वह आम लोगों के लिए है कि ब्राह्मणों के लिए बनाया गया है।" लोंगो ने जवाब दिया, "सबके लिए है।" इस प्रकार आम लोगों के लिए बने दरवाजे से प्रवेश कर भिक्षाहार से जीविका प्राप्त करते हुए 'दिट्ठमङ्गलिका के लोगों द्वारा मेरा यह बुरा हाल किया गया' ऐसा सोच रथ के चक्के के चिह्नों से रथिक को खोजते हुए मनुष्यों को पूछते हुए ब्राह्मण के घर के सामने जाकर बैठ गया और कहा कि 'दिट्ठमङ्गलिका को बिना लिए मैं यहां से नहीं उठूंगा।'

ब्राह्मण ने यह सुनकर कि 'दरवाजे पर मातङ्ग लेटा है' कहा, "उसको काकणिक (सिक्का) दो, देह में तेल लगाकर वह चला जाय"। वह काकणिक अथवा तेल नहीं चाहता है। कहता है "बिना दिट्ठमङ्गलिका को लिए नहीं उठूंगा"– लोगों ने कहा। तब ब्राह्मण ने "दो काकणिक दे दो, एक से पूआ खाय और एक से देह में तेल लगाये।" "वह ये सब चीजें नहीं चाहता वैसा ही कहता है।" ब्राह्मण ने सुनकर कहा, 'मासक, पाद, अर्द्ध कार्षापण, कार्षापण, दो कार्षापण, तीन कार्षापण......., सौ कार्षापण" देने को कहा। वह लेना नहीं चाहता, वैसा ही बोलता है। इस प्रकार याचना करते हुए सूरज डूब गया। अब ब्राह्मणी ने महल से उतरकर परदा डलवाकर उसके पास आकर याचना की, "तात मातङ्ग, दिट्ठमङ्गलिका के अपराध को क्षमा करें, एक हजार ले लें– यहां तक कि दो तीन हजार नहीं, एक लाख लें।" वह चुपचाप बैठे ही रहे।

इस प्रकार चार-पांच दिन बीत गये। बहुत भेंट देने पर भी दिट्ठमङ्गलिका को न पा क्षत्रिय कुमारों ने मातङ्ग के कान में कहलवाया– 'अनेक वर्षों तक परिश्रम करके लोग अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति करते हैं, तुम हिम्मत मत हारो, निराश मत हो, निश्चय ही दो, तीन दिन बीतने के बाद दिट्ठमङ्गलिका को पाओगे।' वह चुपचाप हो लेटा रहा। अब सातवें दिन चारों ओर के पड़ोसी उठ खड़े हुए और (ब्राह्मण को) कहा 'तुम मातङ्ग को यहां से निकाल बाहर करो या बेटी दो, हम सबों का नाश मत करो'। उन लोगों की यह धारणा थी, यह मत था कि जिसके दरवाजे पर इस तरह बैठा हुआ चांडाल मर जाता है, उस घर के लोगों के साथ-साथ चारों ओर के सात-सात घरों के वासी चांडाल हो जाते हैं।' तब दिट्ठमंगलिका को नीला कपड़ा पहनाकर, उल्लू के पंख से बना वस्त्र तथा बर्तन आदि देकर विलाप करते हुए उसके पास ले जाकर "लो बेटी को, अब उठकर चले जाओ" कहकर दिया।

वह बगल में खड़ी हो गयी और कहा 'उठो'। उसने कहा, 'हाथ पकड़कर मुझे उठाओ'। उसने (दिट्ठमङ्गलिका ने) उसे उठाया। उसने बैठकर कहा, 'हमलोग नगर के बीच रह पायेंगे नहीं, आओ, तुम मुझे नगर के बाहर जो चर्मकुटी है वहां ले चलो।' उसका हाथ पकड़कर वह वहां ले गयी। जातक भाणक के अनुसार 'पीठ पर चढ़ाकर'। ले जाकर उसकी देह में तेल लगाकर उसे गर्म पानी से स्नान करवाया और यागु पकाकर दी। उसने यह सोच कि 'इस ब्राह्मण कन्या का नाश नहीं हो' जाति न कह एक पखवारे में ही शरीर से मजबूत हो कहा 'मैं वन जाता हूं, दीर्घ काल तक रहूंगा, तुम उत्कंठित मत होना'। घर के लोगों को ऐसा आदेश दे कि 'इस पर ख्याल करना न भूलना, वह घर से निकला, और तापस प्रव्रज्या ले कसिण पर ध्यान करने के पूर्व कृत्स्न कर्म को, उपचार कर्म को पूरा कर कुछ ही दिनों में आठ समापत्तियां और पांच अभिज्ञाओं को प्राप्त किया। 'अब मैं दिट्ठमङ्गलिका को प्रिय और सुंदर लगूंगा' ऐसा सोच आकाश मार्ग से जाकर नगर द्वार पर उतरकर दिट्ठमङ्गलिका को बुलाया।

उसने सुना तो यह सोचा कि 'मालूम होता है मेरा कोई प्रव्रजित संबंधी मुझको दुःखी जान देखने आया है' वह गयी, उसको पहचान कर पैरों पर गिरकर कहा "किस कारण से तुमने मुझे अनाथ बना दिया?" महापुरुष ने कहा, "दिट्ठमंगलिके, तुम दुःखी मत हो, जंबुद्वीप में रहनेवाले सभी लोगों से तुम्हारा सत्कार करवाऊंगा।" ऐसा बोलकर कहा, "जाओ, तुम घोषणा करो, कहो कि मेरा स्वामी महाब्रह्मा है, मातङ्ग नहीं है। वह चंद्र विमान तोड़ कर सातवें दिन मेरे पास आयगा।" उसने (दिट्ठमङ्गलिका ने) कहा–

'भंते, मैं ब्राह्मण महाशाल कन्या होकर भी अपने पाप कर्म से चांडाल बनी, इस प्रकार मैं नहीं कह सकूंगी'। महापुरुष ने यह कहकर कि 'तुम मातंग के आनुभाव (प्रताप) को नहीं जानती हो।' जिस तरह वह विश्वास कर सके उसी तरह उसको अनेक चमत्कार दिखाकर, आज्ञा देकर अपने वासस्थान की ओर गया। दिट्ठमङ्गलिका ने भी वैसा ही किया।

लोग नाराज होते और हंसते "यह अपने पापकर्म से चांडाल बनी फिर उसको कैसे महाब्रह्मा बनायगी?" वह अभिमान से भरकर अब प्रतिदिन यह घोषणा करते नगर में घूमती कि "आज से छठे दिन, पांचवें, चौथे, तीसरे, कल, आज (वे) आयेंगे।"

लोग विश्वास से भरी उसकी बात सुन, 'शायद ऐसा भी हो' अपने घर के दरवाजे पर मंडप बनवाकर, परदा लगाकर, वयःप्राप्त कन्याओं को अलंकृत कर 'महाब्रह्मा के आने पर कन्यादान देंगे' कहते हुए तथा आसमान की ओर देखते हुए बैठे रहते। अब महापुरुष पूर्णिमा के दिन आकाश में जब चंद्रमा ऊपर आया तो चंद्र विमान तोड़कर भीड़ के देखते-देखते महाब्रह्मा के रूप में बाहर आये। लोगों ने यह कह कर कि 'दो चांद उगे हैं' तिरस्कार किया। उसके बाद धीर-धीरे आते देख 'दिट्ठमङ्गलिका ने सच कहा, महाब्रह्मा ही इस दिट्ठमङ्गलिका का दमन करने मातंग वेष में आये थे'– वे इस नतीजे पर पहुंचे। जनता को देखते-देखते वे दिट्ठमङ्गलिका के घर उतरे। वह उसी समय ऋतुनी हुई। उन्होंने उसकी नाभि को अंगूठे से छुआ। उसके स्पर्श से गर्भ ठहरा अर्थात वह गर्भवती हुई। तब उसको यह कहा कि 'तुम्हें गर्भ ठहर गया है, पुत्र के पैदा होने पर उस पर निर्भर हो जीओ' जनता के देखते-देखते पुनः चंद्रविमान में प्रवेश कर गये।

ब्राह्मणों ने 'दिट्ठमङ्गलिका महाब्रह्मा की पत्नी, हमारी मां है' ऐसा कह वे जहां-तहां या यहां-वहां

से आने लगे। उसके सत्कार करने की इच्छा से एकत्र हुए लोगों के कारण नगरद्वारों पर स्थानाभाव हो गया। उनलोगों ने दिट्ठमङ्गलिका को सोने के ढेर पर रखा, स्नान कराया, मंडित किया, रथ पर बैठाया और महासत्कार से नगर की प्रदक्षिणा करवा कर, नगर के बीच में मंडप बनवा कर 'उसको महाब्रह्मा की पत्नी है' कह जहां वह सबको दिखाई पड़ सके वहां रख, बसाया और कहा कि 'जब तक हमलोग आपके लायक उचित घर बनायें, तब तक यहीं रहें।' उसने मंडप में ही पुत्र को जन्म दिया। शुभ दिन पर पुत्र के साथ उसको सिर से स्नान कराया और चूंकि मंडप सें बालक जनमा था इसलिए उसका नाम मंडव्यकुमार रखा। उस दिन से 'उसको महाब्रह्मा का पुत्र है' कह ब्राह्मण उन्हें घेरकर रहने लगे। उसके लिए अनेक लाख प्रकार के भेंट आते। वे ब्राह्मण उन्हें कुमार की देख-रेख में रखते, आनेवाले लोग कुमार को शीघ्रता से देख नहीं पाते।

क्रमशः बड़े होकर कुमार ने दान देना आरंभ किया। वह घर की संपत्ति को भिखारियों को न दे ब्राह्मणों को ही देता। महापुरुष ने यह जानने के लिए ध्यान लगाया कि 'क्या मेरा पुत्र दान देता है?' यह देखकर कि वह सिर्फ ब्राह्मणों को ही दान देता है सोचा कि 'मैं वैसा करूंगा जिससे वे सबों को दान दे'। ऐसा सोच चीवर पहन पात्र ले, आकाश मार्ग से आकर बेटे के दरवाजे पर खड़े हुए। कुमार ने उसे देखा, और 'कहां से यह कुरूप वृषल (चांडाल) आया है' कह क्रोधित हो यह गाथा कही जिसका अर्थ है– ऐसे कहां से आये हो भिखमंगे की तरह कपड़े पहनकर, फटे-चिटे कपड़े में लगते हो जैसे कोई राक्षस हो, कचरे के ढेर से चुने फटे कपड़े से कंठ को बांधे हो। कौन हो तुम अदाक्षिणेय्य?"

"पकड़ो, पकड़ो" ब्राह्मणों ने कहा और उसे पकड़कर बहुत मारा और कष्ट दिया। वह आकाश मार्ग से जाकर नगर के बाहर प्रकट हुआ।

क्रुद्ध देवताओं ने कुमार की गर्दन पकड़ी और उसका पैर ऊपर तथा सिर नीचे कर दिया। वह आंख से आंसू और मुंह से लार चुआते, गिराते, घुर-घुर करते (कठिनाई से सांस लेते) दुःख अनुभव कर रहा था। दिट्ठमङ्गलिका ने यह बात सुनी तो आई और पूछा 'कोई आये थे क्या?' 'हां, एक प्रव्रजित आये थे।' 'वे कहां गये?' 'उधर गये'। वह वहां गयी और 'भंते, अपने दास को क्षमा करें' ऐसा कह याचना करती हुई उनके पैर के पास जमीन पर लेट गयी।

उस समय महापुरुष भिक्षा मांगकर यागु प्राप्त कर, उसको पीते हुए बैठे थे। उन्होंने बचा हुआ थोड़ा यागु दिट्ठमङ्गलिका को दिया। 'जाओ इस यागु को पानी के घड़े में बिलोकर (मथकर) जिसमें भूत विकार है, उसकी आंख, मुख, कान तथा नाक के छेद में डाल दो, शरीर पर जल छिड़क दो, इस तरह वह ठीक हो जायगा।' उसने वैसा ही किया। तब कुमार के प्रकृतिस्थ होने पर 'तात मंडव्य, आओ तुम्हें क्षमा करवाऊंगी' कह बेटे को तथा सभी ब्राह्मणों को उनके पैर के पास उलटकर लिटवाया और क्षमा करवाया।

उसने (महापुरुष ने) 'सबों को दान देना चाहिए' ऐसा उपदेश दिया, और धार्मिक कथा कही। (तब) अपने वासस्थान पर जाकर सोचा, 'स्त्रियों में प्रसिद्ध दिट्ठमङ्गलिका का दमन मैंने किया, पुरुषों में प्रसिद्ध मंडव्य कुमार का, अब कौन दमन करने योग्य है।' तब उसने उच्च जाति के तापस को देखा जो बंधुमती नगर में आश्रय ले कुंभवती नदी के किनारे विहार कर रहे थे। वे (यह सोचकर कि)

'मैं विशिष्ट जाति का हूं, दूसरे द्वारा उपयोग किया गया जल मैं उपयोग नहीं करूंगा' सोच नदी के ऊपरभाग में रहते थे। महापुरुष जहां वे रहते थे उसके ऊपर रहने लगे। अब उन्होंने उनके जलग्रहण करने के समय दातौन कर दंतवन जल में फेंका।

तापस दंतवन को पानी में बहते देख 'किसने इसे फेंका?' जानने के लिए नदी की उलटी धारा में गये। वहां उस महापुरुष को देखकर पूछा, 'कौन है यह?' 'आचार्य, मैं मातङ्ग चांडाल हूं।' 'चांडाल, दूर हट, नदी के ऊपर नहीं रहो।' महापुरुष ने 'आचार्य, ठीक है' कहा और नदी के नीचे भाग में रहने लगे। विपरीत धारा में भी दंतवन तापस के पास आता। तापस ने फिर जाकर कहा, 'दूर हट, चांडाल, नदी के नीचे भाग में मत रहो, ऊपर भाग में रहो।' महापुरुष ने 'आचार्य, ठीक है' कहा और वैसा ही किया। पुनः वैसा ही हुआ अर्थात 'दंतवन तापस के पास आया' तापस ने यह सोच कि यह दुष्ट वैसा ही करता है, उसे शाप दिया, 'सूर्य के उगने पर तुम्हारा सर सात टुकड़ा हो जायगा।' महापुरुष ने कहा 'आचार्य, ठीक है, किंतु मैं सूर्य को उगने ही नहीं दूंगा' और ऐसा कह सूर्य को उगने से रोका।

तब रात बीती ही नहीं, अंधकार था ही, बंधुमती नगरवासी तापस के निकट गये और पूछा कि 'आचार्य, हमारी स्वस्ति का कोई उपाय है।' वे उन्हें अर्हत मानते थे। उन्होंने उन सबों को पूरी बात बतायी। वे महापुरुष के पास गये और याचना की कि 'भंते, सूर्य का मोचन करें, सूर्य को उगने दें।' महापुरुष ने कहा, 'यदि तुम्हारा अर्हत मेरे पास आकर क्षमा मांगे तो मैं सूर्य को उगने दूंगा।'

लोगों ने तापस के पास जाकर कहा 'भंते, आइये, मातङ्ग पंडित से क्षमा मांग लीजिये, आप दोनों के झगड़े से हमलोगों को नष्ट न होने दें। उन्होंने कहा, 'मैं चांडाल से क्षमा नहीं मांगूंगा।' तो लोग यह सोच कि 'आप हमलोगों का सत्यानाश करेंगे' उनके हाथ-पैर बांध महापुरुष के पास ले गये। महापुरुष ने कहा, 'मेरे पैर के पास पेट के बल लेटकर क्षमा मांगेगा तो क्षमा करूंगा।' लोगो ने तापस से कहा 'ऐसा ही करें।' तापस ने कहा, 'मैं चांडाल की वंदना नहीं करूंगा।' लोगों ने 'अपनी इच्छा से यह आप की वंदना न करेगा' सोच हाथ, पैर, मूंछ, दाढ़ी, गर्दन पकड़कर महापुरुष के पैर के पास उसे सुला दिया। उन्होंने कहा, 'मैं इसको क्षमा तो कर दूंगा, पर इस पर दया करके ही, सूर्य को उगने नहीं दूंगा, सूर्य के उदय होने पर इसका सर सात टुकड़ों में फट जायगा।' लोगों ने कहा, 'भंते, अब क्या करना चाहिए।' महापुरुष ने कहा, 'इसको पानी में गर्दन तक डुबोकर इसके सिर को मिट्टी से ढंक दो, सूर्य की किरणें फूटते ही मिट्टी सात टुकड़ों में फट जायगी। उसके फटते ही यह अन्यत्र चला जाय।'

उन लोगों ने तापस के हाथ पैर बांधकर वैसा ही किया। सूर्य के उगते मिट्टी सात टुकड़ों में फटकर गिर पड़ी और तापस डर कर भाग गया। लोगों ने यह देखकर 'देखो, श्रमण के आनुभाव को, प्रताप को' कहते हुए दंतवन फेंकने की बात से प्रारंभ कर पूरी बात को विस्तार से कह 'ऐसा श्रमण कोई दूसरा नहीं है' कह उनके प्रति श्रद्धावान हुए।

उस समय से पूरे जंबुद्वीप के क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि गृहस्थ तथा प्रव्रजित मातङ्ग पंडित की सेवा के लिए आये। वे उम्र भर वहीं रहे और मरणोपरांत ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए। इसलिए भगवान ने कहा, **"तदमिनापि जानाथ... ब्रह्म लोकूपपत्तिया"**ति।

इस प्रकार 'जन्म से कोई वृषल नहीं होता, कर्म से होता है,' इसको प्रमाणित कर अब 'जन्म से

कोई ब्राह्मण नहीं होता, कर्म से होता है, को प्रमाणित करने के लिए **अज्झायककुले जाता...पे० दुग्गत्या गरहाय वा** आदि कहा।

१४०. अज्झायककुले जाता, ब्राह्मणा मन्तबन्धवा।
ते च पापेसु कम्मेसु, अभिण्हमुपदिस्सरे॥

१४१. दिट्ठेव धम्मे गारय्हा, सम्पराये च दुग्गति।
न ने जाति निवारेति, दुग्गत्या गरहाय वा॥

"अध्यापकों के कुल में जन्म लेने पर भी और वेद उनके बंधु होने पर भी, ब्राह्मण बार-बार दुर्गति में पड़े दिखाई देते हैं।"

"इस लोक में वे गर्हित हैं और भविष्य में भी उनकी दुर्गति निश्चित है। उनका उच्चकुल में जन्म लेना उन्हें दुर्गति से या गर्हित अवस्था में पड़ने से नहीं रोक सकता।"

यहां **अज्झायक कुले जाता–** ब्राह्मण ग्रंथों को जाननेवाले ब्राह्मण अध्यापक के कुल में जनमे हुए। 'अज्झायकाकुळे जाता' भी पाठ है। ब्राह्मण ग्रंथों को जाननेवाले अध्यापक के अनिंदनीय कुल में जनमे हुए– यह अर्थ है।

मन्ता बन्धवा एतेसं– उनके बांधव मंत्र होते हैं इसलिए वे **मन्तबन्धवा** कहे जाते हैं। **वेदवन्धु–** वेद प्रतिशरण कहा गया है। **ते च पापेसु कम्मेसु अभिण्हमुपदिस्सरे–** वे ऐसे कुल में जन्म लेकर वेदों के बांधव होने पर भी यदि जीवहिंसा आदि अकुशल कर्म में बार-बार लगे दिखाई पड़ते हैं तो **दिट्ठेव धम्मे गारय्हा सम्पराये च दुग्गति–** वे ऐसे दिखाई पड़ने पर इसी जन्म में माता-पिता द्वारा यह कहे जाकर कि 'यह हमारा बेटा नहीं है, यह कुजात है, कुलांगार है, इसे बाहर निकालो', ब्राह्मणों द्वारा 'ये गृहपति हैं, ब्राह्मण नहीं हैं, इन्हे श्राद्ध तथा यज्ञ के थाली पाक (दूध में पके भात या जौ) आदि में हमलोग एक साथ बैठने न देंगे, हमलोग इनके साथ बात न करेंगे', दूसरे मनुष्यों द्वारा, 'ये पापकर्मा हैं, ब्राह्मण नहीं हैं' कहे जाकर गर्हित होते हैं।

और परलोक में उनकी दुर्गति नरक आदि भेद से होती है उनकी दुर्गति परलोक में होती है– यह अर्थ है। **'सम्पराये वा'** भी पाठ है– अथवा परलोक में। परलोक में इनको दुःख प्राप्त होता है अर्थात– इनकी दुर्गति होती है, ये दुःख ही प्राप्त करते है।

न ने जाति निवारेति, दुग्गत्या गरहाय वा– उत्कृष्ट जाति होने पर भी जो तुम अकुशल कर्म[१] करते हो अर्थात जैसा कर्म करते हो जाति उन अकुशल कर्मों को करनेवाले ब्राह्मणों को 'भविष्य में, मरणोपरांत दुर्गति' (होगी ही।) यहां जिस प्रकार की दुर्गति कही गयी है अथवा इस लोक में जिस प्रकार गर्हित होने की बात कही गयी है उनसे नहीं बचा पाती अर्थात उच्चकुल में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण अकुशल कर्म करने से दुर्गति में पड़ता ही है तथा गर्हित होता ही है। उसका (उत्कृष्ट जाति में) जन्म इनसे उसे नहीं बचा पाता।

१. यहां मूल में सारतों के स्थान पर 'असारतों' होना चाहिए।

१४२. “न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो”ति॥

“इस प्रकार भगवान ने अध्यापक कुल में जनमे ब्राह्मणों को गर्हित कर्म करने के कारण इसलोक में पतित दिखाते हुए, भविष्य में मरणोपरांत ब्राह्मण जाति दुर्गति में नहीं पड़ती है– यह दिखाते हुए **‘न जच्चा वसलो होति...** को प्रमाणित कर अब दो प्रकार के अर्थो की व्याख्या करते कहा– इस प्रकार “ब्राह्मण! न जन्म से कोई वृषल होता है और न ब्राह्मण, कर्म से वृषल और कर्म से ही ब्राह्मण होता है।”

शेष अर्थ जैसे कसिभारद्वाज सुत्त में कहा गया है वैसे ही। विशेष अर्थ यह है– **निक्कुजितं वा** आदि की इस प्रकार संबंध जाननी चाहिए। जैसे कोई औंधे को सीधा करे, उसी तरह कर्म विमुख जातिवाद में पड़े ‘जाति से ब्राह्मण और वृषल होता है’ इस मिथ्यादृष्टि को मुझसे दूरकर, मुझमें सम्यक दृष्टि जगाकर जैसे ढंके को उघाड़ने, जैसे रास्ता भूले को रास्ता बता दे, इस प्रकार ब्राह्मण और वृषल से असंभिन्न सीधा मार्ग बताने, जैसे अंधकार में दीपक रखे– इस प्रकार मातङ्ग आदि के उदाहरण से ज्योति धारण कर मुझको भगवान गौतम द्वारा इन पर्यायों से प्रकाशित करने के कारण अनेक उदाहरणों से धर्म-प्रकाशित हुआ।

अग्गिकभारद्वाजसुत्त समाप्त।

८. मेत्तसुत्तवर्णना

करणीयमत्थकुसलेन से प्रारंभ होनेवाला **मेत्तसुत्त** है। इसकी उत्पत्ति क्या है? हिमालय के पार्श्व से देवताओं द्वारा कष्ट दिये गये, हैरान किये गये भिक्षु भगवान के पास श्रावस्ती आये। भगवान ने उनके संरक्षण तथा उनके ध्यान करने के आलंबन लेने के लिए यह सुत्त कहा। यह संक्षेप है।

विस्तार में यह है– एक समय भगवान श्रावस्ती में वर्षावास के समीप होने पर विहार कर रहे थे। उस समय नाना राज्यों के बहुत से भिक्षु भगवान के पास कर्मस्थान लेकर वहीं वर्षावास करने की इच्छा से आये। वहां भगवान ने रागचरितवाले भिक्षुओं के लिए सजीव तथा निर्जीव भेद से ग्यारह प्रकार के अशुभ कर्मस्थान, द्वेषचरितवाले भिक्षुओं को मेत्ता आदि चार प्रकार के कर्मस्थान, मोह चरितवालों के लिए मरणानुस्मृति आदि कर्मस्थान, वितर्क चरितवालों के लिए आनापान स्मृति तथा पृथ्वी आदि कसिण कर्मस्थान, श्रद्धाचरितवालों के लिए बुद्धानुस्मृति आदि कर्मस्थान, बुद्धिचरितवालों के लिए चतुधातु व्यवस्थान आदि कर्मस्थान– इस प्रकार चौरासी हजार भिन्न-भिन्न चरित्रवालों के अनुकूल कर्मस्थान कहे।

अब पांच सौ भिक्षुओं ने भगवान से कर्मस्थान सीखकर उचित शयनासन और भिक्षा के लिए गांव खोजते हुए क्रमशः वहां पहुंचकर हिमालय के पार्श्व में उससे सटा हुआ नीले काचमणि के समान शिलातल, शीतल घन छाया से युक्त नील वन खंड, मंडित मोती के तल तथा चांदी के पटल समान वालुका से आकीर्ण भूमि भाग, शुचि आनंददायक शीतल जलाशय परिवारित पर्वत को देखा। अब वे भिक्षु वहीं पर एक रात बिताकर प्रातःकाल ही शौचकर्म से निवृत्त हो निकट ही एक गांव में भिक्षा के लिए गये। वह गांव हजार परिवारवाला, एक साथ रहनेवाला, घना घरवाला था। वहां के लोग श्रद्धा से प्रसन्न थे, सीमा पर रहने के कारण प्रव्रजितों के दर्शन की दुर्लभता से जब भिक्षु को देखते तो प्रीति और आनंद से भर जाते और उन्हें भोजन कराकर 'भंते, यहां ही तीन मास रहें' कह याचना कर लोगों में ध्यान के लिए पांच सौ कुटी बनवाकर वहां चारपाई तथा कुर्सी आदि, पीने का पानी रखने योग्य घड़ों तथा और सब उपकरणों की व्यवस्था कर उन्हें वहीं रहने की याचना की।

दूसरे दिन भिक्षु भिक्षा के लिए दूसरे गांव गये। वहां के लोगों ने भी उनका उसी तरह सत्कार कर वहीं वर्षावास करने की याचना की। भिक्षुओं ने यह कहकर कि 'विघ्न न रहने पर' स्वीकृति देकर उस वन खंड में प्रवेश कर रात-दिन पूरे समय प्रयत्नशील हो आत्मनियंत्रण कर खूब यथार्थ विचार करके विहार करते हुए वृक्षमूल के पास जा बैठे। शीलवान भिक्षुओं के तेज से तेजहीन हो वृक्षदेवता अपने-अपने विमान में सवार हो, बच्चों को ले इधर-उधर विचरते थे। जैसे राजा या राजा के अमात्यों को, जब वे गांव जाते हैं, लोग घर से निकलकर अन्य जगह रहने लगते हैं और दूर से यह देखते हैं कि 'कब ये लोग जायंगे?' उसी तरह देवता अपना-अपना विमान छोड़ इधर-उधर विचरण करते हुए दूर से देखते थे कि 'कब ये भंते लोग जायंगे?' उन लोगों ने ऐसा सोचा, 'पहले वर्षावास के लिए आये भिक्षु अवश्य ही तीन महीने ठहरेंगे, तब तक हमलोग बच्चों को लेकर घर से दूर हटकर नहीं

रह सकेंगे, क्यों न हमलोग भिक्षुओं को भयानक आलंबन दिखायें'। वे देवता रात में श्रमण धर्म करने के समय यक्षों का भयानक रूप बना कर भिक्षुओं के सामने खड़े हो जाते और खूब जोर की आवाज करने लगते। उनके (भयानक) रूपों को देखकर तथा उनकी आवाज को सुनकर भिक्षुओं का दिल कांप उठता। उन लोगों की चमक जाती रही, वे पीले पड़ गये और इस कारण वे अपना चित्त एकाग्र न कर सके। उनमें से अनेक कुशल चित्तवाले भी बार-बार भय के कारण उत्पन्न संवेग से स्मृति खो बैठे, तब उन स्मृति खोनेवाले भिक्षुओं के पास उन देवताओं ने दुर्गंध पूर्ण आलंबन का प्रयोग किया। उस दुर्गंधि से उनका दिमाग जैसे पीस डाला गया, माथे में बड़ी पीड़ा होने लगी। लेकिन उन लोगों ने एक दूसरे से यह बात नहीं कहीं।

अब एक दिन संघथेर की सेवा के समय सब एकत्र हुए तो संघथेर ने पूछा, 'आवुसो! तुम जब इस वनखंड में आये थे तो कुछ दिनों तक तुम्हारा चेहरा चमकता था, अति सुंदर लगता था, तुम्हारी इंद्रियां चमकती थीं, किंतु अब वे कृश, दुर्वर्ण और पीली पड़ गयी हैं, क्या तुम्हारे लिए यह स्थान अनुपयुक्त है?' तब एक भिक्षु ने कहा 'भंते, रात को मैं ऐसा-ऐसा डरावना दृश्य देखता हूं, भयावनी आवाज सुनता हूं और ऐसी-ऐसी दुर्गंधि परेशान करती है, इस कारण मेरा ध्यान नहीं लगता है।' इसी तरह सभी ने अपनी-अपनी बात कही। संघथेर ने कहा- 'आवुस, भगवान ने दो वर्षावासों को प्रज्ञप्त किया है, यहां का हमारा निवासस्थान अकल्याणकारी है, आवुस, चलें हमलोग भगवान के पास और उनसे अन्य कल्याणकारी निवासस्थान के बारे में पूछें।' 'अच्छा भंते' कहकर सभी बिछावनों को समेट, पात्र तथा चीवर ले अनुपलिप्त भाव से, परिवारों को बिना कहे श्रावस्ती की ओर चारिका के लिए निकल पड़े। क्रमशः श्रावस्ती जाकर भगवान के निकट गये।

उन भिक्षुओं को देख भगवान ने कहा, "भिक्षुओ, वर्षावास के बीच चारिका नहीं करनी चाहिए ऐसी शिक्षापद मैंने प्रज्ञप्त की है, किस कारण तुम लोग चारिका कर रहे हो।" उन लोगों ने भगवान से सारी बातें कहीं। भगवान ने ध्यान लगाकर देखा कि पूरे जंबुद्वीप में चार पैरवाले पीढ़े के बराबर भी उन लोगों के लिए कल्याणकारी निवास स्थान नहीं है। उन भिक्षुओं से कहा, 'भिक्षुओ, तुम्हारे लिए अन्य कल्याणकारी निवास स्थान नहीं है, वहीं विहारकर तुमलोग आश्रव-क्षय अवस्था प्राप्त करो। भिक्षुओ, जाओ, उसी जगह का आश्रय ले विहार करो, यदि देवताओं से अभय चाहते हो तो इस परित्त को सीखो, यही परित्त निश्चय ही तुम्हारे लिए कर्मस्थान होगा'। यह कह उन्होंने इस सुत्त का उपदेश दिया।

दूसरे कहते हैं– 'भिक्षुओ, जाओ उस निवास स्थान पर ही आश्रय ले विहार करो' ऐसा कह भगवान ने कहा, और जंगल में रहनेवाले से संरक्षण कैसे करें अर्थात उनसे अपनी रक्षा कैसे करें यह जानें। निम्नोक्त के अनुसार करें– सुबह-शाम दो मेत्ता-भावना, दो परित्त, दो अशुभ भावना, दो मरणानुस्मृति, आठ महासंवेग के कारणों पर ध्यान लगाना। आठ महासंवेगों के कारण हैं जन्म, बुढापा, रोग, मृत्यु और चार अपाय दुःख (निरय में जन्म लेना, तिरश्चीन योनि, प्रेतयोनि तथा असुरयोनि में जन्म लेना) अथवा जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु ये चार, पांचवां अपायदुःख, अतीत में जन्म-मरण के चक्कर का दुःख, भविष्य में जन्म-मरण के चक्कर का दुःख तथा वर्तमान में आहार खोजने संबंधी दुःख। इस प्रकार भगवान ने संरक्षण का उपाय बताकर उन भिक्षुओं को मेत्ता भावना के लिए, परित्त के लिए तथा विपश्यना पैदा करनेवाले ध्यान के लिए यह सुत्त कहा।

१४३. करणीयमत्थकुसलेन, यं तं सन्तं पदं अभिसमेच्च।
सक्को उजू च सुहुजू च, सुवचो चस्स मुदु अनतिमानी॥

"शांत पद के बारे में लौकिक प्रज्ञा से जानकर जो अर्थकुशल है, जो यह जानता है कि कुशल क्या है उसे यह करना चाहिए। उसको योग्य, सरल, बहुत ही सरल, सुवच, मृदु तथा निरहंकारी होना चाहिए।"

यहां **करणीयमत्थकुसलेना–** इस प्रथम गाथा का यहां तक पद की व्याख्या है।

करणीय– कर्तव्य, करने के योग्य– यह अर्थ है।

अत्थो– आचरण, जो कुछ अपने हित के लिए हो,

उन सभी को बिना संघर्ष के होने के कारण कल्याण कहा जाता है। अर्थ में कुशल होने से **अत्थकुसलेन–** अर्थात कुशल जाननेवाला होने से ऐसा कहा गया है।

यं– नियमित रूप से पृथक्-पृथक् हो,

तं– नियमित संबंध को बतानेवाला। दोनों ही **यं तं** अर्थात पृथक-पृथक हैं,

सन्तं पदं– द्वितीया विभक्ति संबंध वचन के अर्थ में, लक्षण से शांत, प्राप्त होने के कारण पद– यह निर्वाण का पर्याय है।

अभिसमेच्च– भली प्रकार समझकर। **सक्को–** कर सकता है इसलिए योग्य; समर्थ तथा योग्य **(सामर्थ्यवान)** को कहा जाता है।

उजू– सरलता से युक्त। अति सरलता ही सुहुजु है।

जिसके साथ बात करना आसान है वह **सुवचो** है।

अस्स– होवे। **मुदु–** मृदुता से युक्त। जो घमंडी नहीं है वही **अनतिमानी** है।

यह अर्थ की व्याख्या है– **करणीयमत्थकुसलेन यन्तं सन्तं पदं अभिसमेच्च।** यहां तक जो करणीय है तथा अकरणीय हैं उनके बारे में कहा गया है। संक्षेप में तीन शिक्षा पद **करणीय** हैं, गलत आचरण, मिथ्यादृष्टि, दुराचार और गलत तरीके से आजीविका कमाना आदि **अकरणीय** हैं। वैसे ही अर्थकुशल है, अनर्थकुशल है।

इस शासन में प्रव्रजित हो जो अपने को सम्यक रूप से नहीं लगाता है, जिसका शील भंग होता है, निम्नोक्त इक्कीस प्रकार के गलत ढंग अपना कर जीविकोपार्जन करता है जैसे बांस दान, पुण्यदान, पुष्पदान, फलदान, दंतवन दान, मुंह धोने के लिए जल का दान, स्नान के लिए जलदान, चूर्णदान, मृत्तिकादान, चाटुकारिता कर, आधा झूठ बोलकर, बच्चे को कंधे आदि पर चढ़ाकर, खेला कर, पैदल चलकर, वैद्य कर्म कर, दूत का काम कर, संदेश ले जाकर, भिक्षा देनेवाले को बदले में भिक्षा देकर, घर कहां बनाया जाय इस विद्या को जानकर, नक्षत्रों के शुभाशुभ फलों को जानकर तथा शरीर पर चिह्न देखकर भाग्य बताना। छ प्रकार से नहीं जाने लायक स्थान पर जाता है। जैसे वेश्या के यहां, विधवा के यहां, मोटी औरत के यहां, पंडक (हिजड़ा) के यहां, भिक्षुणी के पास तथा शराबखाना। राजा के साथ,

राजा के अमात्य के साथ, तैर्थिकों के साथ, तैर्थिकों के शिष्यों के साथ उल्टे क्रम से गृहस्थों के साथ संसर्ग कर आसक्त हो विहार करता है। भिक्षुओं के लिए तथा उपासक उपासिकाओं के लिए जो श्रद्धा नहीं दिखाता, अप्रसन्न रहता है, गाली देता है, अकुशल चाहनेवाला है, अहित दुःख तथा अयोगक्षेम चाहनेवाला है, वैसे ही कुलों को वह सेवता, भजता है, उन्हीं कुलों की संगति करता है। यह अनर्थ कुशल है अर्थात कल्याण कुशल नहीं है।

किंतु जो इस बुद्ध शासन में प्रव्रजित हो अपने को ठीक से लगाता है, जीविकोपार्जन के गलत तरीकों को छोड़ चार प्रकार के परिशुद्ध शीलों में प्रतिष्ठित होने की इच्छा से श्रद्धापूर्वक प्रातिमोक्ष पारिशुद्ध शील, स्मृति पूर्वक इंद्रिय संवर शील, वीर्यपूर्वक संवर आजीव पारिशुद्ध शील तथा प्रज्ञापूर्वक प्रत्यय सन्निश्रित शील का पालन करता है वह अर्थकुशल है अर्थात कल्याणकुशल है।

जो सात आपत्ति (विनय के नियमों का उल्लंघन) स्कंधों को शुद्ध करने के कारण प्रातिमोक्ष संवर को, छः इंद्रियद्वारों पर टकरानेवाले आलंबनों में लोभ आदि को उत्पन्न न करने के कारण इंद्रियसंवर को, जीविकोपार्जन के अनुचित उपाय से अपने को बचाने के कारण ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित, बुद्ध तथा बुद्ध श्रावक द्वारा वर्णित प्रत्यय सेवन कर आजीव पारिशुद्धि को, प्रत्ययों को कहे गये ढंग से प्रत्यवेक्षण कर प्रत्ययों का सेवन कर चार ईर्यापथ परिवर्त्तन में सार्थक आदि को प्रत्यवेक्षण करने के कारण संप्रज्ञान को शुद्ध करता है– वह अर्थकुशल है।

जो यह जानकर कि जैसे खारी मिट्टी तथा पानी के हेतु से मैला वस्त्र साफ होता है, राख से आईना, लोहार की भट्टी से सोना, वैसे ही ज्ञान से शील परिशुद्ध होता है, ज्ञान के जल से धोते हुए शील को परिशुद्ध करता है, और जैसे कि पक्षी अपने अंडे की, चमरी मृग अपनी पूंछ की, एक बेटेवाली मां अपने प्रिय पुत्र की, एकाक्ष पुरुष अपनी एक आंख की रक्षा करता है उसी तरह अत्यंत अप्रमत्त हो अपने शीलस्कंध की रक्षा करता है, सुबह शाम प्रत्यवेक्षण करते हुए जरा भी पाप नहीं देखता है, वह अर्थकुशल है।

और भी जो पश्चात्ताप उत्पन्न करनेवाले शीलों में न प्रतिष्ठित हो, कामुकता दूर करनेवाले मार्ग का ग्रहण करता है, उसको ग्रहण कर आलंबन (चित्त एकाग्र करने के लिए कृत्स्न) की व्यवस्था करता है, उसकी व्यवस्था कर आठ समापत्तियों को उत्पन्न करता है– वह भी अर्थकुशल है, कल्याणकारी बातों को पता लगाने में दक्ष है। और जो समापत्ति से उठ संस्कारों को अच्छी तरह समझ अर्हत्व प्राप्त करता है, वह अर्थकुशलों में अग्र है– प्रथम है।

यहां जो इन पश्चात्ताप उत्पन्न न करनेवाले शीलों में प्रतिष्ठित होने से, कामुकता दूर करनेवाले मार्ग को ग्रहण करने से, मार्ग फल पाकर प्रशंसित होने से अर्थकुशल हैं, वे इस अर्थ में अर्थकुशल हैं– यह यहां अभिप्रेत है। वैसे ही वे भिक्षु हैं। इसलिए भगवान ने उन भिक्षुओं के बारे में एक व्यक्ति को अधिष्ठान कर दिये गये देशना के संदर्भ में **'करणीयमत्थकुसलेनाति'** आदि कहा।

तब उनमें उत्पन्न शंकाओ को जैसे क्या करणीय है कहा– **'यन्तं सन्तं पदं अभिसमेच्च–** यहां यह अभिप्राय है– बुद्धानुबुद्ध द्वारा वर्णित उस शांत निर्वाण पद का प्रतिवेधन कर, पूरी तरह समझकर, विहार करने की इच्छा से जो करणीय है। यहां **यं** से इस गाथा पाद के प्रारंभ में जो करणीय कहा गया है उसे समझना चाहिए। अधिकार से (पाद प्रबंध से) जो बाद में आता है उस शांत पद को भली-भांति

समझकर। चूंकि यह सावशेष पाठ अर्थ है, इसलिए **'विहरितुकामेन'** कहा गया है– यह जानना चाहिए।

अथवा **सन्तं पदं अभिसमेच्च–** लोगों आदि से सुनकर, लौकिक प्रज्ञा से शांत निर्वाणपद को जानकर, उसको प्राप्त करने की इच्छा से जो करणीय है उसे कर्त्तव्य समझ कर उसका अनुसरण करता है वैसा ही अर्थकुशल होने से– यही यहां अभिप्राय जानना चाहिए। अथवा **करणीयमत्थकुसलेन** कहे जाने पर 'क्या है' यह सोचनेवालों को कहा– **यन्तं सन्तं पदं अभिसमेच्च।** उसका यह अभिप्राय जानना चाहिए– लौकिक प्रज्ञा से शांत पद (निर्वाण) को भली-भांति समझकर जो करणीय है, उसको; जो कर्त्तव्य है, वही करणीय है, करने के योग्य को ही **'तं'** कहा गया है।

जो करणीय है वह क्या है? उसको प्राप्त करने के उपाय के बिना अन्य क्या हो सकता है?

यहां आदि पद से करने योग्य तीन शिक्षापदों को इच्छानुसार करने कहा गया है। वैसे ही उसके अर्थ की व्याख्या में हमलोगों ने कहा 'करणीय भी है और अकरणीय भी है।' यहां संक्षेप में तीन शिक्षापद करणीय हैं, पालनीय हैं। बहुत संक्षेप में देशना देने के कारण उन भिक्षुओं में कुछ ने समझा, कुछ ने नहीं समझा। तब जिन्होंने नहीं समझा, उनको समझाने के लिए जो विशेष आरण्यक भिक्षु द्वारा कर्तव्य है उसका विस्तार करते हुए **"सक्को उजू च सुहुजू च, सुवचो चस्स मुदु अनतिमानी"**ति (सु० नि० २५०) यहां यह आधी गाथा कही।

क्या कहा गया है? शांत पद को लौकिक प्रज्ञा से भली-भांति समझकर, उसको प्राप्त करने के लिए मार्ग पर चलते हुए आरण्यक भिक्षु ध्यान के द्वितीय चतुर्थ प्रयत्न के अंगों[1] से युक्त हो जीवित रहने की बिना अपेक्षा किये सत्य के प्रतिवेधन के लिए मार्गारूढ़ हो सामर्थ्यवान होवे। उसी प्रकार ध्यान को एकाग्र करने के लिए आलंबन की व्यवस्था का व्रत लेने में, अपने पात्र चीवर की मरम्मत करने में या अपने ब्रह्मचारियों के साथ क्या-क्या करने हैं उनमें तथा इस प्रकार अन्यों में भी सामर्थ्यवान, दक्ष, अनालसी तथा, समर्थ होवे, ऋजु होवे, सीधा होवे। सामर्थ्यवान होकर भी तृतीय प्रयत्न के तत्त्व से ऋजु हों। ऋजु होकर भी एकबार ऋजुभाव से संतोष न पैदा कर जीवन भर बार-बार बिना ढिलाई किये, बिना शिथिल हुए अच्छी तरह से ऋजु होवे। अशठता से सरल और अमायाविता से अति सरल और मनोकर्म के टेढ़ेपन अर्थात दुष्कर्मों का प्रहाण करने से अति सरल। कायिक वाचसिक कर्मों के टेढ़ेपन को अर्थात दुष्कर्मों को प्रहाण करने से अच्छी तरह सरल। असाधु के गुण को प्रकट न करने से सरल तथा असाधु के गुण से उत्पन्न लाभ को नहीं स्वीकारने से अच्छी तरह सरल। इस प्रकार आलंबन तथा त्रिलक्षण पर ध्यान करने से प्रथमतः द्वितीय तृतीय शिक्षापदों से सरल और प्रयोगाश्रय (साधन) शुद्धियों से अच्छी तरह सरल होवे।

न केवल सरल एवं अति सरल, बल्कि **सुब्बचो च अस्स** अर्थात सुवच अर्थात वैसा व्यक्ति होवे जो कहे गये को सुने, जो बात को माने, काटे नहीं। जो व्यक्ति यह कहे जाने पर कि 'ऐसा नहीं करना चाहिए' ऐसा कहता है कि 'क्या तुमने देखा, क्या तुमने सुना, तुम मेरे क्या लगते हो जो बोलते हो, क्या तुम मेरे उपाध्याय हो, आचार्य हो, मित्र हो या दोस्त हो?' या चुप होकर उसको कष्ट देता है, परेशान करता है, बात सुनकर स्वीकार कर वैसा नहीं करता है, वह विशेष को प्राप्त करने से दूर है

१. पधानियअङ्ग पांच हैं– सद्धो, अप्पाबाधो, असठो, आरद्धविरियो और पञ्ञवा। इनके अतिरिक्त पारिसुद्धि पधानिय अङ्ग हैं– सीलं, चित्त, दिट्ठि, विमुत्ति विशुद्धियां और कङ्खा वितरण, मग्गामग्गञाणदस्सन, पटिपदाञाणदस्सन, ञाणदस्सन और पञ्ञा विसुद्धि।

अर्थात विशेष की प्राप्ति वह देर से करता है। किंतु जो उपदेश या सलाह दिये जाने पर ऐसा कहता है कि 'ठीक है, भंते, आपने अच्छा कहा, अपना दोष देखना कठिन होता है, भविष्य में आप मुझको ऐसा करते देखें तो कृपा करके कहें, बहुत दिन हुए मुझको आप का उपदेश प्राप्त किये' उनकी शिक्षा के अनुसार मार्गारूढ़ होता है, वह विशेष को प्राप्त करने के निकट है अर्थात वह शीघ्र विशेष की प्राप्ति करता है।

जैसा सुवच, उसी प्रकार **मुदु अस्स–** मृदु (कोमल) होवे।

मुदु– गृहस्थों द्वारा दूत बनाकर भेजे जाने तथा समाचारवाहक के रूप में नियुक्त दूत बनाकर भेजे जाने पर वहां कोमलता का भाव न दिखाकर कठोर हो सभी कर्तव्य तथा पूरे ब्रह्मचर्य में उस तरह मृदु होवे जैसे अच्छी तरह पोलिश किया गया सोना जो कहीं भी व्यवहृत होने की क्षमता रखता है। अथवा **मुदु–** जो भृकुटि टेढ़ी करनेवाला नहीं है, मिलनसार है। जो साफ-साफ बोलनेवाला है, जिसकी बात स्पष्टता से समझ में आ जाती है, जिसके साथ बात करना सुखकर लगे, जो मित्रवत आचरण करने की वृत्तिवाला हो, जो सुतीर्थ के समान आसानी से अवगाहन करने योग्य है। न केवल मृदु, बल्कि **अनतिमानी** (निरहंकारी) होवे, जाति, गोत्र आदि के घमंड से दूसरों को घृणा की दृष्टि से न देखे, अनादर, तिरस्कार, अवमानना न करे, सारिपुत्त थेर की तरह चांडाल कुमार के साथ मन से विहार करे।

इस प्रकार भगवान ने शांत पद को भली-भांति समझकर विचरण करने की इच्छावाले को, उसको प्राप्त करने के लिए मार्गारूढ़ होनेवाले को, विशेष कर आरण्यक भिक्षु को कुछ करणीय बातें कहकर फिर उसके बाद भी कहने की इच्छा से **'सन्तुस्सको च'** आदि द्वितीय गाथा कही।

१४४. सन्तुस्सको च सुभरो च, अप्पकिच्चो च सल्लहुकवुत्ति।
सन्तिन्द्रियो च निपको च, अप्पगब्भो कुलेस्वननुगिद्धो।

"जो संतुष्ट है, आसानी से जिसका भरण हो सके, जिसके पास करने को बहुत नहीं है और जो कम खर्च करनेवाला है, जिसकी इंद्रियां शांत हैं, जो दक्ष तथा निरभिमानी है तथा जो कुलों में भिक्षा मांगते समय लोभ नहीं करता।"

'संतुष्टि और कृतज्ञता' यहां कहे गये बारह प्रकार के संतोष के भेद से जो संतुष्ट होता है उसी को **सन्तुस्सको** अर्थात संतोषी कहते हैं। अथवा जो तुष्ट होता है वह तुष्ट है। अपनी निजी संपत्ति से तुष्ट होता है, जो अपने पास है उसी से संतुष्ट होता है, इष्ट तथा अनिष्ट में क्रमशः राग तथा द्वेष प्रहाण करता तुष्ट होता है वह संतुष्ट है। यहां **सकं** कहते हैं जो भिक्षाटन से प्राप्त भोजन का आश्रय ले (महाव० ७३), उस पर निश्रित हो, इस प्रकार उपसंपदा प्राप्त करने की जगह में बताये गये तथा अपने से स्वीकार किये गये चार प्रत्ययों से उत्पन्न (जो तुष्टि है)। वह सुंदर हो या असुंदर, आदर से दिया गया हो या बिना आदर के, ग्रहण करने के समय या उपयोग के समय किसी प्रकार का विकार या विकृति न दिखा जो जीवन यापन करता है उसी को 'अपनी संपत्ति से ही तुष्ट' कहते हैं।

सन्तं कहते हैं जो प्राप्त हुआ है, जो अपने पास विद्यमान है उसी से तुष्ट हो दूसरे की इच्छा न करते हुए अत्रिच्छता (अत्यंत लोभ) को छोड़ते हुए अपनी निजी संपत्ति से चाहे जितनी हो तुष्ट होनेवाले को **सन्तेन तुस्सको** कहते हैं। **समं** कहते हैं अनुकुल तथा प्रतिकूल में क्रमशः राग तथा द्वेष का प्रहाण

करना। सभी आलंबनों में सम भाव से संतोष करनेवाले को **'समेन तुस्सको'** कहा जाता है।

आसानी से जिसका भरण हो सके वह **सुभरो** है, इसी को **सुपोसो** अर्थात आसानी से पोषित होनेवाला कहा गया है। जो भिक्षु भात मांस को पात्र में भर दिये जाने पर भी अप्रसन्न तथा असंतुष्ट भाव दिखाता है, उसको (देनेवाले को) सामने (यह कह कि) तुमने क्या दिया है, अप्रसन्नता व्यक्त करता है– वह आसानी से भरण करने योग्य नहीं है अर्थात दुर्भर है। ऐसे भिक्षु को देखकर लोग दूर से ही टरकाते हैं 'दुर्भर भिक्षु को पोसना बड़ा कठिन है।'

किंतु जो रूखा-सूखा या स्वादिष्ट भोजन अल्प या बहुत पाकर संतुष्ट हो, प्रसन्न मुख जीवन यापन करता है– वह सुभर है। ऐसे भिक्षु को देखकर लोग बहुत विश्वस्त होते है– 'हमारे भदंत सुभर हैं, थोड़े में ही संतुष्ट होते हैं– इनका पोषण हमलोग ही करेंगे।' ऐसी प्रतिज्ञा कर उन्हें पोसते हैं।

इस प्रकार के सुभर भिक्षु यहां अभिप्रेत हैं।

जिसको काम करने के लिए कम है, अर्थात जो बहुधंधी नहीं है वह **अप्पकिच्चो** है। दुनियावी कामों में, बेकार की बातचीत में, समूह में रहने आदि अनेक कृत्यों में जो संलग्न नहीं है। अथवा पूरे विहार को मरम्मत करने के काम से, संघ को कराये जानेवाले भोजन से, श्रामणेर तथा विहार सेवकों को शासित करने आदि के काम से विरहित हो, अपना केश, नख काट कर उसके लिए पात्र चीवर आदि की व्यवस्था कर श्रमण धर्म करनेवाला होता है– उसके लिए ऐसा कहा गया है।

जिसको काम कम हैं अर्थात जिसके धंधे कम हैं वह **सल्लहुक** है। कोई बहुत सामानवाला भिक्षु बाहर से लौटते समय बहुत पात्र, चीवर, बिछाने की चादर, तेल, गुड़ आदि को बहुत लोगों द्वारा सर पर तथा कमर आदि पर उठवाकर लौटता है, इस प्रकार न होकर जो अल्प परिष्कारवाला है, पात्र चीवर आदि श्रमण के लिए जो आठ परिष्कार हैं उन्हें ही संभालता है, बाहर से लौटते समय पक्षी जिस तरह अपने दो डैनों के साथ लौटता है उसी तरह भिक्षु इन्हें अच्छी तरह संभालते हुए लौटता है, इस प्रकार के भिक्षु **सल्लहुकवुत्ति** हैं– यह अभिप्राय है– जिसकी इंद्रियां शांत हैं वह **सन्तिन्द्रियो** है अर्थात जिसकी इंद्रियां अनुकूल आलंबन पाने पर भी राग आदि के कारण अनुद्धत, अचंचल है– यह कहा गया है। **निपको–** ज्ञानी, प्रज्ञावान, शील के अनुरक्षण करने, चीवर आदि की व्यवस्था करने तथा आवास आदि सप्त लाभप्रद वस्तुओं के बारे में सम्यक रूप से जानने की प्रज्ञा से समन्वागत होना– यह अभिप्राय है।

प्रगल्भ नहीं होना **अप्पगब्भो** है। आठ स्थानों में काय प्रगल्भता से, चार स्थानों में वाचसिक प्रगल्भता से, तथा अनेक स्थानों में मानसिक प्रगल्भता से जो विरहित है– यह अर्थ है।

आठ स्थानों में होनेवाली कायप्रगल्भता (महानि० ८७) संघ में, गण में, पुद्गलों के बीच, भोजनालय में, स्नानगृह में, भिक्षाचार मार्ग में तथा घर के भीतर प्रवेश करने में शरीर से भिक्षु के अनुरूप आचरण नहीं करना, निन्मोक्त के अनुसार– कोई संघ में पालथी मारकर, पैर पर पैर रखकर तथा इस प्रकार और तरीके से बैठता है, उसी तरह गण के बीच में। गण के बीच का अर्थ है भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिका के सन्निपतित होने पर, वैसे ही बूढ़े व्यक्तियों के एकत्र होने पर। भोजनालय में बूढ़ों को आसन नहीं देता, नये प्रव्रजित भिक्षुओं के आसन को हटा देता है वैसे ही भाप से नहाने के घर में। यहां बूढ़ों को बिना पूछे ही आग जला देता है। स्नान तीर्थ में 'युवा या बूढ़ा में भेद न कर जो पहले आयगा,

वह स्नान करेगा' यह जो कहा गया है, उस पर बिना ध्यान दिये पीछे आकर भी पानी में उतरकर बूढ़ों तथा नये प्रव्रजितों को बाधा पहुंचाता है। भिक्षाचार के मार्ग में पहले आसन, जल तथा भिक्षा के लिए बूढ़ों के आगे-आगे अपनी बांह से (उन लोगों की) बांह टकराते हुए जाता है; घर के भीतर प्रवेश करने के समय भी बूढ़ों से पहले प्रवेश करता है और युवा भिक्षुओं के साथ काय-क्रीड़ा करता है।

चार स्थानों में होनेवाली वाचसिक प्रगल्भता– संघ में, गण में, व्यक्तियों में, घर के भीतर प्रवेश करने में भिक्षु के अननुरूप बोली बोलना– निम्नोक्त के अनुसार– कोई संघ के बीच बिना पूछे धर्मोपदेश करता है; वैसे ही पूर्व में कहे गये गण को तथा बूढ़े व्यक्तियों को। वहां लोगों द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर बूढ़े व्यक्तियों को बिना पूछे ही उसका विसर्जन करता है, उसका उत्तर देता है। घर के भीतर 'इस नाम का क्या है, क्या यागु है या कोई खाद्य भोज्य पदार्थ, क्या मुझे दोगे, मैं आज क्या खाऊंगा, क्या भोजन करूंगा, क्या पीऊंगा' इस तरह की बातें करता है।

अनेकट्ठानेन मनोपागब्भियं मानसिक प्रगल्भता उसको कहते हैं कि उन-उन स्थानों पर कायिक तथा वाचसिक दुराचरण न कर भी मन से भिक्षु के अयोग्य काम वितर्क आदि नाना प्रकार के वितर्क करना।

कुलेस्वननुगिद्धो– जिन कुलों में जाता है, उनमें चार प्रत्ययों की तृष्णा या प्रतिकूल गृहस्थ संसर्ग या सहवास की तृष्णा नहीं करता, लोभ नहीं करता। न उसके साथ शोक मग्न होता है, न आनंद मनाता है, न सुख में सुखी, न दुःख में दुःखी और न किसी कार्य के उत्पन्न होने पर अपना सहयोग देता है– यह कहा गया है। इस गाथा में जो "सुवचो चस्सा"ति यहां कहा गया है उसमें जो 'अस्स' है, उसको सब पदों के साथ जोड़ना चाहिए जैसे "सन्तुस्सको च अस्स, सुभरो च अस्सा"ति।

१४५. न च खुद्दमाचरे किञ्चि, येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं।
सुखिनो वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता॥

"कोई ऐसा हीन या गलत आचरण नहीं करे, जिसे करने पर बुद्धिमान व्यक्ति बाद में उसकी आलोचना करें। सभी प्राणी सुखी हों, क्षेमयुक्त हों।"

इस प्रकार भगवान ने शांत पद को भलीभांति समझकर विहार करने की इच्छावाले तथा उसको प्राप्त करने के लिए मार्गारूढ़ होनेवाले विशेषतः 'आरण्यक भिक्षु को उससे भी आगे क्या करणीय है– यह बताकर अब क्या अकरणीय है' बताने की इच्छा से **"न च खुद्दमाचरे किञ्चि, येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं"न्ति–** यह आधी गाथा कही। उसका अर्थ यह है– इस प्रकार करणीय को करते हुए जो कायिक, वाचसिक एवं मानसिक दुराचरण है जिसे क्षुद्र, निकृष्ट या हीन कहा जाता है, उस हीन आचरण को न करे। सिर्फ जो स्थूल है उसे ही न करे बल्कि कुछ भी निकृष्ट न करे थोड़ा या रंचमात्र भी 'निकृष्ट' न करे यह कहा गया है।

उसके बाद उसके आचरण में इसी जीवन में होनेवाले खतरे को दिखाते हैं। **येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं–** यहां चूंकि जो विद्वान नहीं है, वे दूसरे के लिए प्रमाण नहीं हो सकते। वे दोषपूर्ण नहीं हैं निर्दोष हैं उनको दोषपूर्ण बनाते हैं और जो कम दोषवाला है उसको महादोषवाला कहते हैं। विद्वान ही प्रमाण हैं। वे ही परीक्षण कर गहराई में डुबकी लगा अर्थात बातों की तह में जा निंदनीय की निंदा

करते हैं और प्रशंसनीय की प्रशंसा, इसलिए विञ्ञू परे कहा गया है।

इस प्रकार भगवान ने ढाई गाथाओं द्वारा शांत पद को भली-भांति समझ विहार करनेवाले भिक्षु को, उसको प्राप्त करने के लिए मार्गारूढ़ होनेवाले भिक्षु को विशेषतः आरण्यक भिक्षु को आरण्यक हो सभी कर्मस्थानों को ग्रहणकर विहार करनेवाले भिक्षुओं को क्या करणीय है, क्या अकरणीय है यह भेद बता कर्मस्थान का उपचार कह, अब उन भिक्षुओं को उस देवता के भय से संघर्ष करने के लिए परित्त के लिए तथा विपश्यना उत्पादक ध्यान के कर्मस्थान के लिए **'सुखिनो व खेमिनो होन्तु'** आदि तरीके से मेत्तकथा कहना आरंभ किया।

यहां **सुखिनो–** सुख से समन्वित लोग,

खेमिनो– क्षेम से युक्त लोग, भय तथा उपद्रव से रहित लोग कहे गये हैं,

सब्बे– सभी, बिना किसी को छोड़े,

सत्ता– प्राणी,

सुखितत्ता– सुखी चित्तवाले,

यहां कायिक सुख से सुखी, मानसिक सुख से सुखी चित्तवाले, इन दोनों से, सभी भय तथा उपद्रव से रहित होने से 'क्षेम से युक्त लोग' जानना चाहिए। ऐसा क्यों कहा गया है? मेत्ता भावना कैसी है इसको दिखाने के लिए। इस प्रकार मेत्ता भावना करनी चाहिए, 'सभी प्राणी सुखी हों' 'कुशल क्षेम से युक्त हों' या 'सुखी चित्तवाले हों।'

१४६. ये केचि पाणभूतत्थि, तसा वा थावरा वनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा, मज्झिमा रस्सका अणुकथूला॥

"जो भी प्राणी हैं स्थावर या जंगम, लंबा या बड़ा और मंझले आकार का या नाटा, छोटा या स्थूल सभी बिना अपवाद के।"

इस प्रकार जहां तक उपचार समाधि है वहां तक संक्षेप में मेत्ता भावना को दिखाकर अब विस्तार से दिखाने के लिए **'ये केचि'** से प्रारंभ होनेवाली दो गाथाएं कहीं।

अथवा चूंकि विविध आलंबनों से परिचित चित्त प्रारंभ में एकाग्र नहीं हो पाता है, आलंबन भेद का अनुगमन कर क्रम से एकाग्र होता है, स्थित होता है, इसलिए उसका स्थावर जंगम आदि दो प्रकार या तीन प्रकार के आलंबन भेद से अनुगमन कर एकाग्रता या स्थिरता के लिए 'ये केचि' से प्रारंभ होनेवाली दो गाथाएं कहीं। अथवा चूंकि जिसको जो आलंबन होता है, उसका चित्त उसमें आसानी से स्थित होता है, एकाग्र होता है। इसलिए उन भिक्षुओं को जो-जो आलंबन स्पष्ट था, उसमें उनके चित्त को एकाग्र करने की इच्छा से स्थावर जंगम आदि दो या तीन प्रकार के आलंबन भेद को बतानेवाली **ये केचि** से प्रारंभ होनेवाली दो गाथाएं कहीं।

यहां आलंबन की चार जोड़ियां हैं– स्थावर-जंगम, दृष्ट-अदृष्ट, दूर-निकट और उत्पन्न-अनुत्पन्न दीर्घ आदि ६ पदों से मध्यम पद के तीनों में अणुकपद के दोंनों त्रिकों में तीन, यहां **ये केचि** सभी, अनवशेष

वचन है। सांस लेने वाले प्राणी ही जीवितप्राणी हैं। अथवा सांस लेता है इसलिए प्राणी है। इससे आश्वास प्रश्वास में प्रतिबद्ध पंचस्कंधात्मक प्राणियों का ग्रहण किया जाता है। होते हैं इसलिए **भूता।** इससे एक स्कंधात्मक या चार स्कंधात्मक प्राणियों का ग्रहण किया जाता है। **अत्थि–** हैं, विद्यमान हैं।

इस प्रकार **ये केचि पाणभूतत्थि–** कहकर जोड़ी में तथा तीन-तीन में संग्रह करने योग्य सभी प्राणियों को एक ही स्थान पर दिखाकर अब वे सभी **तसा वा थावरा वा 'अनवसेसा'** वाली जोड़ी से संग्रहकर दिखाते हैं।

यहां कांपते हैं, भयभीत होते हैं इसलिए **तसा–** जिनमें तृष्णा है, भय है उसी का यह पर्याय है।

ठहरते हैं इसलिए **थावर–** तृष्णा भय से मुक्त अर्हत का यह पर्याय है। जिसका अवशेष न हो वह **अनवसेसा**। यहां सभी से तात्पर्य है, अनवशेष से। जो द्वितीय गाथा के अंत में कहा गया है, उसका सभी दुकों तथा तिकों से संबंध करना चाहिए। जो सभी जंगम या स्थावर प्राणी हैं, ये सभी प्राणी सुखी चित्तवाले हों। इसी प्रकार जो प्राणी उत्पन्न हुए या जो उत्पन्न होंगे वे सब भी सुखी हों।

अब लंबा, छोटा, मंझला आदि तीन तिकों की व्याख्या करने में **दीघा** आदि छः पदों में **दीघा** का अर्थ दीर्घता का आत्मभाववाला, लंबा शरीर है जैसे सांप, मछली, गोह आदि। महासमुद्र में सांपों का आत्मभाव, उनकी (लंबाई) अनेक सौ व्याम होती है और अनेक मछलियों तथा गोहों का आत्मभाव (शरीर) अनेक योजन होता है।

महन्ता– जो बड़े शरीरवाले हों जैसे जल में मछली, कछुआ आदि, जमीन पर हाथी, सांप आदि और अमनुष्य में दानव आदि। और कहा है शरीरों में सबसे बड़ा राहु का शरीर है (अ० नि० १.४.१५)

उसकी ऊंचाई चार हजार तथा आठ सौ योजन, बांह बारह सौ योजन लंबी, दोनों भौंहों के बीच की दूरी पचास योजन की, उसी तरह अंगुलियों में आलंबन भी। हाथ के तलवे दो सौ योजन थे।

मज्झिमा– घोड़ा, बैल, भैंस, सूअर आदि का शरीर।

रस्सका– उन-उन जातियों में जो बौने अर्थात नाटे हैं– खूब लंबे तथा मंझले आकार के प्राणियों में जो निम्नकोटि के हैं।

अणुका– मांस चक्षु से अगोचर, न दीखनेवाला, जो दिव्य चक्षु के विषय हैं जैसे जल में उत्पन्न सूक्ष्म शरीरधारी प्राणी, जूं आदि और भी जो बड़े आकार या मंझले आकारवाली जातियों में स्थूल, मंझले की तुलना में निम्नकोटि के (नाटे) प्राणी हैं, उन्हें अणुका समझना चाहिए।

थूला जो गोलाकार प्राणी हैं जैसे मछली, कछुआ, सीपी, शंख आदि।

१४७. दिट्ठा वा ये व अदिट्ठा, ये व दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता व सम्भवेसी व, सब्बसत्ता भवन्तु सुखितत्ता॥

"जो दृष्ट हैं या अदृष्ट हैं, दूर में या निकट में रहते हैं, जो हैं या उत्पन्न होनेवाले हैं, सभी प्राणी सुखी हों।"

इस प्रकार तीन तिकों से बिना अपवाद के, बिना शेष के, किसी को छोड़े, सभी प्राणियों को

बताकर अब **'दिट्ठा वा येव अदिट्ठा'** आदि तीन दुकों से उन प्राणियों का संग्रह कर दिखाते हैं।

यहां **दिट्ठा–** जो अपने चक्षु के पथ में आ जाने से पहले देखे गये हों। **अदिट्ठा–** जो दूसरे समुद्र में, दूसरे पर्वत पर, दूसरे चक्रवाल में स्थित हों। **येव दूरे वसन्ति अविदूरे–** इस दुक से अपने से दूर या निकट मे रहनेवाले प्राणियों को बताते हैं।

उन्हें उत्पन्न या नहीं उत्पन्न होनेवाले प्राणी जानना चाहिए। अपने पास रहनेवाले प्राणी निकट हैं और जो अपने से दूर हैं वे दूर में बसते हैं। वैसे ही अपनी काया के भीतर में बसनेवाले निकट में और बाहर बसनेवाले दूर में। अपने विहार, गांव, जनपद, द्वीप तथा चक्रवाल में बसनेवाले निकट में और दूसरे चक्रवाल में रहनेवाले दूर में– रहते हैं– कहा जाता है।

भूता– उत्पन्न, जिन्होंने जन्म ले लिया है। जो हो चुके, पुनः न होंगे ऐसा अभिहित होता है, कहा जाता है– क्षीणाश्रवों का यह पर्याय है। जो उत्पन्न होने की इच्छा करता है वह **सम्भवेसी–** भवसंयोजनों के प्रहीण न होने के कारण भविष्य में उत्पन्न होने की इच्छा करनेवाले शैक्ष्य और पृथकजन का यह पर्याय है।

अथवा चार योनियों में अंडज तथा जलाबुज (गर्भ से उत्पन्न होनेवाले प्राणी, जब तक अंडकोष या गर्भ से बाहर नहीं निकलते **'सम्भवेसी'** कहे जाते हैं। जब ये भेदकर बाहर निकलते हैं भूत कहे जाते हैं। पसीने से पैदा होनेवाले तथा सहजरूप से उत्पन्न होनेवाले को प्रथम चित्तक्षण में **सम्भवेसी**[१] कहते हैं। द्वितीय चित्तक्षण से आगे भूत कहते हैं। जिस किसी भी ईर्यापथ से उत्पन्न होते हैं जब तक ईर्यापथ में वे दूसरे नहीं होते या अन्यरूप ग्रहण नहीं करते वे **सम्भवेसी** कहलाते हैं। उसके बाद वे भूत कहे जाते हैं।

१४८. न परो परं निकुब्बेथ, नातिमञ्ञेथ कत्थचि नं कञ्चि।
ब्यारोसना पटिघसञ्ञा नाञ्ञमञ्ञस्स दुक्खमिच्छेय्य॥

"कोई दूसरे को नीचा न दिखावे, कहीं भी किसी से घृणा न करे, क्रोध तथा द्वेष से दूसरों के दुःख की कामना न करे।"

इस प्रकार भगवान ने **'सुखिनो वा'** से प्रारंभ ढाई गाथाओं द्वारा नाना प्रकार से उन भिक्षुओं के हित सुख की इच्छा करते हुए प्राणियों के प्रति मेत्ता भावना दिखाते हुए अब उनका अहित न हो, उन्हें दुःख न हो– कामना कर उसको दिखाते हुए कहा **'न परो परं निकुब्बेथ'** यह प्राचीन पाठ है– किंतु अब **'परं ही' ति** भी पढ़ते हैं– यह ठीक नहीं है।

यहां **परो–** कोई दूसरा। **परं–** दूसरे को।

न निकुब्बेथ– न ठगे। **नातिमञ्ञेथ–** अधिक अवमानना न करे, न नीचा दिखावे। **कत्थचि–** कहीं भी, गांव में या शहर में या खेत में या संबंधियों के बीच या सभा में। **नं–** यह। **कञ्चि–** जो कोई भी हो, क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहस्थ, प्रव्रजित या सुगति प्राप्त या दुर्गति प्राप्त हो आदि। **ब्यारोसना पटिघसञ्ञा–** कायिक वाचसिक विकार से अर्थात क्रोध से तथा मानसिक विकार से अर्थात द्वेष से।

१. हर मनुष्य एक खास गति पायगा अर्थात उस गति में जन्म लेगा। जब तक उसमें जन्म नहीं ले लेगा, अन्य गति नहीं पा सकता। जब तक वहां जन्म नहीं ले लेता, वह दूसरी गति नहीं पा सकता, दूसरी गति नहीं पाने तक वह सम्भवेसी कहलाता है। जब तक वे 'दूसरा समय जन्म लेने के लिए न पायेंगे' तब तक वे सम्भवेसी कहलायेंगे।

"ब्यारोसनाय पटिघसञ्ञाय" कहे जाने पर ब्यारोसना (क्रोध) पटिघसंज्ञा (द्वेष) को ही कहते हैं जैसे 'सम्मदञ्ञाय विमुत्ता' कहने से 'सम्मदञ्ञा विमुत्ता' जैसे 'अनुपुब्बसिक्खाय, अनुपुब्बकिरियाय, अनुपुब्बपटिपदा' कहने पर अनुपुब्बसिक्खा अनुपुब्बकिरिया और अनुपुब्बपटिपदा कहते हैं। (अ० नि० ३.८.१९; उदा० ४५; चूळव० ३८५)।

नाञ्ञमञ्ञस्स दुक्खमिच्छेय्य– एक दूसरे को दुःख देने की बात न सोचे। क्या कहा गया है? न केवल 'सुखी हो, या क्षेमयुक्त हो' आदि कहकर मन से मेत्ता की भावना करे बल्कि ऐसा विचार करते हुए कि 'निश्चय ही कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को न ठगे, न धोखा दे, जाति आदि नौ प्रकार के अभिमानों से कहीं भी कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति की अवमानना न करे, परस्पर क्रोध से या द्वेष से भी एक दूसरे के दुःख की कामना न करे' इस प्रकार मेत्ता भावना करे।

१४९. माता यथा नियं पुत्तं, आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवम्पि सब्बभूतेसु, मानसं भावये अपरिमाणं॥

"जैसे मां अपना प्राण देकर भी एकलौते बेटे की रक्षा करती है, उसी तरह सभी प्राणियों के प्रति अपरिमाण मैत्री की भावना करनी चाहिए अर्थात वैसे मानस का विकास करे जिसमें अपरिमित मैत्री भाव हो।"

इस प्रकार 'अहित न हो, दुःख न हो' ऐसी कामना से अर्थात मैत्री भावना को दिखाकर अब उसको उपमा से बताते हुए **"माता यथा नियं पुत्त"**न्ति कहा।

उसका अर्थ है– जैसे माता **नियं पुत्तं** अपने औरस पुत्र की, उसकी **एकपुत्तमेव आयुसा अनुरक्खे** उसके दुःख को हटाने के लिए अपने प्राण को भी त्याग कर रक्षा करे, **एवंम्पि सब्बभूतेसु** इदं **मेत्तमानसं भावये–** इस प्रकार सब प्राणियों के प्रति मैत्री भावना करे, बार-बार उत्पन्न करे, बढ़ावे– उसकी भावना असंख्य प्राणियों को आलंबन बनाकर, सभी प्राणियों को बिना एक को भी छोड़े, सभी में मेत्ताभावना परिव्याप्त करते हुए **अपरिमाणं** अपरिमित मात्रा में करे।

इस तरह सभी गुणों से परिपूर्ण मैत्री भावना को दिखाकर अब उसकी वृद्धि को दिखाते हुए **'मेत्तञ्च सब्बलोकस्मि'** कहा।

१५०. मेत्तञ्च सब्बलोकस्मिं, मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियञ्च, असम्बाधं अवेरमसपत्तं॥

"और पूरी दुनिया के प्रति मेत्ता भावना करनी चाहिए। मानस को अपरिमित रूप से बढ़ाना चाहिए, उसकी भावना करनी चाहिए। ऊपर, नीचे तथा तिरछे, बिना बाधा के, बिना बैर के और बिना विरोध के सबके प्रति मेत्ता भावना करें।"

यहां **मिज्जति–** स्नेह करता है और रक्षा करता है इसलिए मित्र, कल्याण कामना से स्नेह करता है, अहित आगमन से रक्षा करता है– यह अर्थ है। मित्रता का भाव मैत्री है,

सब्बस्मिं– बिना किसी को छोड़े अर्थात सबों में,

लोकस्मिं– प्राणी लोक में,

मन में होता है इसलिए **मानसं**। उसको चित्तसंप्रयुक्त होने के कारण ऐसा कहा है।

भावये– बढ़ाये।

जिसका परिमाण न हो वह **अपरिमाणं**। असंख्य प्राणियों को आलंबन बनाने के कारण ऐसा कहा गया है।

उद्धं– ऊपर, इससे अरूपभव का ग्रहण किया जाता है,

अधो– नीचे, इससे 'कामभव' का ग्रहण किया जाता है, **तिरियं–** मध्य में, तिरछे, इससे 'रूपभव' का ग्रहण होता है। **असम्बाधं–** बिना बाधा के, बिना सीमा के। सीमा शत्रु को कहते है, उससे (शत्रु से) संबंधित कहा गया है, अर्थात शत्रु के प्रति भी मेत्ता भावना करनी चाहिए। **अवेरं–** वैर रहित, जब तब भी वैर चेतना के प्रादुर्भाव से विरहित होना– इसे ही बैर विरहित कहा गया है। **असपत्तं–** शत्रु रहित को, सौत रहित को।

मैत्री भावना करनेवाला व्यक्ति मनुष्यों को, मनुष्येतरों को प्रिय होता है, किसी का विरोधी नहीं होता, इसलिए उसके मानस को शत्रुत्व विरहित होने से **'असपत्तं'** कहा जाता है। 'पच्चत्थिको' और 'सपत्तो' दोनों पर्याय हैं। यह पद के अनुसार व्याख्या है।

यह अभिप्रेत अर्थवर्णना है। यह जो 'इस प्रकार सभी प्राणियों के प्रति अपरिमित मात्रा में मैत्री भावना करे' कहा गया है– यहां अभिप्रेत की व्याख्या है। यह अपरिमित मैत्री चित्त लोक में भावित करे, बढ़ाये, विपुलता आदि को प्राप्त कराये। कैसे? **उद्धं अधो च तिरियञ्च– उद्धं** का अर्थ ऊपर, भवाग्र तक ऊपर, **अधो** का अर्थ नीचे अवीचि नरक तक, **तिरियं–** तिरछे शेष दिशाओं तक।

उद्धं– अरूप लोक, **अधो–** काम धातुलोक और **तिरियं** रूपधातु को बिना कुछ बाकी रखे स्पर्श करते हुए। इस प्रकार भावना करते हुए वह मैत्री जो बिना बाधा के, बिना बैर के, बिना शत्रुता के होती है वैसे बाधा वैर और शत्रुता का अभाव करते हुए भावना करे। जो कुछ भावना संपदा प्राप्त हुई है वह सर्वत्र अवसर प्राप्त होने के कारण, **असम्बाधं,** बिना बाधा के। दूसरे को आघात पहुंचाने का जो अपना विचार है उसको निकाल बाहर करने से **अवेरं** अर्थात वैररहित, अपने में जो दूसरों द्वारा पहुंचाया गया आघात है उसको निकाल बाहर करने से **असपत्तं**, बिना शत्रु के, बाधारहित, बिना बैर के, बिना शत्रुता के अपरिमित मैत्री भावना को सभी लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे तीनों में बढ़ाये, भावित करे।

१५१. तिट्ठं चरं निसिन्नो व, सयानो यावतास्स विगतमिद्धो।
एतं सतिं अधिट्ठेय्य, ब्रह्ममेतं विहारमिधमाहु॥

"खड़े होकर या चलते हुए, बैठे या लेटे, जब तक वह आलस्य अनुभव नहीं करता, उसे स्मृति की भावना करनी चाहिए। लोग कहते हैं सति की भावना करना ही ब्रह्मविहार है।"

इस प्रकार मैत्री भाव के लिए वृद्धि दिखाकर अब उस भावना से युक्त विहार करनेवाले के ईर्यापथ में नियम की कोई पाबंदी नहीं है इसे दिखाते हुए **'तिट्ठं चरं... अधिट्ठेय्य'** कहा।

उसका अर्थ यह है– इस प्रकार इस मैत्री चित्त की भावना करते हुए वह 'पालथी मारकर, देह को सीधा रख आसन पर बैठता है' (दी० नि० २.३७४; म० नि० १.१०७; विभ० ५०८) आदि नियम से पाबंद न हो एक उत्पन्न बाधा को दूर करते हुए खड़े होकर, चलते हुए बैठे या लेटे, जब तक वह आलस्य अनुभव नहीं करता इस मैत्री ध्यान को, मैत्रीभावना को करे।

अथवा इस प्रकार मैत्री भावना की वृद्धि दिखाकर अब भावना में लगे विहार करनेवाले में ईर्यापथ नियम का अभाव दिखाते हुए कहा। खड़े हुए, चलते हुए, बैठे या लेटे जिस किसी ईर्यापथ में इस मैत्री भावना को करनेवाला होता है। अर्थात मैत्रीभाव कभी भी किसी भी ईर्यापथ में की जा सकती है।

अथवा चाहे वह खड़ा हो या चले, उसके लिए कोई भी ईर्यापथ बाधा नहीं बनता, विघ्न नहीं बनता, बल्कि वह, जहां तक इस मेत्ता भावना को करने का दृढ संकल्प करता है, वहां तक आलस्य रहित हो भावना करता है, उसको उसमें आलस्य नहीं होता। इसलिए कहा– **"तिट्ठ चरं निसिन्नो व सयानो, यावतास्स वितमिद्धो। एतं सतिं अधिट्ठेय्या"**ति।

उसका अभिप्राय यह है– जो यह कहा गया कि 'पूरे संसार में मैत्री चित्त की भावना करनी चाहिए, उसकी भावना वैसी करनी चाहिए, जिस स्थान पर या जैसी ईर्यापथ में वह हो। स्थान आदि का ख्याल न कर जहां तक मैत्री चित्त की भावना करने का दृढ संकल्प करनेवाला होता है, वहां तक आलस्य रहित हो इस स्मृति का अधिष्ठान करे।'

इस प्रकार मैत्री भावना पर वश दिखाते हुए 'इस स्मृति का अधिष्ठान करे' उस मैत्री विहार में अपने को लगाते हुए अब उस विहार की प्रशंसा करते हुए **'ब्रह्ममेतं विहारमिधमाहु'** अर्थात इसी को ब्रह्मविहार कहते हैं।

इसका अर्थ– जो यह **'सुखिनो वा खेमिनो होन्तु'** से प्रारंभ कर **'एवं सति अधिट्ठेय्य** से संवर्णित जो मेत्ताविहार है, इन चारों दिव्य, ब्रह्म, आर्य और ईर्यापथ विहारों में निर्दोषिता के कारण तथा अपने और दूसरे के कल्याण करने के कारण यहां आर्य धर्म विनय में ब्रह्मविहार कहा गया है, श्रेष्ठ विहार कहा गया है। चूंकि सतत, निरंतर, चाहे खड़ा हो, चले, बैठे या लेटे या जब तक उसको आलस न आ जाय, उसे इस स्मृति का अधिष्ठान करना चाहिए।

१५२. दिट्ठिञ्च अनुपगम्म, सीलवा दस्सनेन सम्पन्नो।
कामेसु विनेय्य गेधं, न हि जातुगब्भसेय्यं पुनरेती ति॥

"मिथ्या दृष्टि न रख, जो शीलवान तथा दर्शनसंपन्न है, जिसने कामेच्छा पर विजय पा ली है, वह निश्चय ही गर्भ में पुनः नहीं सोता।"

इस प्रकार भगवान ने उन भिक्षुओं को नाना प्रकार से मैत्री भावना बताकर अब चूंकि प्राणियों के आलंबन होने के कारण मेत्ता आत्मवाद के लिए आसन्न कारण होती है, इसलिए दृष्टिग्रहण का निषेध करते हुए उन भिक्षुओं को उसी प्रकार मेत्ता ध्यान उत्पन्न कर आर्यभूमिप्राप्ति को बताते हुए **'दिट्ठिं च अनुपगम्म'** आदि कहा। इस गाथा से देशना समाप्त की।

इसका अर्थ यह है– 'इसे ही ब्रह्मविहार कहते हैं' यह कहकर जो यह मेत्ता ध्यान विहार की

प्रशंसा की गयी है उससे उत्पन्न जो वितर्क विचार आदि धर्म हैं, वे, उनकी उत्पत्ति के अनुसार रूप धर्म में परिगृहीत कर इस तरह नाम रूप के परिच्छेद से 'यह शुद्ध संस्कार का पुंजमात्र' है (यह जानना चाहिए)– यहां सत्ता की उपलब्धि नहीं होती (सं० नि० १.१.१७१) अर्थात यहां कोई नित्य प्राणी नहीं है– इस तरह की मिथ्या दृष्टि में न आकर क्रमशः लोकोत्तर शील से शीलवान हो, लोकोत्तर शील से संप्रयुक्त होने से श्रोतापत्तिमार्ग रूपी सम्यक दृष्टि से संपन्न होने पर दर्शन से संपन्न कहा गया है। उसके बाद जो भी वस्तुकाम में, लोभ और क्लेशकाम अप्रहीण होता है वह भी सकृदागामी तथा अनागामी मार्ग से पतला कर, क्षीण कर, अनवशेष प्रहाण से (पूरी तरह प्रहाण कर) कामों में लोभ का विनयन कर, लोभ को दूर हटा शांत कर, **न हि जातु गब्भसेय्यं पुनरेति** फिर गर्भ शय्या में नहीं सोता है– अर्थात निश्चय ही फिर गर्भ में नहीं आता है, शुद्धावास लोक में जन्म ग्रहण कर वहीं अर्हत्व प्राप्त कर परिनिर्वाण प्राप्त करता है।

इस प्रकार भगवान ने देशना समाप्त कर उन भिक्षुओ को कहा, 'भिक्षुओ, जाओ, उसी वनखंड में रहो, विहार करो। इस सुत्त को महीने में आठ दिन के जो धर्म श्रवण दिवस हैं उन दिनों घंटा बजाकर झंडा फहराओ। धर्मकथा करो, चर्चा करो, अनुमोदन करो, इसी कर्मस्थान का अभ्यास करो, इसकी भावना करो, इसे बहुलीकृत करो। वे मनुष्येतर प्राणी निश्चय ही उस भय भैरव को न दिखा सकेंगे, निश्चय ही यह तुम्हारे लिए हितकर और कल्याणकर होगा।' वे भिक्षु भगवान को 'अच्छा, भंते', कह सहमत हो, आसन से उठ, भगवान का अभिवादनकर, प्रदक्षिणा कर वहां गये और जैसा कहा गया था, वैसा ही किया। देवता भी यह सोच कि 'पूज्य भिक्षुगण हमारी भलाई तथा कल्याण चाहनेवाले हैं' खुश हुए और प्रीति से भर कर स्वयं निवास स्थान में झाड़ू लगाते, गर्म जल की व्यवस्था करते, पीठ तथा पैर रखने की व्यवस्था करते, पहरे की व्यवस्था करते अर्थात पहरेदार को तैनात करते। उन सभी भिक्षुओं ने वहां ही मेत्ता भावना करते हुए उसी को आधार बना विपश्यना का आरंभ कर वहीं तीन महीने के अंत में अग्रफल अर्हत्व प्राप्तकर महापवारणा से विशुद्धि पवारणा किया।

इस प्रकार अर्थकुशल (कुशल बताने में दक्ष) धर्मेश्वर तथागत द्वारा कहे गये करणीय को कर, हृदय की परम शांति का अनुभव कर, शांतपद को पूर्ण प्रज्ञावाले भली-भांति समझते हैं। इसलिए उन आर्यों के प्रिय अद्भुत अमृत को, शांतपद को भलीभांति समझकर विहार करने की इच्छावाले विद्वान पुरुष जिसकी प्रज्ञा शील समाधि से विमल हुई है क्या सदा करणीय है उसको अलग करे, जाने।

मेत्तसुत्तवर्णना समाप्त।

९. हेमवतसुत्तवर्णना

'अज्ज पन्नरसो' से प्रारंभ होनेवाला **हेमवतसुत्त** है। इसकी क्या उत्पत्ति है? प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर के रूप में। हेमवत द्वारा पूछे जाने पर भगवान ने 'छसु लोको समुप्पन्नो' आदि कहा। यहां 'अज्ज पन्नरसो' आदि सातागिर द्वारा कहा गया। 'इति सातागिरो' आदि संगीतिकारों द्वारा, 'कच्चिमनो' आदि हेमवत द्वारा 'छसु लोको' आदि भगवान द्वारा कहा गया और इन सब को मिला कर हेमवत सुत्त कहा जाता है। कुछ इसे सुत्त भी कहते है।

यहां जो यह **'अज्ज पन्नरसो'** ति आदि गाथा है, इसकी क्या उत्पत्ति है?

इस भद्रकल्प में जब मनुष्य की आयु बीस हजार वर्ष की होती थी तो सोलह हजार वर्ष की आयु तक जीवित रहने के बाद सम्यक संबुद्ध भगवान काश्यप के परिनिर्वाण प्राप्त करने पर बड़े आदर के साथ उनकी अंत्येष्टि की गयी। उनकी धातु बिना बिखरे सोने के स्कंध की तरह ठोस हो खड़ी हुई। लंबी उम्र तक जीनेवाले बुद्धों की यही धर्मता है। कम आयु तक जीवित रहनेवाले बुद्ध का महापरिनिर्वाण चूंकि बहुत लोगों द्वारा बिना देखे ही हो जाता है, इसलिए धातु-पूजन कर वहां-वहां के लोग पुण्य उपार्जन करें ऐसी अनुकंपा कर 'धातु बिखरे' ऐसा संकल्प (बुद्ध) करते हैं। इसलिए उनकी धातुएं स्वर्णचूर्ण की तरह बिखर जाती हैं जैसे हमारे भगवान की (बिखरीं)।

लोगों ने उन भगवान का एक धातु– घर बनाकर वहां चैत्य की स्थापना की जो ऊंचाई तथा घेरे में एक योजन का था। एक-एक गावुत की दूरी पर उसमें चार द्वार थे। राजा किकी ने एक द्वार पर कब्जा कर लिया, दूसरे पर उनके बेटे पठविंधर ने, तीसरे पर सेनापति प्रमुख अमात्य ने और चौथे पर प्रमुख श्रेष्ठी ने।

उन्होंने पीली हरताल तथा संखिया का लेप लगा, सुगंधित तेल से साफ करा, उस चैत्य को प्रतिष्ठापित किया।

इस प्रकार चैत्य के प्रतिष्ठित होने पर दो कुलपुत्र, जो मित्र थे, घर से बेघर हो सभी योग्य श्रावकों के सम्मुख प्रव्रजित हुए। लंबी उम्रवाले बुद्धों के सामने श्रावक ही प्रव्रज्या देते हैं, उपसंपदा देते हैं और निश्रय देते हैं, दूसरे जो (सामने नहीं होते) प्राप्त नहीं करते हैं। उसके बाद उन कुलपुत्रों ने पूछा, 'भंते, बुद्ध शासन में कितने उत्तरदायित्व हैं?' थेरों ने कहा, 'दो हैं' **'वासधुर'** और **'परियत्ति धुर'**। यहां प्रव्रजित कुलपुत्र द्वारा आचार्य तथा उपाध्याय के पास पांच वर्ष रह सभी कर्तव्य पूरा कर, प्रातिमोक्ष का तथा दो तीन भाणवार सुत्त का अभ्यास कर, कर्मस्थान सीख, कुल या गण में न रह जंगल में प्रवेश कर अर्हत्व के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होना, परिश्रम करना **वासधुर** है। अपनी शक्ति से एक निकाय का अध्ययन कर, दो या पांच निकायों में धर्मग्रंथ को याद करने तथा उनके अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिए बुद्ध शासन (शिक्षा, सिद्धांत) में अपने को लगाना **परियत्तिधुर** है। अब उन दो कुलपुत्रों ने 'दोनों धुरों में वासधुर श्रेष्ठ है' कह, फिर यह कह कि 'हमलोग अभी युवक हैं, जब वृद्ध होंगे तो

वासधुर पूरा करेंगे, तब तक परियत्तिधुर पूरा करेंगे' ऐसा विचार कर परियत्ति सीखना आरंभ किया। वे स्वभाव से ही प्रज्ञावान थे इसलिए शीघ्र ही पूरे बुद्धवचन में स्वाभाविक रूप से कुशल ज्ञाता और विनय में बहुत अधिक विनिश्चयकुशल हुए अर्थात विनय में क्या ठीक है, क्या गलत है– इसमें भेद करने में कुशल हुए। धर्मग्रंथों को याद करने की उनकी उपलब्धि से उनके अनुयायी हुए, अनुयायियों से लाभ बढ़ा, एक-एक के पांच-पांच सौ भिक्षु अनुयायी हुए। वे शास्ता के शासन की व्याख्या करते, विहार करते। फिर बुद्धकाल जैसा ही हो गया।

उस समय दो भिक्षु एक छोटे से गांव में रहते थे। एक धर्मवादी था, दूसरा अधर्मवादी। अधर्मवादी भयानक था, कठोर था एवं बहुत वाचाल था। उसका बुरा आचरण दूसरे को मालूम हुआ। तब उसको 'आवुस, तुम्हारा यह कर्म बुद्ध शासन के अनुरूप नहीं है' कह उस पर दोषारोपण किया। उसने यह कहा कि 'तुमने क्या देखा, क्या सुना' विक्षेप उत्पन्न किया। दूसरे ने कहा 'विनय को जाननेवाले जानेंगे।' तब अधर्मवादी ने सोचा कि 'यदि इस घटना की विनयधर खोज-बीन करेंगे तो निश्चय ही बुद्धशासन में मेरी प्रतिष्ठा न होगी।' ऐसा जानकर अपने पक्ष में करने की इच्छा से उसी समय परिष्कार ले उन दो थेरों के पास जा, उन्हें श्रमण परिष्कार दे वह उनके निकट वहां रहने लगा, उनकी सभी सेवा करते हुए, सावधानी से सभी कर्तव्यों को पूरा करनेवाले के समान व्यवहार किया। एक दिन सेवा के लिए जाकर, वंदना की और उनके द्वारा चले जाने की आज्ञा दिये जाने पर भी वहीं खड़ा रहा। थेरों ने पूछा, 'कुछ पूछना है क्या?' उसने कहा, 'हां भंते, एक भिक्षु के साथ आचरण को लेकर मेरा विवाद है। वह यदि उस घटना को यहां आकर कहे तो उचित फैसला न करेंगे।' थेरों ने कहा, 'बीती घटना का उचित फैसला न किया जाय ऐसा तो है नहीं।' (इस पर) उसने कहा, 'भंते, ऐसा करने से शासन में मेरी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी, मुझको पाप होगा, आपलोग इसकी खोज-बीन कर फैसला न करें।' वे उसके द्वारा दवाब दिये जाने पर सहमत हो गये। उसने उनकी सहमति ले फिर अपना आवास जा 'विनयधरों के पास सब पूरा करवा लिया' कह उस धर्मवादी भिक्षु की अच्छी तरह से अवमानना की और कठोर वचन कहा। धर्मवादी ने यह सोच कि 'यह निःशंक हो गया है', उसी समय घर से निकल थेरों के परिवार हजार भिक्षुओं के पास जाकर कहा–

'आवुस, बीती घटना क्या धर्मपूर्वक फैसला करने योग्य नहीं है? परस्पर दोष दिखाकर मेलजोल (एकता) करनी चाहिए।' इन थेरों ने न तो घटना के बारे में फैसला किया और न मेलजोल ही कायम रखा, क्या बात है? वे भी सुनकर चुप रहे, 'निश्चय ही किसी आचार्य द्वारा ज्ञात है।' तब अधर्मवादी को मौका मिला। उसने कहा, 'पहले तुमने कहा था कि विनयधर जानेंगे अब उन विनयधरों से ही इस घटना के बारे में पूछो।' ऐसा कह धर्मवादी को पीड़ा पहुंचाया और यह कह कि 'आज से तुम पराजित हुए, उस आवास में मत आओ' लौट गया। तब धर्मवादी ने थेरों के पास जा "आप लोगों ने बुद्ध शासन की अनदेखी कर 'हमारी सेवा की, हमें संतुष्ट किया' सोच व्यक्ति की ही अपेक्षा की, शासन की रक्षा न कर व्यक्ति की रक्षा की, व्यक्ति को महत्त्व दिया, आज से अब आप लोगों का काम धर्म की बातों पर फैसला करना नहीं होगा, आज भगवान कस्सप परिनिर्वृत्त हो गये" ऐसा कह खूब जोर से रोकर 'शास्ता का शासन नष्ट हो गया' कह विलाप करते हुए लौट गया।

अब उन भिक्षुओं के मन में संवेग उत्पन्न हुआ और यह सोच कि 'व्यक्ति की रक्षा करने में हमलोगों ने शासन रत्न को गड्ढे में फेंक दिया' कौकृत्य (पश्चात्ताप) उत्पन्न हुआ। वे उसी कौकृत्य से

भीतर ही भीतर चोट खाकर मर गये और स्वर्ग में जन्म न ले सकने के कारण एक आचार्य हिमालय में हेमवत पर्वत पर उत्पन्न हो हेमवत यक्ष हुए और दूसरे आचार्य मज्झिम देश में सात पर्वत पर जन्म ले सातागिर यक्ष हुए। उनके परिवार के भिक्षु भी उन्हीं की तरह स्वर्ग में उत्पन्न न हो सकने के कारण उनके ही परिवार में यक्ष हो उत्पन्न हुए। हेमवत और सातागिर अट्ठाईस यक्ष सेनापतियों में महाप्रतापी यक्षराजा हुए।

यक्ष सेनापतियों की यह धर्मता है– हर महीने आठ दिन धर्म के बारे में विचार करने के लिए अर्थात धर्म को अधर्म से अलग करने के लिए हिमालय में मनोशिलातल के नागवति मंडल में देवताओं का सम्मेलन होता है, वहीं (उन्हें) सम्मिलित होना चाहिए। अब उस सम्मेलन में सातागिर और हेमवत ने एक दूसरे को देखकर पहचाना, और अपना-अपना जन्मस्थान, 'भाई, तुम कहां उत्पन्न हुए, तुम कहां' पूछा और यह सोच पश्चात्ताप करने लगे कि 'भाई, हमने जो पहले बीस हजार वर्ष श्रमण धर्म किया वह नष्ट हो गया, एक पापी के चलते हमलोग यक्षयोनि में उत्पन्न हुए, हमलोगों को चीवर पिंडपात आदि प्रत्यय देनेवाले दायकों ने कामावचर देवलोक में जन्म ग्रहण किया।'

अब सातागिर ने कहा, 'मित्र, हिमालय आश्चर्यजनक है, अद्‌भुत है– यह सभी का मानना है। कुछ अगर आश्चर्यजनक देखो और सुनो तो मुझे भी कहना।' हेमवत ने कहा, 'मित्र, मध्यदेश के बारे में भी सब का यही ख्याल है कि यह आश्चर्यजनक और अद्भुत है, वहां तुम (कुछ) आश्चर्यजनक देखो या सुनो तो मुझे अवश्य बताना।' इस प्रकार दोनों मित्रों ने ऐसा समझौता कर उसी योनि में रहते हुए एक बुद्धांतर बिताया, महापृथ्वी एक योजन और तीन गावुत ऊंची हो गयी।

अब हमारे बोधिसत्त्व भगवान दीपङ्कर के चरणों में दृढ संकल्प कर वेस्संतर के रूप में जन्म ग्रहण करने तक पारमिताओं को पूरा करके तुषितभवन में पैदा हुए। जब तक आयु शेष थी वहां रहे और धम्मपद निदान में कहे गये के अनुसार देवताओं द्वारा याचना किये जाने पर पांच बातों (जैसे काल, देश, द्वीप, कुल और माता) को देख देवताओं को सूचित कर बत्तीस पूर्वनिमित्तों के प्रकट होने पर यहां प्रतिसंधि ग्रहण किया। दस हजार लोकधातु कांप उठी। उनको (निमित्तों को) देखकर भी ये राजयक्ष यह न जान सके कि 'इस कारण से (ये) उत्पन्न हुए हैं।' कोई कहते हैं कि 'क्रीड़ा में लगे रहने के कारण वे न देख सके।' इसी तरह वे न तो बुद्ध का जन्म होना जान सके और न उनका घर छोड़कर बे-घर होना तथा बोधिप्राप्त करना। किंतु धर्मचक्रप्रवर्तन के समय भगवान द्वारा पंचवर्गीय भिक्षुओं को संबोधित करने तथा चार सत्यों के **तिपरिवट्टं**[१] (तिहरे अर्थात सत्य के तीन पक्षों का) **द्वादसाकारं** अथवा बारह पहलुओं के साथ श्रेष्ठ धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते समय जो महा भूकंप तथा अन्य प्रातिहार्य पूर्वलक्षण के रूप में प्रकट हुए– उनमें से एक को सातागिर ने पहले देखा। उनके प्रकट होने के कारण को जानकर परिषद सहित जाकर भगवान की धर्मदेशना सुनी, लेकिन कुछ विशेष प्राप्ति नहीं हुई। क्यों? धर्म सुनते समय उसने हेमवत की याद कर 'मेरा मित्र आया कि नहीं' सभा को देखा और उसे न देख 'मेरा मित्र घाटे में रह गया, जिसने भगवान के इस प्रकार विचित्र प्रत्युत्पन्नमति से युक्त धर्म देशना न सुनी' और ऐसा सोच वह विक्षिप्त चित्त हो गया। सूरज के अस्त होने पर भी भगवान ने देशना पूरी नहीं की।

अब सातागिर ने यह सोच कि 'मित्र को लेकर उसके साथ ही धर्म देशना सुनूंगा' हस्तियान,

---

१. (१) दुक्खसच्चं– परिञ्ञातब्बं, परिञ्ञातं, (२) दुक्खसमुदयसच्चं– पहातब्बं, पहीनं, (३) दुक्खनिरोधसच्चं– सच्छिकातब्बं, सच्छिकतं, (४) दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदासच्चं– भावेतब्बं, भावितं।

अश्वयान तथा गरुड़यान आदि का निर्माण कराया और पांच सौ यक्षों से परिवृत्त हो हिमालय की ओर रवाना हुआ। उसी समय हेमवत भी रवाना हुआ। चूंकि प्रतिसंधि ग्रहण करते, पैदा होते, अभिनिष्क्रमण के समय, बोधि प्राप्त करते समय परिनिर्वाण के समय बत्तीस पूर्वलक्षण प्रकट होकर भी गायब हो जाते हैं, सदा के लिए नहीं रहते, किंतु धर्मचक्रप्रवर्तन के समय वे विशेष रूप से प्रकट हो, बहुत समय तक रह, निरुद्ध होते हैं, इसलिए उस समय हेमवत ने हिमालय में उस आश्चर्य के प्रादुर्भाव को देखकर कहा 'जब से मैं पैदा हुआ, पहले कभी यह पर्वत इतना सुंदर नहीं लगा, अच्छा हो मैं अपने मित्र को ले यहां आऊं और उसके साथ ही इस पुष्पश्री का अनुभव करूं' और उसी समय मज्झिम देश की ओर रवाना हुआ। वे दोनों राजगृह के ऊपर मिले और परस्पर आने का कारण एक ने दूसरे से पूछा। हेमवत ने कहा, 'मित्र, जब से मैं पैदा हुआ यह पर्वत इस प्रकार असमय पुष्पित वृक्षों से सुशोभित हो पहले कभी सुंदर न लगा, इसलिए इस पुष्पश्री को तुम्हारे साथ ही देखूंगा इसलिए आया हूं।' सातागिर ने पूछा, 'किंतु मित्र, क्या तुम जानते हो कि किस कारण से असमय में यह पुष्प श्री का प्रातिहार्य पैदा हुआ है?' 'मित्र, नहीं जानता हूं।' 'मित्र, यह करिश्मा केवल हिमालय में ही नहीं, बल्कि दसलोक धातुओं मे भी उत्पन्न हुआ है, आज बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया है, इस कारण (ऐसा हुआ है)।'

इस प्रकार सातागिर ने हेमवत को बुद्ध के प्रादुर्भाव के बारे में कहा और उसको भगवान के निकट लाने की इच्छा से यह गाथा कही। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान जब गौतम चैत्य में विहार कर रहे थे तो उन्होंने ऐसा कहा **'अज्ज पन्नरसो'**।

१५३. अज्ज पन्नरसो उपोसथो (इति सातागिरो यक्खो) दिब्बा रति उपट्ठितो।
अनोमनामं सत्थारं, हन्द पस्साम गोतमं॥

"आज पूर्णमासी का उपोसथ है" सातागिर यक्ष ने कहा। "बड़ी दिव्य और मनोरम रात है, आओ, हमलोग गौतम शास्ता के दर्शन करें जिनका नाम अनोम है क्योंकि वे सब तरह से पूर्ण हैं।"

यहां **अज्ज–** रात-दिन मिलाकर पक्ष गिनने से पूर्णमासी है, उपवास करने योग्य है इसलिए **उपोसथो**। तीन उपोसथों में आज पूर्णिमा का उपोसथ है, चतुर्दशी का नहीं और न समग्र उपोसथ है अर्थात ऐसा उपोसथ नहीं जिसमें कोरस पूरा हो। चूंकि प्रातिमोक्ष उद्देश, अष्टांग समन्वागत, उपवास, प्रज्ञप्ति, दिवस आदि बहुत से अर्थों में उपोसथ शब्द का प्रयोग होता है– जैसे "आयामावुसो, कप्पिन, उपोसथं गमिस्सामा"ति आदि में उपोसथ शब्द का अर्थ प्रातिमोक्ष उद्देश अर्थ में है। "एवं अट्ठङ्गसमन्नागतो खो, विसाखे, उपोसथो उपवुत्थो" (अ० नि० ३.८.४३) आदि में हिंसा से विरत रहना आदि आठ अंगों के अर्थ में, "सुद्धस्स वे सदा फग्गु, सुद्धस्सुपोसथो सदा" (म० नि० १.७९) आदि में उपवास अर्थ में, "उपोसथो नाम नागराजा"ति (दी० नि० २.२४६; म० नि० ३.२५८) आदि में प्रज्ञप्ति अर्थ में, घोषणा के अर्थ में "तदहुपोसथे पन्नरसे सीसंन्हातस्सा"ति (दी० नि० ३.८५; म० नि० ३.२५६) आदि में दिन के अर्थ में।

इसलिए अवशेष अर्थ का प्रतिक्षेप कर आषाढी पूर्णिमा का दिन अर्थ में नियमन कर कहा 'आज पूर्णिमा का उपोसथ है।' प्रतिपदा, द्वितीया इस तरह गिनते हुए आज पूर्णिमा है– यह अर्थ है।

दिव्य भव है अतः दिव्यानि– यहाँ **दिब्ब** है इसलिए **दिब्बा**। वे कौन से हैं? रूप। उस रात दस हजार लोकधातुओं से एकत्र हुए देवों के शरीर, वस्त्र, आभरण, विमान की प्रभा से तथा अनभ्र आकाश में

चमकते चंद्रमा की प्रभा से पूरा जंबुद्वीप अलंकृत हो गया था। परम विशुद्ध भगवान की शरीर प्रभा से विशेष अलंकृत हो गया था। इसलिए कहा, **'दिब्बा रत्ति उपट्ठिता'–** दिव्य रात उपस्थित है।

इस प्रकार रात्रि के गुणों की व्याख्या के बहाने मित्र के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करते हुए बुद्ध के प्रादुर्भाव की बात कहते हुए **'अनोमनामं सत्थारं, हन्द, पस्साम गोतमं'** कहा अर्थात 'आओ, हमलोग गौतम शास्ता के दर्शन करें।'

यहां, **अनोमनामो** उनका नाम है जो सभी अनोम (सर्वोत्कृष्ट) तथा अलामक (महत्त्वपूर्ण) गुणों से परिपूर्ण हैं और उनका जिन्होंने "चार आर्य सत्यों को जान लिया है वे बुद्ध हैं" (महानि० १९२; चूळनि० पारायनत्थुति गाथानिद्देस ९७; पटि० म० १.१६२) 'प्रजा को, लोगों को समझाने के कारण वे बुद्ध हैं' आदि नय से बुद्ध हैं– इन सर्वोत्कृष्ट गुणों के कारण, तथा 'जिनके राग भग्न हो गये हैं, (महानि० ८४) जिनके द्वेष भग्न हो गये हैं" आदि नय से सर्वोत्कृष्ट गुणों से परिपूर्ण हैं– उनका नाम **अनोमनामो** है। 'अर्हत, सम्यक संबुद्ध विद्याचरण संपन्न' आदि में यह नय है।

इस लोक से संबंधित कल्याण में देवता तथा मनुष्य को यह कह कर कि, 'इसे त्यागो, इसका आचरण करो' अनुशासित करते है– इसलिए **सत्था** (शास्ता) और भी 'भगवान शास्ता हैं, सार्थवाह हैं। उसी प्रकार हैं जो प्राणियों को बियावान में तारते हैं' (महानि० १९०), वियावान को पार करते हैं।' जैसा निद्देस में कहा गया है वैसे शास्ता।

उन अनोमनाम शास्ता को। **हन्द** व्यवसर्ग (परित्याग) अर्थ में निपात– **पस्साम–** देखेंगे। इस कारण अपने साथ लेकर वर्तमान काल में है। **गोतमं–** गौतम गोत्र के। क्या कहा गया है? 'शास्ता हैं या नहीं हैं' ऐसी शंका मत करो। 'पूरी तरह संकल्प लो और आओ चलें गौतम को देखने।'

ऐसा कहे जाने पर हेमवत "यह सातागिर 'अनोमनाम शास्ता' बोलते हुए उनकी सर्वज्ञता प्रकाशित करता है, सर्वज्ञ लोक में दुर्लभ हैं, जो झूठ्-मूठ के सर्वज्ञ हैं, जो परिपूर्ण नहीं हैं, अपरिपूर्ण के समान हैं उनसे संसार उपद्रुत है, कष्ट में है। लेकिन अगर वे सर्वज्ञ हैं तो निश्चय ही सर्वज्ञता लक्षण प्राप्त होंगे अर्थात सर्वज्ञ होंगे, इस कारण उनको ऐसा ही परिग्रहण करूंगा"– ऐसा सोचकर सर्वज्ञसदृश लक्षण के बारे में पूछते हुए **कच्चिमनो** "क्या (है) उनका मन" कहा।

१५४. कच्चि मनो सुपणिहितो, (इति हेमवतो यक्खो) सब्बभूतेसु तादिनो।
अथो इट्ठे अनिट्ठे च, सङ्कपस्स वसीकता।

"हेमवत यक्ष ने पूछा, "क्या वैसे (तादृश)– बुद्ध के समान व्यक्ति का मन सभी प्राणियों के प्रति सुप्रणिहित (स्थिर, अचल) है? क्या इष्ट तथा अनिष्ट के प्रति उनके विचार वश में हैं"?

यहां **कच्चि–** प्रश्नवाचक है।

मनो– चित्त। **सुपणिहितो–** अच्छी तरह स्थापित, अचल, न कांपनेवाला। **सब्बभूतेसु** सभी प्राणियों में। **तादिनो–** वैसे ही लक्षण का प्राप्त होना। प्रश्न यह है कि 'तुम्हारे वे शास्ता सभी प्राणियों के प्रति उस लक्षणवाले हैं अथवा नहीं'। **इट्ठे अनिट्ठे च–** इस प्रकार (इष्ट और अनिष्ट) के आलंबन में। **सङ्कप्प–** वितर्क, आलंबन और इंद्रिय में संपर्क होकर जब संवेदना होती है तब वितर्क होता है।

वसीकता– वश में किया हुआ।

क्या कहा गया है? जिनको तुम शास्ता कहते हो, तुम्हारे उस शास्ता का, या शास्ता के लक्षणों को प्राप्त करनेवाले का, सभी प्राणियों के प्रति मन सुप्रणिहित है, अच्छी तरह स्थिर और अचल है, अथवा वह तभी तक सुप्रणिहित प्रतीत होता है, जब तक उसे अस्थिर होने का कोई कारण नहीं होता? तुम्हारे वे शास्ता क्या सभी प्राणियों के प्रति शांत चित्त से वैसे ही रहते हैं अथवा नहीं? इष्ट अनिष्ट आलंबनों में राग द्वेष के कारण जो वितर्क उत्पन्न हों, क्या ये वितर्क उनके ही वश में होते हैं अथवा कभी वे उनके ही वश में हो जाते हैं?

१५५. मनोचस्स सुपणिहितो (इति सातागिरो यक्खो) सब्बभूतेसु तादिनो।
अथो इट्ठे अनिट्ठे च, सङ्कपस्स वसीकता॥

"यक्ष सातागिर ने कहा, 'उनका मन सभी प्राणियों के प्रति अच्छी तरह स्थापित है, अचल है। और इष्ट तथा अनिष्ट के प्रति वितर्क उनके वश में हैं।"

तब सातागिर ने भगवान के सर्वज्ञता भाव में संकल्पित होने के कारण सभी सर्वज्ञतागुणों को मानते (स्वीकार करते) हुए, **"मनो चस्स सुपणिहितो"** आदि कहा।

यहां **सुपणिहितो–** अच्छी तरह स्थापित, प्रतिकूल नहीं होने के अर्थ में, पृथ्वी की तरह सुप्रतिष्ठित एवं अचल होने के अर्थ में सुमेरु पर्वत की तरह, चार प्रकार के मार तथा विरोधी मत के माननेवाले लोगों द्वारा कंपाये जाने पर भी न कांपने के अर्थ में, नगर द्वार के बाहर गड़े हुए मजबूत खंभे की तरह। यह आश्चर्य की बात नहीं कि अब सर्वगुणसंपन्नता के कारण सर्वज्ञताभाव में स्थित भगवान का मन सुप्रणिहित हो, अचल हो। जो तिरश्चीन योनि में छदंत हाथी के कुल में उत्पन्न हो, प्रेमक्रीड़ा करते समय विष-बुझे शल्य से बींधे जाने पर भी अचल रहे, मारनेवाले पर भी क्रोध न किया बल्कि निश्चय ही उसको अपना दांत काटकर दिया, उसी तरह महाकपि के रूप में जन्म लेने पर माथे में बहुत बड़े शिलाखंड से प्रहार किये जाने पर जब उसे चोट आई तो भी मारनेवाले को रास्ता दिखाया, उसी तरह विधुरपंडित के रूप में जन्म लेने पर जब उनको यक्ष ने पैर पकड़कर साठ योजन की दूरी पर स्थिर काल-पर्वत के प्रपात में फेंक दिया तो भी निश्चय ही ऐसे फेंके जाने पर उन्होंने यक्ष को धर्म की देशना दी। इसलिए सातागिर ने ठीक ही कहा, 'मनो चस्स सुपणिहितो'।

सब्बभूतेसु तादिनो– सभी प्राणियों के प्रति उन सदृश लक्षण से युक्त होते हुए उनका मन अच्छी तरह अचल है, स्थिर है, सिर्फ तब तक नहीं जब तक उनको प्रत्यय मिलता रहे– यह अर्थ है। यहां भगवान के तादि लक्षण को (भगवान की तरह होने के लक्षण) को पांच प्रकार का जानना चाहिए। जैसे कहा–

'भगवान पांच तरह से तादि लक्षणवाले हैं अर्थात भगवान के ही लक्षणों से युक्त हैं, इष्ट अनिष्ट में उसी तरह के लक्षणों से युक्त हैं अर्थात तादृश हैं, त्याग करने में, मुक्त होने में, तीर्ण होने में, निद्देश में जो दिया गया है उस अर्थ में तादृश हैं। भगवान इष्ट अनिष्ट में तादृश (अर्थात उन्हीं लक्षणों से युक्त) कैसे हैं? भगवान लाभ में भी तादृश ही हैं (महानि० ३८)।

इस प्रकार निद्देश में जो कहा गया है उस तरह ग्रहण करना चाहिए। लाभ आदि को महाअट्ठकथा

में विस्तार कर जिस तरह कहा गया है वैसा जानना चाहिए। "प्रश्न यह है कि, तुम्हारे वे शास्ता सभी प्राणियों के प्रति अच्छी तरह अचल, स्थिर हैं या नहीं, अर्थात सभी प्राणियों के हित-कल्याण के बारे में ही सोचते हैं या नहीं" इस विकल्प में हमारे शास्ता सभी प्राणियों के प्रति समचित्त हैं। ये भगवान सबों के सुख चाहने तथा सबों के दुःख दूर करने की इच्छा के कारण सभी प्राणियों के प्रति समचित्त हैं, शांतचित्त हैं। जैसे अपने प्रति, वैसे ही दूसरों के प्रति, जैसे माता महामाया के प्रति, वैसे ही चिञ्चमाणविका के प्रति, जैसे पिता शुद्धोधन के प्रति, वैसे ही सुप्पबुद्ध के प्रति, जैसे पुत्र राहुल के प्रति, वैसे ही हत्या करनेवाले देवदत्त, धनपालक एवं अंगुलिमाल आदि के प्रति। देवसहित लोक में भी तादृश (वैसा ही)। इसलिए सातागिर ने ठीक ही कहा, **"सब्बभूतेसु तादिनो"**।

अथो इट्ठे अनिट्ठे च– यहां इस प्रकार अर्थ द्रष्टव्य है। जो कुछ प्रिय या अप्रिय आलंबन हैं, सब प्रकार से जहां राग द्वेष के कारण जो संकल्प (विचार) उपजे, उन रागादि को उन्होंने अनुत्तर मार्ग द्वारा प्रहीण कर वश में कर लिया है, उनके वश में वे कभी नहीं होते। वे भगवान अनाविल (पर्यवदात, शुद्ध) संकल्पवाले, अच्छी तरह से विमुक्त चित्तवाले तथा अच्छी तरह से मुक्त प्रज्ञावाले हैं। 'अच्छी तरह से उनका मन अचल है' कहने से यहां उनमें **अयोनिसो मनसिकार** का अभाव कहा गया है अर्थात वे बिना सोचे-समझे कोई काम नहीं करते। सभी प्राणियों में प्रिय-अप्रिय द्वारा वह जैसा हो उसको सद्धिविहारिक, अंतेवासिक आदि के भेद से दो प्रकार के आलंबन कहे गये हैं। उसी आलंबन में विचार पर आधिपत्य या नियंत्रण होने से उनके मनसिकार का अभाव होने से क्लेश प्रहाण कहा गया है। अच्छी तरह संकल्प मनवाले होने से मानसिक आचरण की शुद्धि। सभी प्राणियों पर वैसे ही लक्षणवाले होने के कारण कायिक आचरण की शुद्धि। अच्छी तरह संकल्प मनवाले होने से, **वितक्कमूलकत्ता,** वितर्क मूलक वाणी की शुद्धि से वाचसिक आचरण की शुद्धि वैसे ही सुप्रणिहित मन के कारण लोभ आदि सभी दोषों का अभाव, सभी प्राणियों के प्रति उसी लक्षणवाले स्वभाव, संकल्प को वश में करने से प्रतिकूल में अप्रतिकूल संज्ञा आदि के भेद से आर्यऋद्धि भाव को इन सबके कारण उनको सर्वज्ञ– कहा गया है, यह जानना चाहिए।

१५६. कच्चि अदिन्नं नादियति (इति हेमवतो यक्खो), कच्चि पाणेसु सञ्ञतो।
कच्चि आरा पमादम्हा, कच्चि झानं न रिञ्चति॥

"हेमवत यक्ष ने पूछा, "क्या वे चोरी करते हैं अर्थात उसको लेते हैं जो उनको नहीं दिया गया है? क्या वे सभी प्राणियों के प्रति संयत हैं? क्या वे प्रमाद से दूर हैं? क्या वे कभी ध्यान से खाली रहते हैं अर्थात कभी क्या ऐसा समय आता है जब वे ध्यान नहीं करते"?

इस प्रकार हेमवत ने पहले यह पूछा कि उनके मन में वैसे ही गुण हैं जैसे बुद्ध के होते हैं तो (जो उत्तर मिला) उससे सहमत हो, उसे स्वीकार कर उसे दृढ़ करने के लिए अब तीनों द्वारों के बारे में (मन, वचन और काय के बारे में) पूछा। पहले कायिक, वाचसिक तथा मानसिक शुद्धि के बारे में संक्षेप में पूछकर, उसे स्वीकार कर उसको दृढ़ करने के लिए विस्तार से पूछते हुए कहा, **"कच्चि अदिन्नं"**। यहां गाथा को सुंदर बनाने के लिए, उपयुक्त छंद बनाने के लिए पहले अचौर्य की बात पूछता है– अर्थात यह पूछता है कि वे बिना दी गयी वस्तु भी लेते हैं क्या?

आरा पमादम्हा– पांच काम गुणों से चित्त को अलग, दूर रखने के भाव से ब्रह्मचर्य के बारे में पूछता

है अर्थात अब्रह्मचर्य से उनकी विरति है न? **"आरा पमदम्हा"** पाठ को भी कुछ लोग पढ़ते हैं। स्त्रियों से दूर रहने की बात कही गयी है। **झानं न रिञ्चति–** इस तरह से तीन प्रकार के दुष्चरित्रों से बचने में उनकी शक्ति के बारे में इस तरह पूछता है। जो ध्यान में लगे रहते हैं उनकी विरक्ति बलवती होती है।

१५७. न सो अदिन्नं आदियति, (इति सातागिरो यक्खो) अथो पाणेसु सञ्ञतो।
अथो आरा पमादम्हा, बुद्धो झानं न रिञ्चति॥

"वे चोरी नहीं करते"– सातागिर यक्ष ने कहा। "सभी प्राणियों के प्रति वे संयत हैं, संयम बरतते हैं। प्रमाद से दूर, बुद्ध कभी ध्यान-शून्य नहीं होते।"

अब सातागिर यह कहकर भगवान की प्रशंसा करता है कि चूंकि भगवान न केवल अभी बल्कि अतीत में भी दीर्घ काल से चोरी से विरत रहे हैं, उन्होंने उस विरति के प्रताप से वैसे-वैसे महापुरुष लक्षण प्राप्त किये, देवसहित इस लोक में 'श्रमण गौतम चोरी से विरत हैं'– यह कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है। इसलिए विश्वस्त वाणी से सिंहनाद करते हुए कहता है **'न सो अदिन्नं आदियति'–** अर्थात वे चोरी नहीं करते। इसका अर्थ स्पष्ट है। इस गाथा के तीसरे चरण में 'पमादम्हा' और 'पमदम्हा' दो प्रकार के पाठ हैं। चौथे चरण में **झानं न रिञ्चति–** कभी ध्यान शून्य नहीं होते, कभी ध्यान करना न छोड़ते हैं– यह अर्थ जानना चाहिए।

१५८. कच्चि मुसा न भणति (इति हेमवतो यक्खो) कच्चि न खीणव्यप्पथो।
कच्चि वेभूतियं नाह, कच्चि सम्फं न भासति॥

"हेमवत यक्ष ने पूछा, "क्या वे झूठ नहीं बोलते? क्या वे कठोर वाणी नहीं बोलते? क्या वे असत्य भाषण नहीं करते और क्या वे संप्रलाप नहीं करते?"

इस प्रकार कायिक कर्मों की शुद्धता सुन अब वाचिक कर्मों की शुद्धता के बारे में पूछते हुए कहा **'कच्चि मुसा न भणति'।** यहां जो क्षय प्राप्त है वह क्षीण है, हिंसा करता है, वध करता है– यह अर्थ है। वाणी का पथ होने से व्यापृत, बोलने का ढंग; जिसके बोलने का खराब ढंग क्षय प्राप्त है अर्थात खराब नहीं है उसे **खीणव्यप्पथो** क्षीणव्यप्पथ कहते हैं। 'न' कार से उसका प्रतिषेध कर **'न खीणव्यप्पथो'** अर्थात बोलने के गलत ढंगवाले नहीं हैं, कठोर वचन नहीं बोलते हैं। 'नाखीणब्यप्पथो' भी पाठ है जिसका अर्थ है वैसे बोलनेवाले नहीं हैं जिसके बोलने का खराब ढंग क्षयप्राप्त नहीं है अर्थात वे सही ढंग से बोलनेवाले हैं। कठोर वचन दूसरे के हृदय में बिना क्षयप्राप्त किये रहता है अर्थात वह कभी नष्ट नहीं होता। वे ऐसे वचन कभी नहीं बोलते– यह कहा गया है। **विभूति** का अर्थ विनाश, विनाश करता है उसे विभूतिक कहा जाता है। विभूतिक ही वेभूतिक या वेभूतियं कहा जाता है। यह पैशुण्य (चुगली) का पर्याय है। चुगली प्राणियों को परस्पर लड़ाकर, उनमें भेद पैदा कर विनाश करती है। शेष स्पष्ट ही है।

१५९. मुसा च सो न भणति, (इति सातागिरो यक्खो) अथो न खीणब्यप्पथो।
अथो वेभूतियं नाह, मन्ता अत्थं च भासति॥

"यक्ष सातागिर ने कहा, "वे झूठ नहीं बोलते और उनकी वाणी परुष (कठोर) नहीं है। असत्य भाषण नहीं करते और चूंकि वे प्रज्ञावान हैं, वे अर्थपूर्ण बोलते हैं।"

अब सातागिर यह कहकर भगवान की प्रशंसा करता है कि भगवान न केवल अभी ही बल्कि अतीत में भी दीर्घ काल से असत्य भाषण से विरत हैं, उन्होंने उस विरति के प्रताप से ही वैसे-वैसे महापुरुष लक्षण प्राप्त किये, देव सहित इस लोक में 'श्रमण गौतम झूठ बोलने से विरत हैं'– यह कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है। इसलिए विश्वस्त वाणी से सिंहनाद करते हुए कहता है **'मुसा च सो न भणति'** अर्थात वे झूठ नहीं बोलते।

यहां **मुसा–** देखी हुई बात की अनुचित व्याख्या करके दूसरों को धोखा देनेवाला वचन। अर्थात सत्य बात को भी दूसरे को ठगने के लिए असत्य रूप में कहना। वैसी बात वे नहीं बोलते। (गाथा के) द्वितीय चरण में पहले प्रकार का अर्थ बताने के लिए 'न खीण व्यप्पथो' दो भिन्न पाठ हैं। चतुर्थ चरण में **मन्ता** का अर्थ प्रज्ञा है। चूंकि भगवान उस प्रज्ञा के क्षेत्र में ही रह अर्थपूर्ण वाणी ही बोलते हैं जो उपयोगी है वही वाणी ही बोलते हैं, अर्थतः अनपेत वचन है, व्यर्थ नहीं बोलते। बुद्धों की वाणी न तो निरर्थक होती है और न अज्ञान पुरस्सर। इसलिए कहा, 'मन्ता अत्थं सो भासति'। शेष स्पष्ट ही है।

१६०. कच्चि न रज्जति कामेसु, (इति हेमवतो यक्खो) कच्चि चित्तं अनाविलं।
कच्चि मोहं अतिक्कन्तो, कच्चि धम्मेसु चक्खुमा॥

"हेमवत यक्ष ने पूछा, "क्या वे काम के प्रति आसक्त नहीं होते? क्या उनका चित्त शुद्ध है? क्या वे अज्ञान के पार चले गये हैं अर्थात क्या वे मोहातीत हैं? क्या धर्मों में वे चक्षुमान हैं अर्थात क्या वे जानते हैं कि धर्मों में वे चक्षुमान हैं अर्थात क्या वे जानते हैं कि धर्म अनित्य है?"

इस प्रकार वाणी की शुद्धता सुनकर मन की शुद्धता के बारे में पूछता है **'कच्चि न रज्जति कामेसु'** यहां **कामा–** काम (राग) उत्पन्न करनेवाली वस्तुएं। उनमें क्लेश काम से आसक्त नहीं होते यह पूछते हुए अलोभ के बारे में पूछता है।

अनाविलं पूछते हुए द्वेष से उत्पन्न मन की अशुद्धता के बारे में अव्यापाद (अद्वेष) के बारे में पूछता है। **मोहं अतिक्कन्तो** पूछते हुए जिस मोह से मोहित हो मूढ़ (मूर्ख) मिथ्या दृष्टि ग्रहण करता है, उसका अतिक्रमण कर सम्यक दृष्टि के बारे में पूछता है।

धम्मेसु चक्खुमा पूछते हुए सभी धर्मों में ऐसा ज्ञानचक्षुवाला है कि धर्मों का ज्ञान किसी भी हालत में गलत न हो। पांच चक्षुओं के विषयों में या धर्मों में पांचों चक्षु हैं या नहीं इसके द्वारा सर्वज्ञता के बारे में पूछता है यह सोचकर कि 'मन, वचन और कर्म से शुद्ध होने पर भी कोई सर्वज्ञ नहीं होता।'

१६१. न सो रज्जति कामेसु, (इति सातागिरो यक्खो) अथो चित्तं अनाविलं।
सब्बमोहं अतिक्कन्तो, बुद्धो धम्मेसु चक्खुमा॥

"वे काम के प्रति आसक्त नहीं होते'– सातागिर ने कहा, 'उनका चित्त शुद्ध है। वे मोहातीत हैं और सभी धर्मों में वे चक्षुमान हैं।"

अब सातागिर ने, चूंकि भगवान ने अर्हत्व प्राप्त किया है, वे अनागामी मार्ग से कामराग तथा द्वेष को प्रहीण कर कामों के प्रति आसक्त नहीं होते, न द्वेष से दूषित चित्त होते हैं, और श्रोतापत्ति मार्ग से मिथ्यादृष्टि के कारण को, सत्य को ढंकनेवाले मोह को प्रहीणकर चूंकि उन्होंने उसका अतिक्रमण कर

लिया है, चार सत्यों को स्वयं (अपने ही परिश्रम से, बिना किसी शास्ता के) समझ लिया है और कहे गये विमोक्ष प्रदान करनेवाले चक्षुओं को प्राप्त किया है, इसलिए उनके मन की शुद्धि तथा सर्वज्ञता का उद्‌घोष करते हुए **"न सो रज्जति कामेसु"** कहा।

१६२. कच्चि विज्जाय सम्पन्नो, (इति हेमवतो यक्खो) कच्चि संसुद्धचारणो।
कच्चिस्स आसवा खीणा, कच्चि नत्थि पुनब्भवो।

"हेमवत यक्ष ने पूछा, "क्या वे विद्या से संपन्न हैं? क्या उनका आचरण शुद्ध है? क्या उनके आश्रव क्षीण हो गये हैं? क्या उनका पुनर्जन्म नहीं होगा?"

इस प्रकार हेमवत भगवान की शारीरिक, वाचसिक एवं मानसिक शुद्धता तथा सर्वज्ञता को सुनकर बहुत हर्षित हुआ, प्रसन्न हुआ। पूर्वजन्म को स्पष्टता के साथ जाननेवाली अधिक विशदता से पूर्ण बनानेवाली प्रज्ञा में अनासक्त हो आश्चर्यजनक तथा अद्भुत सर्वज्ञतागुण को सुनने की इच्छा करते हुए **कच्चि विज्जायसम्पन्नो** पूछा।

यहां **विज्जाय सम्पन्नो** इस तरह पूछ कर दर्शन संपत्ति के बारे में पूछा।

संसुद्धचारणो से गमन संपत्ति अर्थात प्रतिपत्ति अर्थात आचरण संपत्ति के बारे में। इन दोनों से परियत्ति एवं पटिपत्ति के बारे में पूछा।

छंद भंग न हो इस कारण यहां 'चरण' में च को दीर्घ कर 'चारण' कहा गया है। (इसका) अर्थ संशुद्ध आचरण ही है।

आसवा खीणा इस दर्शन एवं गमन अर्थात विद्या एवं आचरण संपत्ति को प्राप्त कर आश्रव क्षय नामक प्रथम निर्वाण धातु की प्राप्ति के बारे में पूछा। **नत्थि पुनब्भवो** से प्रत्यवेक्षणज्ञान से या परम आश्वास प्राप्ति को जानकर स्थित द्वितीय निर्वाण धातु प्राप्ति की समर्थता के बारे में पूछा।

१६३. विज्जाय चेव सम्पन्नो, (इति सातागिरो यक्खो) अथो संसुद्धचारणो।
सब्बस्स आसवा खीणा, नत्थि तस्स पुनब्भवो॥

"यक्ष सातागिर ने कहा, "वे विद्या से संपन्न तो हैं ही, उनका आचरण भी शुद्ध है। उनके सभी आश्रव क्षीण हो गये हैं और उनका अब पुनर्जन्म नहीं होगा। अर्थात वे भवचक्र में अब नहीं पड़ेंगे।"

उसके बाद 'सो अनेक विहितं पुब्बे निवासं... (म० नि० १.५२) आदि ढंग से भयभेरवसुत्त आदि में कही गयी तीन प्रकार की विद्या "सो एवं समाहिते चित्ते... आनेञ्जप्पत्ते ञाणदस्सनाय चित्तं अभिनीहरती"ति (दी० नि० १.२७९) आदि ढंग मे अम्बट्ठसुत्त आदि में कही गयी आठ प्रकार की विद्याएं जो कही गयी हैं, उन सभी विद्याओं से चूंकि सभी प्रकार से भगवान युक्त हैं। 'यहां, महानाम, आर्यश्रावक शील संपन्न होता है (म० नि० २.२४), इंद्रिय द्वारों की रक्षा करता है अर्थात संयतेंद्रिय होता है, भोजन की मात्रा जाननेवाला होता है, सदा जागरूक रहता है, स्मृतिमान रहता है, सात सद्धर्मों से समन्वागत होता है, चार ध्यानों को बिना कठिनाई के प्राप्त करता है। ऐसा दिखाकर 'महानाम, आर्यश्रावक कैसे शील संपन्न होता है' आदि ढंग से सेखसुत्त में पंद्रह प्रकार के आचरण निर्दिष्ट हैं। चूंकि भगवान के वे सभी आचरण उपक्लेश के प्रहाण से अतिविय शुद्ध हैं, जो ये कामाश्रव आदि चार

आश्रव हैं, चूंकि भगवान के वे सभी परिवारसहित और पूर्ववासनाओं के साथ क्षीण हो गये हैं, चूंकि इस विद्या एवं आचरण की संपदा से क्षीणाश्रव हुए तब भगवान यह प्रत्यवेक्षण कर कि 'अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा' स्थित हुए, इसलिए समुत्साहित हो सातागिर यक्ष ने भगवान के सर्वज्ञता भाव को अपनी वाणी से सभी गुणों को स्वीकार करते हुए कहा **'विज्जाय चेव सम्पन्नो'**।

१६४. सम्पन्नं मुनिनो चित्तं, कम्मुना व्यप्पथेन च।
विज्जाचरणसम्पन्नं, धम्मतो नं पसंसति॥

"मुनि का चित्त कर्म और वाचा से संपन्न है। विद्या और आचरण से सुसंपन्न है। धर्म के कारण ही उनकी प्रशंसा होती है"।

तब हेमवत ने 'ये सम्यक संबुद्ध हैं, भगवान में बिना किसी प्रकार की शंका किये आकाश में स्थित हो भगवान की प्रशंसा करते और सातागिर को प्रसन्न करते हुए कहा, **'सम्पन्नं मुनिनो चित्तं'** इसका अर्थ है– 'मुनिका चित्त संपन्न है, इनका मन सुप्रणिहित है अर्थात ये सभी प्राणियों के प्रति ठीक संकल्प करनेवाले हैं। ये कहे गये तादिभाव से पूर्ण हैं, संपूर्ण हैं।' यहां कहे गये कायिक कर्म से वे चोरी नहीं करते, मानसिक कर्म से 'वे कामों में आसक्त नहीं होते', वाचसिक कर्म से 'वे झूठ नहीं बोलते', यह कहा गया है। ऐसे संपन्न चित्त भगवान को अनुत्तर विद्या तथा आचरण की संपदा से संपन्न होने के कारण विद्या तथा आचरण से युक्त भगवान को इन गुणों से 'उनका मन सुप्रणिहित है', आदि ढंग से उनकी ठीक प्रशंसा कर रहे हो, स्वाभाविक रूप से सच ही उनकी प्रशंसा कर रहे हो, न केवल श्रद्धा मात्र से कर रहे हो– यह दिखाता है।

१६५. सम्पन्नं मुनिनो चित्तं, कम्मुना ब्यप्पथेन च।
विज्जाचरणसम्पन्नं, धम्मतो अनुमोदसि॥

१६६. सम्पन्नं मुनिनो चित्तं, कम्मुना ब्यप्पथेन च।
विज्जाचरणसम्पन्नं, हन्द पस्साम गोतमं॥

"मुनि का चित्त कर्म तथा वाणी से संपन्न है। वे विद्या तथा आचरण से संपन्न हैं।' धर्म के कारण उनकी प्रशंसा होती है। धर्म के कारण ही तुम उनका अनुमोदन कर रहे हो। चलो हमलोग ऐसे संपन्न गौतम को चलकर देखें।"

इसके बाद सातागिर ने इस अभिप्राय से कि 'भाई, तुमने अच्छी तरह जान लिया और अनुमोदन किया' उसी को प्रसन्न करते हुए कहा **'सम्पन्नं मुनिनो...पे०... धम्मतो अनुमोदसी"**ति। और इस प्रकार कह कर पुनः भगवान के दर्शन के लिए उनकी प्रशंसा करते हुए **'सम्पन्नं... पे०... हन्द पस्साम गोतमं'**।

१६७. एणिजङ्घं किसं वीरं, अप्पाहारं अलोलुपं।
मुनिं वनस्मिं झायन्तं, एहि पस्साम गोतमं॥

"चलें हमलोग गौतम को देखें, जिनकी जांघ हिरण के समान पतली है, उस वीर को देखें जो अल्पाहारी तथा अलोलुप हैं, उस मुनि को देखें जो जंगल में ध्यान कर रहे हैं।"

इसका अर्थ यह है। **एणिजङ्घो** उन्हें कहा गया है जिनकी जांघे हिरण की तरह हैं। बुद्धों की जांघे हिरण की तरह होती हैं क्रमशः गोल, सामने न तो मांस रहित और न पीछे मादा मगरमच्छ के पेट की तरह फूला हुआ। बुद्ध पतले होते हैं, उनके अंग-प्रत्यंग जहां जैसा होना चाहिए अर्थात जहां बड़ा होना चाहिए वहां बड़ा, जहां छोटा होना चाहिए वहां छोटा, जहां गांठ होनी चाहिए वहां गांठ होती है। इस तरह के शारीरिक सौंदर्य से युक्त होते हैं, मोटे आदमी की तरह वे स्थूल नहीं होते। प्रज्ञा से क्लेशों को खुरचने (उखाड़ फेंकने) के कारण भी **किसा** कहे जाते हैं। भीतर और बाहर के शत्रुओं का विध्वंस करने के कारण **वीर**। एक बार भोजन करने तथा परिमित मात्रा में भोजन करने के कारण अल्पाहारी, न मात्र दो तीन कौर खाने के कारण। जैसा कहा है–

"उदायि, मैं कभी-कभी इस पात्र को भर कर भोजन करता हूं, उससे भी अधिक खाता हूं। 'श्रमण गौतम अल्पाहारी हैं, अल्पाहार की प्रशंसा करते हैं'– ऐसा सोचकर, 'उदायि, यदि मुझको श्रावक सत्कार करे, गौरव दे, मान दे, पूजा करे सत्कार कर, मेरा ही आधार ले मेरे ही आश्रय में विहार करे तो उदायि ऐसे भी तो मेरे श्रावक हैं जो पात्रभर भोजन लेते हैं या आधा पात्र ही खाते हैं, एक बेल या आधे बेल का आहार लेते है तो वे मेरा सत्कार मेरे इस स्वभाव के कारण, आचरण के कारण न करेंगे.. मेरे आश्रय में विहार न करेंगे (म० नि० २.२४२)।'

भोजन में बलवती इच्छा के अभाव से **अलोलुपा**; आठ अंगों से समन्वागत भोजन लेते हैं। मौन से युक्त होने के कारण **मुनिनो**। घर से बेघर हो, एकांत में रहने की इच्छा से, वन में ध्यान करते हैं इसलिए **वने झायन्ति**। इसलिए हेमवत यक्ष ने **'एणिजङ्घ... पे०... एहि पस्साम गोतम"न्ति**।

१६८. सीहंवेकचरं नागं, कामेसु अनपेक्खिनं।
उपसङ्कम्म पुच्छाम, मच्चुपासप्पमोचनं॥

"अकेले विचरनेवाले, कामभोगों के प्रति उदासीन, सिंह की तरह दीखनेवाले महापुरुष के पास जाकर मृत्यु के पाश से छूटने का उपाय पूछें।"

ऐसा कहकर पुनः भगवान के निकट धर्म सुनने की इच्छा से **'सीहंवेकचरं'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

उसका अर्थ यह है। **सीहंव–** मुश्किल से पहुंच पाने के अर्थ में, सहन करने के अर्थ में, निर्भय होने के अर्थ में केशर सिंह की तरह। जिस तृष्णा के कारण 'तृष्णा को द्वितीय पुरुष कहा जाता है' अर्थात पुरुष का साथी कहा जाता है, उसके अभाव से **एकचरं**। एक लोकधातु, में दो बुद्धों की उत्पत्ति नहीं हो सकती– इस कारण भी उन्हें **एकचरं** कहा जाता है। **खग्गविसाणसुत्त** में जिस-जिस अर्थ में **एकचरो** कहा गया है, उस-उस अर्थ को भी यहां समझना चाहिए।

नागं– पुनर्भव में नहीं जाने के कारण, न जानेवाले। अथवा जो पाप नहीं करते– इसलिए **नाग** कहा गया है। बलशाली है इसलिए **नागो** है। उस नाग के पास। **कामेसु अनपेक्खिनं** दोनों कामों में अर्थात **वत्थुकाम** और **किलेसकाम** में अनपेक्ष रहनेवाले के पास। **उपसङ्कम्म पुच्छाम, मच्चुपासप्पमोचनं–** इस प्रकार के उन महर्षि के पास पहुंचकर तीन भूमियों में मृत्यु के पाश से छूटना कैसे होगा, कैसे भवचक्र से सभी प्रकार से मुक्त हो निर्वाण पाऊंगा– इसके बारे में पूछेंगे– जिस उपाय से दुःख समुदय अर्थात तृष्णा

रूपी मृत्युपाश से छुटकारा मिलेगा– उस मृत्युपाश से छूटने की बात पूछेंगे। हेमवत ने इस गाथा को, सातागिर को, उसकी परिषद तथा अपनी परिषद के प्रसंग में कहा।

उस समय आषाढ़ी नक्षत्र घोषित हुआ था। सभी प्रकार के अलंकारो से अलंकृत देवनगर की-सी संपदा अनुभव करते हुए राजगीर में कुरर घर की रहनेवाली काली नामक उपासिका अपने महल पर चढ़ खिड़की खोल गर्भावस्था की थकान को दूर करती हुई जहां हवा चल रही थी वहां वायु सेवन कर रही थी। उसने यक्षसेनापतियों की बुद्धगुण से युक्त बातचीत को आदि, मध्य और अंत तक सुना। 'इस प्रकार अनेक गुणों से समन्वागत बुद्ध हैं' यह सुनकर उसने बुद्ध आलंबन में प्रीति जगायी तथा उसी प्रीति से नीवरणों को हटाकर वहीं बैठे-बैठे श्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुई। तब भगवान ने यह कहकर कि 'मेरी श्राविका उपासिकाओं में जिन्होंने सुनकर मुझमें श्रद्धा विकसित की, उनमें यह कुरर घर में रहनेवाली काली उपासिका है, उसको अग्रस्थान पर रखा (अ० नि० १.१.२६७)।

१६९. अक्खातारं पवत्तारं, सब्बधम्मानपारगुं।
बुद्धं वेरभयातीतं, मयं पुच्छाम गोतमं॥

"धर्म को बतानेवाले, उसका प्रवर्त्तन करनेवाले, सब धर्मों में पारंगत, वैर तथा भय से अतीत हम गौतम से पूछते हैं (स० नि०३.५.१०८१; महाव० १४)।"

वे दोनों यक्ष सेनापति हजार यक्षों के साथ मध्यरात्रि में इसिपतन पहुंचे। धर्मचक्रप्रवर्तन करने की मुद्रा में बैठे भगवान के पास वंदना की और **अक्खातारं पवत्तारं** से प्रारंभ होनेवाली गाथा से भगवान की प्रशंसा करते हुए अनुज्ञा मांगी। कामलोक, रूपलोक तथा अरूपलोक में तृष्णा को एक ओर कर 'भिक्षुओ, यह दुःख आर्य सत्य है' आदि तरीके से सत्यों का व्यवस्थापन करने से **अक्खातारं** (धर्म का उपदेश करनेवाले)। 'भिक्षुओ, यह दुःख आर्यसत्य परिज्ञेय है' आदि तरीके से उनमें ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा ज्ञान प्राप्त हो गया इसकी ओर प्रवृत्त करने से **पवत्तारं** (धर्म का उपदेश करनेवाले)।

जो धर्म जैसे व्यवहार में लाने योग्य है, उसको वैसे ही व्यवहार के लिए कहनेवाले होने के कारण अक्खातारं, वैसे ही धर्मों को व्यक्ति के अनुरूप कहने से पवत्तारं। शीघ्र समझ जानेवाले तथा विस्तार से कहे जाने पर समझनेवाले की देशना को आख्यात करनेवाले ये जो शिक्षित किये जाने योग्य हैं उन्हें शिक्षित करने से पवत्तारं अर्थात व्याख्या करनेवाला। संकेत से बताने के कारण अक्खातारं, टुकड़ा-टुकड़ाकर उस-उस प्रकार से कहकर समझाने के कारण पवत्तारं। बोधिपक्षीय धर्मों को लक्षण के साथ बताने के कारण अक्खातारं और प्राणियों के चित्तसंतान में प्रवृत्त करने के कारण पवत्तारं, संक्षेप में या तीन परिवर्त्तों के साथ सत्यों की व्याख्या करने के कारण अक्खातारं, और विस्तार से कहने के कारण पवत्तारं। 'श्रद्धा इंद्रिय धर्म है, उस धर्म में प्रवृत्त हो'– इस तरह के धर्मचक्र (धर्मोपदेश) आदि से प्रतिसंभिदा के नय से विस्तारित धर्मचक्र को प्रवृत्त करने से (पटि० म० २.४०) पवत्तारं।

सब्बधम्मानं– चित्त की चारों भूमियों के धर्मों को। **पारगु–** छः प्रकार से जो पार चले गये है, अभिज्ञा से, परिज्ञान से, प्रहाण से, भावना करके, साक्षात् कर या ध्यान कर दूसरे किनारे पर चले गये हैं जिन्होंने निर्वाण पा लिया है। वे भगवान सभी धर्मों को सम्यक रूप से जानकर पार चले गये हैं– अतः अभिञ्ञापारगू (अभिज्ञापारगू), पांच उपादान स्कंधों को निश्चित रूप से जानते हुए पार चले

गये हैं इसलिए परिञ्ञापारगू (परिज्ञान पारगू), सभी क्लेशों को प्रहीणकर चले गये इसलिए पहानपारगू (प्रहाणपारगू), चार मार्गों की भावना करते हुए पार चले गये इसलिए भावनापारगू, निरोध का साक्षात्कार करते हुए पार चले गये इसलिए सच्छिकिरियापारगू (साक्षात्कृत पारगू) तथा सभी समापत्तियों का अभ्यास करते हुए पार चले गये इसलिए समापत्तिपारगू। इस प्रकार सभी धर्मों में पारगू, सभी धर्मों को पार करने के कारण पारगू। **बुद्धं वेरभयातीतं–** अज्ञान में सोये रहने से जागने के कारण बुद्ध को, शरण की व्याख्या में सबों द्वारा कहे जाने के अर्थ में बुद्ध को, पांच वैर भय को समाप्त करने के कारण वैर भय से अतीत को (हिंसा, चोरी, काम में मिथ्या आचरण, असत्य भाषण और शराब आदि का सेवन) बुद्ध को (पूछें)। इस प्रकार भगवान की प्रशंसा करते हुए 'हमलोग गौतम से पूछेंगे' इसके लिए अनुज्ञा ली गयी।

१७०. किस्मिं लोको समुप्पन्नो, (इति हेमवतो यक्खो) किस्मिं कुब्बति सन्थवं।
किस्स लोको उपादाय, किस्मिं लोको विहञ्ञति॥

"लोक किससे उत्पन्न हुआ है अर्थात क्या उत्पन्न होने पर लोक उत्पन्न होता है? (हेमवत यक्ष ने पूछा) यह किससे परिचय प्राप्त करता है, किसके संसर्ग में रहता है? यह लोक किस उपादान से बना रहता है? किससे यह दुःखी होता है?"

अब तेज और प्रज्ञा में आगे उन यक्षों में हेमवत ने पूछने योग्य अभिप्रेत को पूछते हुए **"किस्मिं लोको"**ति यह गाथा कही।

उसके प्रथम चरण में **किस्मिं–** भाव तथा भावलक्षण में सप्तमी में प्रयुक्त है, क्या उत्पन्न होने पर लोक उत्पन्न होता है– यही यहां अभिप्राय है। प्राणिलोक तथा संस्कारलोक के बारे में पूछता है।

किस्मिं कुब्बति सन्थवं– मैं हूँ, मेरा है, तृष्णा दृष्टि से प्रगाढ़ता किसमें दर्शाता है। सप्तमी अर्थ में द्वितीया का प्रयोग है।

किस्स लोको– उपयोग (द्वितीया) अर्थ में षष्ठी का प्रयोग है।

किसको ग्रहण करता है जिससे इसका नाम 'लोक' पड़ा– इसका यहां यह अभिप्राय है।

किस्मिं लोको– भाव से भाव लक्षण अर्थ में यहां सप्तमी है। किसके होने से, किस कारण से लोक दुःखी होता है, पीड़ित होता है, उत्पीड़ित होता है– यह यहां अभिप्राय है।

१७१. 'छसु लोको समुप्पन्नो' (हेमवताति भगवा) छसु कुब्बति सन्थवं।
छन्नमेव उपादाय, छसु लोको विहञ्ञति॥

"छह कारणों से लोक उत्पन्न हुआ है, छह से यह मेलजोल करता है। छह ही इसके (लोक के) उपादान कारण हैं और छह से यह लोक पीड़ित होता है।"

अब चूंकि छः आंतरिक और छः बाह्य आयतनों के होने पर प्राणिलोक और धन-धान्यादि के कारण संस्कारलोक उत्पन्न होता है इसलिए यहां प्राणिलोक बारह आयतनों से परिचित होता है। चक्षु आयतन को 'यह मैं हूं यह मेरा है', ऐसा समझता है। शेष को भी इसी तरह। जैसे कहा है– चक्षु

आत्मा है जो ऐसा कहे– **तं न उपपज्जतीति**[१]**–** (म० नि० ३.४२२) (वह तर्क संगत नहीं है) आदि। चूंकि इन्हीं छः के कारण छः गुणा दो अर्थात बारह को ग्रहण कर लोक कहा जाता है, चूंकि उनमें के होनेपर सत्त्वलोक दुःख के प्रादुर्भूत होने से पीड़ित होता है। जैसे कहा है– 'भिक्षुओ, हाथ के रहने पर लेना और फेंकना होता है, पैर के होने से आगे जाना, पीछे लौटना होता है, जोड़ या गांठ या पर्व के होने से पसारना तथा सिकोड़ना होता है, पेट के होने से भूख प्यास लगती है, इसी प्रकार, भिक्षुओ, चक्षु के होने पर चक्षु के संस्पर्श से अंदर में सुख-दुःख उत्पन्न होता है आदि।' (सं० नि० २.४.२३७)

वैसे ही उन आधारों के प्रतिहत होने पर संस्कारलोक कष्ट पाता है। जैसे कहा चक्षु पथ में अच्छा रूप नहीं आने पर द्वेष उत्पन्न करने पर कष्ट होता है (ध० स० ५९७-८) 'भिक्षुओ, चक्षु प्रिय तथा अप्रिय रूपों में कष्ट पाता है।' (सं० नि० २.४.२३८)

इस तरह उन कारणों से दोनों प्रकार का लोक कष्ट पाता है। जैसे कहा है– 'चक्षु प्रिय तथा अप्रिय रूपों में कष्ट पाता है' (सं० नि० २.४.२३८)। 'भिक्षुओ, चक्षु आदीप्त है, रूप आदीप्त है। किससे आदीप्त है? 'रागाग्नि से' (सं० नि० २.४.२८; महाव० ५४) आदि की तरह।

इसलिए उसके प्रश्न को छः आंतरिक और छः बाह्य आयतनों के बारे में बताकर उत्तर देते हुए कहा–

१७२. कतमं तं उपादानं (इति हेमवतो), यत्थ लोको विहञ्ञति।
निय्यानं पुच्छितो ब्रूहि, कथं दुक्खा पमुच्चति॥

"वह उपादान क्या है (हेमवत ने पूछा) जहां लोक कष्ट पाता है? मुक्ति के बारे में पूछे जाने पर आप कृपया बताएं कि दुःख से कोई कैसे छुटकारा पाता है?"

अब उस यक्ष ने जब यह देखा कि उसके द्वारा अपने भवचक्र के बारे में पूछे गये प्रश्न का जो उत्तर भगवान ने संक्षेप में द्वादस आयतनों के बारे में कहकर दिया, वह स्पष्ट नहीं था तो उसके अर्थ के, उसके विपरीत अर्थ के बारे में जानने की इच्छा से भवचक्र कैसे बनता है और कैसे टूटता है– इसके बारे में पूछा। यहां उपादानं अर्थात बलवती तृष्णा को उपादान कहते हैं। यह दुःख सत्य का पर्याय है। **यत्थ लोको विहञ्ञति–** छः से लोक कष्ट पाता है। इस प्रकार भगवान ने छः प्रकार के उपादान रहने पर लोक कष्ट पाता है, ऐसा कहा– वे उपादान कितने हैं?

इस प्रकार आधी गाथा से उसी तरह से दुःख सत्य के बारे में पूछा। समुदय सत्य अर्थात दुःख समुदय सत्य का इसका कारण होने से ग्रहण हो जाता है।

निय्यानं पुच्छितो– इससे प्रारंभ होनेवाली उपार्द्ध गाथा से मार्गसत्य के बारे में पूछा। मार्गसत्य से आर्यश्रावक दुःख को पूरी तरह से जानते हुए, दुःख के कारण का त्याग करते हुए, दुःख निरोध का साक्षात्कार करते हुए, मार्ग की भावना करते हुए इस लोक के पार जाता है, लोक से बाहर जाता है, इसलिए यह मुक्ति कही जाती है। **कथं–** कैसे? **दुक्खा पमुच्चति–** उपादान के बारे में कहे जाने पर भवचक्र के दुःख से मुक्ति पाता है अर्थात अगर वह उपादान को अच्छी तरह जान जाता है तो भवचक्र

---

१. उपपज्जति का अर्थ तर्कशास्त्र में तर्कसंगत किया गया है। देखें म० नि० के भिक्षु ञाणमोलि तथा भिक्षु बोधि द्वारा किये गये अनुवाद की टिप्पणी संख्या ९३३०।

से मुक्ति का उपाय भी जान ही जायगा। इस प्रकार यहां उसी तरह से मार्गसत्य पूछा, निरोध सत्य चूंकि उसका विषय है इसलिए उसका ग्रहण हो ही जाता है।

१७३. पञ्चकामगुणा लोके, मनोछट्ठा पवेदिता।
एत्थ छन्दं विराजेत्वा, एवं दुक्खा पमुच्चति॥

"संसार में पांच प्रकार के कामगुण (इंद्रियसुख) और छठा मन कहे गये हैं। यहां (इन सबों में) जो राग त्याग देता है, वह दुःख से मुक्त हो जाता है।"

इस प्रकार यक्ष द्वारा उसी तरह से दिखाकर या न दिखाकर चार आर्यसत्यों के बारे में पूछे गये प्रश्नों को भगवान ने उसी विधि से समाधान करते हुए कहा– **पञ्चकामगुणा–** यहां पांच कामगुणों का अर्थ चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, तथा काय से ग्रहण किये जानेवाले जो गोचर हैं जैसे रूप, शब्द, गंध रस, और स्प्रष्टव्य वे गृहीत होंगे। इनमें मन छठा है– **पवेदित–** प्रकाशित।

यहां आंतरिक छठे मनायतन के ग्रहण से उसका विषय धर्मायतन भी गृहीत हो ही जाता है। इस प्रकार 'उसके उपादान कितने हैं' इस प्रश्न को विसर्जित करते हुए, बारह आयतनों के कारण दुःख सत्य का प्रकाशन किया। मन के ग्रहण से सात विज्ञान धातुओं को ग्रहण करने के कारण उनमें पहले पांच विज्ञान धातु के ग्रहण से उनके स्थान चक्षु आदि पांच आयतन और मनोधातु तथा मनोविज्ञानधातु के ग्रहण से उनके स्थान धर्मायतन का ग्रहण होता ही है– इस प्रकार बारह आयतनों से दुःख सत्य को प्रकाशित किया। लोकोत्तर मनायतन और धर्मायतन यहां संगृहीत नहीं है, क्योंकि लौकिक मनायतन और धर्मायतन का वर्णन पूर्व में दुःख के संदर्भ में किया जा चुका है।

एत्थ छन्दं विराजेत्वा– यहां बारह आयतन के भेद से दुःख सत्य को, उन्हीं आयतनों को स्कंध, धातु, नामरूप से वैसे-वैसे व्यस्थापित कर त्रिलक्षण का आरोपन कर, विपश्यना करते हुए अर्हतमार्ग के पर्यवसान विपश्यना से तृष्णा नामकं **छन्दं–** छंद को) सब प्रकार से **विराजेत्वा–** दूर हटा कर, विध्वंस कर– यह अर्थ है। **एवं दुक्खा पमुच्चति–** इस प्रकार से इस भवचक्र से मुक्त होता है।

इस प्रकार इस उपार्द्धगाथा से 'दुःख से बाहर निकलने का रास्ता पूछता हूं उसे कहें, कैसे दुःख से मुक्ति मिलती है?' इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। मार्ग सत्य को प्रकाशित कर– समुदय एवं निरोध सत्य यहां पहले की तरह संगृहीत करने के कारण प्रकाशित हुए ही हैं– यह जानना चाहिए।

आधी गाथा से दुःख सत्य८ को, छंद से समुदय सत्य को **'विराजेत्वा'** अर्थात विराग से निरोध सत्य को और 'विराग से विमुक्त होता है' कहने से मार्ग सत्य को (कहा गया है) 'इस प्रकार' उपाय निदर्शन से मार्गसत्य को तथा यह दुःख निरोध है कहकर दुःख निरोध को। 'दुःख से मुक्त होता है' कहने से दुःख मुक्ति से निरोध सत्य को– इस तरह चारों सत्य प्रकाशित किये गये हैं– यह जानना चाहिए।

१७४. एतं लोकस्स निय्यानं, अक्खातं वो यथातथं।
एतं वो अहमक्खामि, एवं दुक्खा पमुच्चति॥

"जैसा है उस प्रकार के संसार से मुक्ति का पथ तुम्हें बताया गया है। यही मैंने तुम्हें बताया है। यही मैं तुम्हें कहता हूं। इस प्रकार ही दुःख से मुक्ति मिल सकती है।"

इस प्रकार चार आर्य सत्यों को बतानेवाली गाथा से लक्षण से बाहर निकलने के मार्ग को प्रकाशित कर पुनः उसी की अपने से ही व्याख्या कर दृष्टांत देते हुए कहा **एतं लोकस्स निय्यानं–** यही लोक से मुक्ति है। यहां **एतं** का अर्थ पहले बतायी गयी विश्लेषणात्मक व्याख्या है । **लोकस्स–** कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक का। **यथातथं–** अविपरीत, यथासत्य।

एतं वो अहमक्खामि– अगर हजार बार भी पूछोगे तो तुम्हें यही कहूंगा, दूसरा नहीं। क्यों? चूंकि इस तरह ही दुःख से मुक्त होता है, दूसरी तरह से नहीं– यह कहने का तात्पर्य है।

अथवा बाहर निकालनेवाले इस मार्ग से एक-दो-तीन बार निकले को यही कहूंगा, इससे विशेष की प्राप्ति कर लेने से भी ऐसा ही कहूंगा– यह अर्थ है। क्यों? चूंकि इस प्रकार ही दुःख से अशेष निशेष रूप से मुक्त होता है– ऐसा कह अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए उपदेश को समाप्त किया। उपदेश के अंत में दोनों यक्ष सेनापतियों ने हजारों यक्षों के साथ श्रोतापत्ति फल प्राप्त किया।

१७५. को सूध तरति ओघं, कोध तरति अण्णवं।
अप्पतिट्ठे अनालम्बे, को गम्भीरे न सीदति॥

“यहां बाढ़ कौन पार करता है? यहां समुद्र कौन पार करता है? कौन है यहां जो समुद्र में बिना प्रतिष्ठित हुए बिना सहारा प्राप्त किये (नीचे बिना आधार के और ऊपर बिना आलंबन के) डूबता नहीं है?”

हेमवत स्वाभाविक रूप से धर्म का गौरव करनेवाला है। अब आर्य भूमि पर अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो अतृप्त हेमवत ने भगवान की प्रतिभानवाली देशना से शैक्ष्य तथा अशैक्ष्य भूमि के बारे में भगवान से पूछते हुए **‘को सूध तरति’** आदि गाथा कही।

यहां **को सूध तरति ओघं–** इस तरह चार बाढ़ों को कौन बिना किसी तरह भेद किये पार करता है– ऐसा पूछकर शैक्ष्य भूमि के बारे में पूछता है। चूंकि **अण्णवं–** समुद्र सिर्फ विस्तार तथा गंभीरता को नहीं बल्कि जो बहुत विस्तृत और बहुत गंभीर है उसको कहा जाता है, वैसे यह संसार समुद्र है। यह चारों तरफ इतना विस्तृत है कि इसका आखिरी छोर नहीं दीखता, नीचे आधार के अभाव में तथा ऊपर आलंबन के अभाव में अर्थात कहां तक ऊपर और कहां तक नीचे है– अर्थात गंभीर है, इसलिए ‘कौन यहां संसार समुद्र बिना डूबे पार करता है, इस गंभीर समुद्र को जो कितनी दूर नीचे तक और कितना ऊपर तक फैला है– ऐसा पूछकर अशैक्ष्य भूमि के बारे में पूछता है’।

१७६. सब्बदा सीलसम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
अज्झत्तचिन्ती सतिमा, ओघं तरति दुत्तरं॥

“जो सर्वदा शीलसंपन्न है, प्रज्ञावान तथा सुसमाधिस्थ है, जो लगातार स्मृतिमान हो आत्मचिंतन करता रहता है, वही इस बहुत कठिनाई से पार होनेवाले समुद्र को पार कर सकता है।”

अब भगवान ने यह कहकर कि जो भिक्षु अपने जीवन की रक्षा करने के लिए सदा शीलसंपन्न रहता है, कभी शील को खंडित नहीं करता, जो लोकीय और लोकोत्तर प्रज्ञा से युक्त प्रज्ञावान है, उपचार तथा अर्पणा समाधि से तथा सबसे नीचे ईर्यापथ से तथा मार्ग और फल से अच्छी तरह

एकाग्रचित्त है, त्रिलक्षण का आरोप कर विपश्यना से अपने भीतर सदा अप्रमादी तथा स्मृतिमान हो कार्यरत होता है, चूंकि वह चौथे मार्ग से इस कठिनाई से पार किये जानेवाले बाढ़ को पूरी तरह से पार करता है, इसलिए शैक्ष्य भूमि कौन है– इसका उत्तर देते हुए **'सब्बदा सीलसम्पन्नो'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा, जिसके गर्भ में तीनों शिक्षाएं हैं, कही। यहां शील संपदा से अधिशील शिक्षा, स्मृति तथा समाधि से अधिचित्तशिक्षा और अंदर ही अंदर चिंतन करनेवाली प्रज्ञा से अधिप्रज्ञा शिक्षा इन तीनों प्रकार की शिक्षाओं को, इनसे होनेवाले उपकार तथा लाभ के साथ कहा। शिक्षाओं का उपकार लोकीय प्रज्ञा तथा स्मृति है और श्रामण्य फल लाभ है।

१७७. **विरतो कामसञ्ञाय, सब्बसंयोजनातिगो।**
नन्दीभवपरिक्खीणो, सो गम्भीरे न सीदति॥

"जो काम संज्ञा अर्थात इंद्रियसुखों से विरत हो, सभी संयोजनों के पार चला गया हो, जिसने तृष्णा तथा भव को परिक्षीण किया हो वह संसार के गंभीर सागर में नहीं डूबता।"

इस प्रकार प्रथम गाथा से शैक्ष्यभूमि को दिखाकर अब अशैक्ष्यभूमि को बताते हुए दूसरी गाथा कही। उसका अर्थ– **विरतो काम सञ्ञाय–** जो कुछ कामसंज्ञा या इंद्रियसुख है, उन सबों से चौथे मार्ग से युक्त समुच्छेदविरति से विरत अर्थात अलग, दूर। **'विरत्त'** भी पाठ है। तब **'कामसञ्ञाय'** में सप्तमी विभक्ति है। सगाथावग्ग में 'काम सञ्ञासु' (सं० नि० १.१.९६) भी पाठ है। चार मार्गों से दसों संयोजनों को दूर कर, उनके पार जा **सब्बसंयोजनातिगो**। चौथे मार्ग से (अर्हत मार्ग से) उद्धम्भागीय सभी संयोजनों के पार चला जाता है, वहां-वहां अभिनंदन करनेवाली तृष्णा नामक नंदी से (मनोविनोद से) 'तीनों भवों' (कामभव, रूपभव और अरूपभव) को परिक्षीण कर वह **नन्दीभवपरिक्खीणो** कहलाता है अर्थात नंदी के कारण बननेवाला भव जिसका क्षीण हो गया है। वैसे ही क्षीणश्रव भिक्षु गंभीर संसार-सागर में तृष्णा के पूर्ण क्षय से सोपादिशेष निर्वाण और भव के पूर्ण क्षय से अनुपादिशेष निर्वाण स्थल पर पहुंचकर परम आश्वास पाने के कारण नहीं डूबता है।

१७८. **गम्भीरपञ्ञं निपुणत्थदस्सिं, अकिञ्चनं कामभवे असत्तं।**
तं पस्सथ सब्बधि विप्पमुत्तं, दिब्बे पथे कममानं महेसिं॥

"उनको देखो जो गंभीरप्रज्ञ हैं, जो अपना लक्ष्य या हित देखने में निपुण हैं, जो अकिंचन हैं, जिनके पास कुछ नहीं है, जो इंद्रिय सुखों में आसक्त नहीं हैं, जो सभी प्रकार से विमुक्त हैं, जो महर्षि दिव्यपथ पर चले जा रहे हैं।"

अब हेमवत ने अपने मित्र और यक्षपरिषद को देखा और उनके मन में प्रीति जागी। प्रीति और सौमनस्य से भर कर उसने **गम्भीरपञ्ञं** से प्रारंभ होनेवाली गाथाओं से भगवान की स्तुति करते हुए अपने मित्र और परिषद के साथ भगवान का अभिवादन किया, प्रदक्षिणा की और अपने निवास स्थान चला गया।

उन गाथाओं की यह व्याख्या है। **गम्भीरपञ्ञं–** गंभीर प्रज्ञा से समन्वागत। यहां **पटिसम्भिदा** में कही गयी गंभीर प्रज्ञा जाननी चाहिए। वहां कहा गया है, 'गंभीर स्कंधों में प्रवर्तित होनेवाला ज्ञान गंभीर

प्रज्ञा है (पटि० म० ३.४) आदि। **निपुणत्थदस्सिं–** कुशल क्षत्रिय पंडितों आदि द्वारा रचे गये प्रश्नों के अर्थ को जाननेवाले को या, जिन सूक्ष्म कारणों से दूसरों द्वारा कठिनाई से समझा जानेवाला है उनको जानने से वे निपुण अर्थ जाननेवाले हैं उनको। राग आदि के बिल्कुल अभाव से **अकिञ्चनं**। दो प्रकार के कामों में तथा तीन प्रकार के भवों में, अनासक्त रहने से **कामभवे असत्तं**। स्कंध आदि के भेद से सभी आलंबनों में छंद राग बंधन के अभाव से **सब्बधि विप्पमुत्तं**।

दिब्बे पथे कममानं– समापत्तियों के भेद से जो आठ दिव्य पथ हैं उन पर आरूढ़ हो चंक्रमण करते हुए। यहां उस समय भगवान जरा भी दिव्य पंथ में चंक्रमण नहीं कर रहे थे, बल्कि पूर्व में चंक्रमण करके चंक्रमण शक्ति के स्वभाव से वहां प्राप्त वश करने की क्षमता से ऐसा कहते हैं। अथवा ये जो विशुद्ध देव अर्हत हैं, उनके पथ में संत विहार में चंक्रमण से उपेत हैं– यह कहा गया है। महान गुणों को खोजने के कारण महर्षि को।

१७९. अनोमनामं निपुणत्थदस्सिं, पञ्ञाददं कामालये असत्तं।
तं पस्सथ सब्बविदुं सुमेधं, अरिये पथे कममानं महेसिं॥

“उनको देखो, जो श्रेष्ठ हैं, पूर्ण हैं और जो निपुण अर्थ (लक्ष्य) दर्शी हैं, जो प्रज्ञा सिखानेवाले हैं, जो कामों में (इंद्रियसुखों में) आसक्त नहीं है, जो सब कुछ जाननेवाले हैं, बहुत ही मेधावाले हैं, जो महर्षि हैं, उनको आर्यपथ पर विहार करते देखो।”

द्वितीयगाथा द्वारा दूसरे पर्याय से स्तुति आरंभ कर फिर निपुण अर्थदर्शी का उदाहरण देता है। अथवा निपुण अर्थ के दिखानेवाले को– यह अर्थ है। **पञ्ञाददं–** प्रज्ञा की प्राप्ति की ओर ले जानेवाले आचरण के कथन से प्रज्ञादायक को। **कामालये असत्तं–** यह जो काम में तृष्णा तथा दृष्टि के कारण दो प्रकार के आलय हैं, उनमें अनासक्त को। **सब्बविदुं–** सब धर्मों को जाननेवाले को, सर्वज्ञ को– कहा गया है। **सुमेधं–** अपने सर्वज्ञताभाव से तथा मार्गभूत हुए ही पारमी तथा प्रज्ञा नामक मेधा से समन्वागत को। **अरिये पथे–** अष्टांगिकमार्ग में, फल समापत्ति में। **कममानं–** पूर्व के बुद्धों की तरह चतुर्विध मार्ग भावना में चंक्रमण करने की शक्ति से प्रज्ञा द्वारा डुबकी लगाकर मार्ग लक्षण को जानकर देशना करते हुए क्षण-क्षण में फल समापत्ति ध्यान में प्रवेश करते हुए को।

१८०. सुदिट्ठं वत नो अज्ज, सुप्पभातं सुहुट्ठितं।
यं अद्दसाम सम्बुद्धं, ओघतिण्णमनासवं॥

“वस्तुतः हमलोगों ने आज शुभ देखा– हमलोगों का देखना शुभ देखना हुआ। आज का प्रभात शुभ है, सूर्योदय शुभ है कि हमलोगों ने आज सम्यक संबुद्ध को देखा, जो आश्रवरहित हैं और जिन्होंने संसार बाढ़ को पार कर लिया।”

सुदिट्ठं वत नो अज्ज– आज हमलोगों ने शुभ देखा। आज का हमारा देखना शुभ हुआ। **सुप्पभातं सुहुट्ठितं–** आज का प्रभात हमारे लिए शुभ है, सुंदर है, आज का हमारा उठना सुंदर हुआ। बिना बाधा के सोये से उठना सुंदर हुआ। क्यों? चूंकि हमलोगों ने सम्यक संबुद्ध को देखा। ऐसा कह अपनी लाभ संपत्ति के बारे में प्रमोद की बात कहता है।

१८१. इमे दससता यक्खा, इद्धिमन्तो यसस्सिनो।
सब्बे ते सरणं यन्ति, त्वं नो सत्था अनुत्तरो॥

"ये दस सौ यक्ष जो ऋद्धिमान हैं, प्रसिद्ध हैं, सभी आपकी शरण जाते हैं। आप हमारे अप्रतिम अनुत्तर शास्ता हैं।"

इद्धिमन्तो– कर्म विपाक से जनमे ऋद्धि से समन्वागत अर्थात पूर्व **जन्म** के संस्कारजन्य ऋद्धि से समन्वागत। **यसस्सिनो–** श्रेष्ठतम लाभ और श्रेष्ठतम परिवार से संपन्न। **सरणं यन्ति–** कितने भी मार्ग से गये, फिर भी श्रोतापन्न भाव को दिखाने तथा प्रसन्नता दिखाने के लिए शब्द से अलग अलग करते हैं, शब्द द्वारा भेद करते हैं।

१८२. ते मयं विचरिस्साम, गामा गामं नगा नगं।
नमस्समाना सम्बुद्धं, धम्मस्स च सुधम्मतं॥

"हमलोग एक गांव से दूसरे गांव और एक पर्वत से दूसरे पर्वत संबुद्ध तथा धर्म की धर्मता की वंदना करते हुए विचरण करेंगे।"

गामा गामं– एक देवग्राम से दूसरे देवग्राम, **नगा नगं–** एक देवपर्वत से दूसरे देवपर्वत, **नमस्समाना सम्बुद्धं, धम्मस्स च सुधम्मतं** 'भगवान निश्चय ही सम्यक संबुद्ध हैं, उनका धर्म निश्चय ही सुआख्यात है' आदि के अनुसार बुद्ध द्वारा अच्छी तरह बोधित की और धर्मसुधर्मता को और 'भगवान का श्रावकसंघ अच्छे मार्ग पर आरूढ है' (आदि कहे अनुसार) संघ द्वारा पालन किये जानेवाले सुआचरण की प्रशंसा करेंगे, नमस्कार करेंगे और धर्म की घोषणा करनेवाला हो विचरण करेंगे– ऐसा कहा। शेष यहां स्पष्ट ही है।

हेमवतसुत्तवर्णना समाप्त।

१०. आलवकसुत्तवर्णना

एवं मे सुतं से प्रारंभ होनेवाला **आलवकसुत्त** है। इसकी क्या उत्पत्ति है? इसकी उत्पत्ति व्याख्या से स्पष्ट होगी। व्याख्या में 'ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान' यहां यह कहा ही गया है। **आळवियं विहरति आळवकस्स यक्खस्स भवने।** यहां आलवी क्या है, क्यों भगवान उस यक्ष के भवन में विहार कर रहे थे? कहा जाता है– आलवी राष्ट्र भी है और नगर भी, यहां दोनों ही को आलवी कहा गया है। आलवी नगर के निकट विहार करते हुए भी 'आलवी में विहार करते थे' कहा गया है। उस नगर के निकट ही गावुत भर की दूरी पर आलवी राष्ट्र में यह भवन है इसलिए आलवी राष्ट्र में विहार करते हुए भी 'आलवी में विहार कर रहे थे' कहा जाता है।

चूंकि आलवक राजा नाना प्रकार के नर्त्तकों तथा अभिनेताओं द्वारा किये जानेवाले प्रदर्शनों का उपभोग न कर चोर को दूर करने अर्थात राज्य को चोर से मुक्त करने, शत्रु को जीतने तथा व्यायाम करने के लिए हर सातवें दिन शिकार पर जाते थे इसलिए एक दिन सेना के साथ उनका एक समझौता हुआ। 'जिसकी बगल से मृग भागेगा, उसका ही यह भार (कर्तव्य) होगा कि वह उसे मारे।' अब उन्हीं की बगल से मृग भागा। शक्तिसंपन्न राजा ने धनुष ले पैदल ही तीन योजन तक उस मृग का पीछा किया। एणि मृग तीन योजन तक ही तेजी से भाग सकता है। अब एणि मृग की शक्ति क्षीण हो गयी और उसने पानी में प्रवेश किया तो राजा ने उसे मारा और दो टुकड़ा किया। इस अपवाद के भय से कि मांस अखाद्य है मृग को नहीं ले जाना चाहिए, इच्छा न रहते हुए भी मृग को वहंगी में लेकर आते हुए नगर के निकट थकान मिटाने के लिए पत्तों से भरे न्यग्रोध के बड़े पेड़ के नीचे आये। उस वृक्ष पर आलवक यक्ष रहता था। महाराज से उसने वर ले रखा था कि दोपहर के समय उस वृक्ष की छाया में जो भी प्रवेश करेगा उसको वह खायगा। राजा को देख वह खाने के लिए पास आया। राजा ने उसके साथ एक समझौता किया, 'छोड़ दो मुझे, मैं तुम्हें प्रतिदिन एक मनुष्य और खीर भेजा करूंगा'। यक्ष ने कहा, 'तुम राज्य संपदा का उपभोग कर प्रमत्त हो भूल जाओगे, किंतु मैं बिना घर गये, बिना आज्ञा पाये खाना नहीं प्राप्त करूंगा' और उसने 'मैं तुम्हें भी खो दूं' कह राजा को नहीं छोड़ा। राजा ने कहा, 'जिस दिन मैं नहीं भेजूंगा, उस दिन मुझे पकड़कर खा जाना' अपने खाने के लिए अनुमति दे, उससे मुक्त हो नगर की ओर चल दिया।

रास्ते में छावनी बनाकर रह रही सेना ने राजा को देखकर पूछा– 'महाराज, क्या मात्र अपयश के भय से इस प्रकार थके लग रहे हैं?' फिर उन लोगों ने आगे आकर राजा का स्वागत किया। राजा ने मन की बात नहीं कही। वे नगर गये, जलपान किया और नगर के प्रधान रक्षक अधिपति को बुलाकर यह बात कही। नगर के प्रधान रक्षक ने पूछा,'देव समय सीमा देकर आये हैं? राजा ने कहा, 'वैसा तो नहीं किया'। 'देव, यह अच्छा नहीं किया, अमनुष्य एक सीमा तक ही प्राप्त करते हैं, समय सीमा नहीं बांधने पर जनपद में रोग होगा। अच्छा, देव अब कुछ भी हो, ऐसा तो आपने कर दिया। अब आप

बेफिक्र रहें और राज्यसुख अनुभव करें। जो करना होगा, मैं करूंगा।'

नगर रक्षक समय रहते उठकर वंधनागार गये और जो-जो मार डालने योग्य थे अर्थात जिनको मौत की सजा मिली थी, उनके बारे में पूछ यह कहते कि 'जो जो जीवित रहना चाहते हो, बाहर निकलो।' जो पहले निकलता, उसे घर ले जा स्नान करा, भोजन खिला यह कहकर भेजते कि 'इस खीर को यक्ष को दे आओ'।

वह जैसे ही वृक्षमूल में जाता, यक्ष अपना विशाल रूप धारण कर उसको कंद विशेष के समान खा जाता। यक्ष के प्रताप से मनुष्यों का केश आदि पूरा शरीर मक्खन के समान हो जाता।

जो लोग यक्ष को भोजन करवाने जाते थे वे यह देख, भयभीत हो अपने मित्रों को कहते। उसके बाद यह सोचकर कि 'राजा चोर को पकड़कर यक्ष को देते हैं' लोग चोरी से विरत हो गये। बाद में नये चोरों के अभाव से पुराने चोरों के समाप्त हो जाने से जेल खाली हो गये।

अब नगर रक्षक ने राजा को (यह) सूचना दी। राजा ने अपना धन नगर की गलियों में यह सोचकर फेंकवा दिया कि 'निश्चय ही कोई न कोई लालच से इसे लेगा'। लेकिन लोगों ने पैर से भी उसे नहीं छुआ। चोर न मिलने पर उन्होंने अमात्यों को यह सूचना दी। अमात्यों ने कहा, 'एक-एक परिवार से हमलोग उस बूढ़े व्यक्ति को भेजेंगे जो मृत्यु के मुख में जाने ही वाला है'। राजा ने यह कहकर रोका कि लोग इससे क्षुब्ध होंगे कि 'हमारे पिता, हमारे पितामह को भेजा जाता है'। उन लोगों को यह बात नहीं रुचेगी। "तब देव, हमलोग बच्चे भेजेंगे, वैसे बच्चों को जिनके मन में स्नेह नहीं होता और वे यह नहीं जानते कि 'यह मेरे पिता हैं, यह मेरी मां है'।" राजा ने अनुमति दी। उन लोगों ने वैसा ही किया। नगर में माताएं बच्चों को लेकर दूसरे जनपद चली जातीं और जब बच्चे बड़े होते तब उन्हें लातीं। गर्भवती स्त्रियां भी वैसा ही करतीं। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये।

उसके बाद एक दिन पूरा शहर छान मारा गया, जब एक भी बच्चा नहीं मिला तो राजा को सूचना दी। 'देव, आपके पुत्र आलवक कुमार को छोड़ नगर में कोई बालक नहीं है'। राजा ने कहा, 'जैसा मेरा बेटा, वैसा सबका, अपना बेटा अधिक प्रिय नहीं है। जाओ, इसे ही देकर मेरे प्राणों की रक्षा करो'। उस समय आलवक कुमार की मां अपने बेटे को स्नान करा, अलंकृत कर, अच्छी किस्म के कपड़े की गेंडुरी में रख, गोद में सुला, बैठी थी। राजपुरुष राजा की आज्ञा से वहां गये और उनको उनकी सोलह हजार धात्रियों के साथ रोता छोड़ बच्चे को लेकर लौट गये। 'कल तुम यक्ष द्वारा खाये जाओगे– कल तुम यक्ष का आहार बनोगे'।

उस दिन भगवान प्रत्यूष काल में उठे और जेतवन महाविहार की गंधकुटी में महाकरुणा समापत्ति में ध्यान लगाया, फिर बुद्धचक्षु से संसार को देखते हुए आलवक कुमार के अनागामी फल प्राप्त करने के आधार को देखा और यक्ष में श्रोतापत्ति फल प्राप्त करने का आधार देखा और यह भी देखा कि देशना के अंत में चौरासी हजार प्राणियों को धर्मलाभ होगा। इसलिए तड़के ही जब सुबह की रोशनी फैलने ही वाली थी भोजन करने के पहले जो करणीय है उसे कर भोजन के बाद करणीय को असमाप्त रख कृष्णपक्ष में पड़नेवाले उपोसथ के दिन जब सूर्योदय हो ही रहा था अकेले पात्र और चीवर ले पैदल ही श्रावस्ती से तीस योजन चलकर उस यक्ष के घर गये। इसलिए कहा गया, 'आलवक यक्ष के भवन में'।

जिस न्यग्रोध (बरगद का पेड़) के पास आलवक का भवन था, भगवान क्या वहां विहार कर रहे थे या भवन में थे? कहा जाता है– भवन में ही थे। जिस प्रकार यक्ष अपना घर देखते हैं, वैसे ही भगवान भी। वे वहां जाकर भवन के द्वार पर खड़े हुए। उस समय आलवक यक्षों की सभा में हिमालय गया हुआ था। उस समय आलवक यक्ष का द्वारपाल गद्रभ नामक यक्ष ने भगवान के पास पहुंच उनकी वंदना की और पूछा, 'भगवान, आप उचित समय पर नहीं आये हैं।'

'हां गद्रभ, असमय आया हूं। तुम बुरा न मानो तो मैं एक रात बिताना चाहता हूं आलवक के भवन में।' 'भंते, मुझको क्यों बुरा लगेगा? फिर भी वह यक्ष कर्कश है, कठोर है, माता-पिता का भी अभिवादन नहीं करता, आपको ही यहां रहना ठीक नहीं लगेगा।' 'गद्रभ, जानता हूं उसकी कर्कशता को, लेकिन मेरे लिए वह विघ्न नहीं है। तुम्हें अगर भार न लगे तो एक रात यहां विहार करूंगा।'

दूसरी बार भी गद्रभ यक्ष ने भगवान को ऐसा ही कहा, 'भंते, आग से तपी खोपड़ी के समान वह आलवक है, न वह माता-पिता को, न श्रमण ब्राह्मण को और न धर्म को ही वह जानता है। यहां आये हुए को वह पागल कर देता है, हृदय भी फाड़ देता है और पैर पकड़कर समुद्र के उस पार या चक्रवाल के उस पार फेंक देता है।' दूसरी बार भी भगवान ने कहा, 'गद्रभ जानता हूं।' तीसरी बार भी गद्रभ यक्ष ने भगवान से कहा 'भंते, आग से तपी खोपड़ी... अगर तुम्हें बुरा न लगे, कष्ट न हो तो एक रात यहां विहार करूंगा।' तीसरी बार भगवान ने भी गद्रभ से वही बात कही। 'भंते, मुझे क्यों बुरा लगेगा, फिर भी वह यक्ष, बिना उसको सूचित किये अनुमति देने से मुझको जिंदा ही मार देगा, भंते, मैं उसे सूचित करता हूं'। 'हां, गद्रभ, सुखपूर्वक सूचना दो।' 'भंते, अब आप ही जानिये' ऐसा कह, भगवान का अभिवादन कर हिमालय की ओर चल दिया। भवन का दरवाजा स्वयं भगवान के लिए खुल गया। भगवान घर के भीतर प्रवेश कर मंगल दिवस के लिए चिह्नित स्थान पर बैठ गये और आलवक के ऐश्वर्य को देखते रहे। वहीं दिव्यरत्न पर्यंक पर बैठ कर अपनी देह से स्वर्णाभा छोड़कर फैलाये। उसको देख यक्ष की स्त्रियां आईं, भगवान की वंदना की और उन्हें घेरकर बैठ गईं। भगवान ने उनसे कहा, 'पूर्वजीवन में दान देकर, शील ग्रहण कर, पूजनीयों की पूजा कर तुम्हें यह सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त हुई है। अब भी वैसा ही करो– परस्पर ईर्ष्या और मात्सर्य से अभिभूत हो व्यवहार न करो' और इस तरह उनको विविध धर्मकथाएं कहीं। उन लोगों ने भगवान का मधुर घोष सुन हजार बार साधुकार किया और वहां उन्हें घेरकर बैठी रहीं। गद्रभ ने हिमालय पहुंच आलवक को सूचना दी। 'महोदय, जानते हैं, आपके विमान में भगवान बैठे हैं'। उसने गद्रभ को इशारा किया, 'चुप रहो, जाकर जो करना होगा करूंगा'। पुरुषों को जो घमंड होता है उससे लज्जित भी हुआ, इसलिए कि 'परिषद में कोई और सुन न ले'। इस कारण मना किया।

उस समय सातागिर और हेमवत जेतवन में ही भगवान का अभिवादन कर 'यक्ष परिषद में जायेंगे' सोच परिवार सहित नाना यान से आकाश मार्ग से जा रहे थे। आकाश में यक्षों के लिए सर्वत्र मार्ग नहीं होता। आकाशस्थ देवताओं के मार्ग में विमान रहने से (यक्षों के लिए) मार्ग नहीं होता । आलवक का विमान जो जमीन पर था अच्छी तरह रक्षित, प्राकार से घिरा जिसका द्वार, घर के ऊपर का कमरा, जिसका फाटक अच्छी तरह बंद था जो ऊपर से कंसजाल से आच्छादित था और जो तीन योजन ऊंचा मंजूषा के समान था उसके ऊपर मार्ग था। वे (सातागिर और हेमवत) जब उस जगह आये तो जाने

में असमर्थ हुए। जहां बुद्ध बैठे हों, उनके ऊपर भवाग्र तक कोई जा नहीं सकता। उन लोगों ने ध्यान लगाया कि ऐसा क्यों? तो भगवान को देखा और फेंका हुआ ढेला जैसे नीचे आता है वैसा ही उतर कर भगवान की वंदना की, धर्म-सुना और प्रदक्षिणा कर 'भगवान, यक्ष परिषद में जा रहे हैं' कह तीन वस्तुओं बुद्ध, धर्म और संघ की प्रशंसा कर यक्ष परिषद में गये। आलवक ने उनको देख 'आओ यहां बैठो' कह पीछे हट, जगह दी। उन लोंगों ने आलवक से निवेदन किया, 'आलवक, तुम्हारा बड़ा भाग्य है, तुम्हारे घर में भगवान विहार कर रहे हैं। आवुस, जाओ और भगवान की संगति करो।' इस प्रकार भगवान भवन में ही विहार कर रहे थे न कि वहां जहां बरगद का पेड़ था, उसकी जड़ के पास नहीं अर्थात उसके नीचे नहीं। इस कारण कहा गया, 'एक समय भगवान आलवी में आलवक यक्ष के भवन में विहार कर रहे थे।

अब आलवक ने ...पे०... भगवान को यह कहा– 'श्रमण, बाहर निकलो।'

उसने ऐसा क्यों कहा? कहते हैं– क्रोध दिखाने की इच्छा से। यहां इस प्रकार प्रारंभ से ही इसका संबंध जानना चाहिए। चूंकि श्रद्धा कथा अश्रद्धावानों को नहीं सुहाती, ठीक वैसे ही जैसे शील आदि की बात दुःशीलों को अच्छी नहीं लगती, इसलिए उन यक्षों से भगवान की प्रशंसा सुन आग में फेंके गये नमक और शक्कर की तरह तड़-तड़ करते हुए भीतर ही भीतर क्रोध से पूछा, 'कौन है वह भगवान, जो मेरे घर में घुसा है'? उन लोगों ने कहा, 'आवुस, हमारे शास्ता भगवान को तुम नहीं जानते, जिन्होंने तुषित भवन में स्थित पांच महत्त्वपूर्ण बातों को देखा (जैसे काल, देश, द्वीप, कुल और माता) आदि,... तरीके से और धर्मचक्रप्रवर्तन की बात– कहते हुए प्रतिसंधि की बात कही, बत्तीस पूर्व निमित्तों (संकेतों, चिह्नों) के बारे में कहा और यह कह कि 'आवुस, तुम इन आश्चर्यों को नहीं देख सके' उस पर दोषारोपण किया। देखा तो उसने था, पर क्रोध के कारण उसने कहा 'नहीं देखा है'। 'आवुस आलवक, तुमने देखा या नहीं देखा, तुम्हारे देखने या नहीं देखने से क्या होता है, तुम हमारे शास्ता का क्या कर लोगे? तुम तो उनकी तुलना में वैसे ही लगते हो जैसे पुट्ठेवाले महावृषभ के समीप आज का जनमा बाछा, नागराज के समीप आज का जनमा हाथी का बच्चा, चमकनेवाले लटकते बालों (केशर) से शोभित कंधेवाले सिंह के समीप बूढ़ा शृगाल, गरुड़राज के समीप कौए के उस बच्चे की तरह जिसके पंख टूट गये हैं। जाओ, तुम्हें जो करना है करो।'

ऐसा कहे जाने पर क्रुद्ध आलवक उठा और मनोशिलातल पर बाएं पैर पर खड़ा हो ऐसा बोला, 'देखो, अब, तुम्हारा शास्ता महाप्रतापी है या मैं' और दाहिने पैर से साठ योजन तक कैलाश पर्वतशिखर को रौंद डाला। वैसा करने से जैसे लोहे के घन से मारे जाने से लौह से पपड़ी चटकती है, वैसे ही पत्थर की पपड़ियां चटकीं। वहीं खड़ा हो उसने घोषणा की कि 'मैं आलवक हूं' और पूरे जंबुद्वीप में वह शब्द फैल (व्याप्त हो) गया।

चार शब्द (उद्घोष) पूरे जंबुद्वीप में सुने गये– वह उद्घोष जो पुण्णक यक्षसेनापति ने **धनञ्चयकोरब्य** राजाओं को जूए में हरा ताली बजाते हुए (उंगलियां चटखाते हुए) मैं जीत गया, कहते हुए किया था– वह उद्घोष जो देवेन्द्र ने भगवान कस्सप के धर्म की हानि होते देख देवपुत्र विश्वकर्मा को कुत्ता बना करवाया था कि 'मैं पापी भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों और उपासिकाओं को– उन सबों को जो अधर्मवादी हैं खाऊंगा', वह उद्घोष जो कुसजातक में प्रभावती के लिए सात राजाओं द्वारा नगर

में रोके जाने पर प्रभावती को अपने साथ हाथी पर बैठाकर नगर से बाहर निकल 'मैं सीहस्सरकुस (सिंहेश्वरकुश) महाराजा हूं' महापुरुष ने घोष किया और वह उद्धोष जो आलवक यक्ष ने कैलाश के शिखर पर स्थित 'मैं आलवक हूं' कहकर किया। उस समय पूरे जंबुद्वीप में ऐसा लगा जैसे हर दरवाजे पर खड़ा हो आलवक ऐसा उद्धोष कर रहा है। तीन हजार योजन विस्तृत हिमालय भी यक्ष के प्रताप से कांप उठा।

उसने झंझावात उठाया, 'इससे श्रमण को भगवाऊंगा।' पूरब आदि दिशाओं से हवाओं ने आधा योजन, एक योजन, दो योजन और तीन योजन प्रमाण के पर्वत शिखरों को तोड़कर-फोड़कर वृक्ष आदि को जड़ से उखाड़कर आलवी नगर में तूफान मचाते हुए, कूदते हुए, पुराने हस्तिशाला को चूरते हुए या रौंदते हुए और छत की ईंटों को आकाश में घुमाते हुए बहना आरंभ किया। भगवान ने यह कह अधिष्ठान किया कि 'इनमें से कोई मुझे बाधा न डाले, मेरी बाधा न बने।' वे हवाएं जब दसबल बुद्ध के पास आयीं तो चीवर का कोना भी हिला न सकीं। तब घनघोर वर्षा बरसाना शुरू किया, यह सोचकर कि श्रमण को डुबाकर मारूंगा। उसके प्रताप से सौ परतवाले तथा हजार आदि परतवाले बादल आकाश में घुमड़कर बरसने लगे, वर्षा की धार से लगा जैसे धरती में छेद हो जायगा, वन में वृक्षों के ऊपर घनघोर वृष्टि तो हुई पर दसबल के चीवर पर एक बूंद भी पानी न पड़ा और उनका चीवर नहीं भीगा।

तब उसने पत्थरों की वर्षा करवायी। बड़े-बड़े धुआंते (धुआं छोड़ते हुए) हुए और जलते हुए पर्वत शिखर आकाश से आकर दसबल के पास पहुंच दिव्य मालाओं की गेंद की तरह हो समाप्त हो गये। तब उसने प्रहार करनेवाली वृष्टि करवायी। एकधारी, दो धारीवाली तलवार भाला, तीर आदि धुआंते हुए, जलते हुए आकाश से गिर दसबल के पास जाते ही दिव्य पुष्प हो गये।

तब उसने अंगारों की वर्षा करवायी। पलाश के फूल के रंगवाले अंगार आकाश से आ दिव्य पुष्प हो दसबल के पैरों पर विखर गये। तब उसने गर्म-राख की वर्षा करवायी। अत्यंत गर्म राख आकाश से गिर चंदनचूर्ण हो दसबल के पैरों पर गिर गयी। तब बालू की वर्षा करवायी। अतिसूक्ष्म बालू के कण धुआंते हुए, जलते हुए आकाश से आ दिव्य पुष्प हो दसवल के पैरों पर गिरते। तब उसने कीचड़ की वर्षा करवायी। कीचड़ धुआंते और जलते हुए आकाश से आ दिव्य गंध हो दसबल के पैरों पर गिरते। तब उसने घोर अंधकार उत्पन्न करवाया, 'डराकर श्रमण को भगाऊंगा'।

चतुरङ्गिनी सेना समन्वागत अंधकार दसबल के पास आ वैसे ही तिरोहित हो गया जैसे सूर्य की प्रभा से अंधकार दूर हो जाता है। इस प्रकार यक्ष जब ऊपर नौ प्रकार के वर्णित उपायों से भी भगवान को डराने में सफल नहीं हुआ तो नाना प्रकार से प्रहार करने के लिए अपनी उस चतुरंगिनी सेना के साथ जो अनेक प्रकार के रूपवाले भूत गण से समाकुल थी, स्वयं भगवान के पास गया। उन भूतों ने अनेक प्रकार की विकृतियां बनाईं। 'पकड़ो, मारो' कहते हुए भगवान के ऊपर आने के समान होते, पर वे वैसे ही थे जैसे मक्खियां जो बहुत साफ लोहे के गेंद पर सट ही न सकें उसी तरह वे भगवान के पास जाने में असमर्थ थे। ऐसा होने पर जैसे बोधिमंड (वह स्थान जहां सिद्धार्थ वज्रासन लगा बुद्धत्व प्राप्ति के लिए कृत-संकल्प हो बैठे थे) के पास आया मार आते ही लौट गया था, वैसे यह न लौट आधी रात तक उन्हें व्याकुल करने की कोशिश करती रहीं। इस प्रकार आधी रात तक अनेक भयावह और भयानक दृश्य दिखाने पर भी जब भगवान को हिला नहीं सका तो आलवक ने सोचा, 'क्यों न

मैं अजेय दुस्सावुध को छोड़ूं?'

लोक में चार आयुध सर्वोत्तम हैं– वे हैं इंद्र का वज्र, वेस्सवण की गदा, यम का नयन और आलवक का दुस्सावुध। यदि इंद्र क्रुद्ध हो, वज्र से सुमेरु पर्वत के शिखर पर प्रहार करे तो एक लाख अड़सठ हजार योजन से अधिक ऊंचा सुमेरु पर्वत को छेदकर वह नीचे चला जाय । वेस्सवण जब पृथक्जन थे तो उनके द्वारा फेंकी गयी गदा बहुत हजार यक्षों के सिरों को गिराकर पुनः हाथ में आ जाती थी। क्रुद्ध यम के नयनायुध के गिरने मात्र से अनेक हजार परी लोक के प्राणी वैसे ही कांप-कांप कर नष्ट हो जाते हैं जैसे तपी हुई खोपड़ी में तिल। क्रुद्ध आलवक यदि दुस्सावुध को आकाश में छोड़े तो बारह वर्ष तक वर्षा न हो। यदि पृथ्वी पर छोड़े तो सभी वृक्ष और घास आदि सूख जाय और बारह वर्ष तक फिर हरा न हो। अगर समुद्र में छोड़े तो तपी हुई खोपड़ी में जैसे पानी की बूंद पड़ने से शीघ्र वाष्प बन जाती है, वैसे ही पूरा समुद्र ही सूख जाय। अगर सुमेरु सदृश पर्वत पर छोड़े तो वह टुकड़ा-टुकड़ा हो विखर जाय। उसने ऐसे प्रतापी दुस्सावुध को ऊपर ओढ़नेवाले चादर की तह से निकालकर हाथ में लिया। प्रायः सभी चक्रवालों (एक चक्रवाल में दस हजार लोक होते हैं) देवता शीघ्र एकत्र हो गये– 'आज भगवान आलवक का दमन करेंगे, वहां हमलोग धर्म सुनेंगे।' युद्ध देखने की इच्छावाले देवता एकत्र हुए। इस प्रकार पूरा आकाश देवताओं से खचाखच भर गया।

अब आलवक ने भगवान के निकट ऊपर ही ऊपर विचरण करते हुए दुस्सावुध (वस्त्रायुध) को फेंका। वह गिरते हुए वज्र की तरह आकाश में खूब जोर से गरजते, धुआंते, जलते भगवान के पास आ यक्ष का मान मर्दन करने के लिए पैर पोंछनेवाला कपड़ा हो भगवान के पैरों पर गिरा। यह देखकर आलवक वैसा ही निस्तेज, निरहंकारी हो गया जैसे सींग टूटा बैल, विष के दांत निकाले गये सांप। उसका मान ध्वज गिर गया। ऐसा होकर उसने सोचा, 'यह दुस्सावुध भी श्रमण को पराजित नहीं कर सका, क्या कारण है?' इसका कारण यह है– 'श्रमण मेत्ता युक्त हैं। अच्छा हो मैं उस पर क्रोध कर उसे मेत्ता से अलग करूं।' इस संबंध से ऐसा कहा– **'अथ खो आलवको यक्खो येन भगवा ...पे०... निक्खम्म समणा"**ति। यहां यह अभिप्राय है। 'क्यों बिना मेरी अनुमति के मेरे घर में प्रवेश कर गये हो और गृहस्वामी की तरह स्त्रियों के आगार में बैठे हो, निश्चय ही यह श्रमण के लिए अनुचित है, अयुक्त है कि वह नहीं दिये हुए का भोग करे और स्त्रियों का संसर्ग करे। इसलिए तुम यदि श्रमण धर्म में स्थित हो तो बाहर निकलो।' कुछ लोग कहते हैं कि 'इस तरह के और कठोर वचन बोल उसने ऐसा कहा'।

अब भगवान यह सोच कि 'चूंकि कठोर को कठोरता से शिक्षित नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वह कठोरता करता ही रहेगा, उदाहरण के लिए चंड कुत्ते की नाक से जब पित्त की थैली फटकर पित्त बहने लगता है तो वह और अधिक चंड हो जाता है, इस प्रकार अधिक कठोर को प्यार से ही, कोमलता से ही शिक्षित किया जा सकता है,' यह जान 'अच्छा आवुस, प्रिय वचन से उसकी बात पर राजी हो बाहर निकले।' इस कारण **"साधावुसो"**ति **भगवा निक्खमि** कहा गया है।

तब आलवक ने सोचा 'आज्ञाकारी है यह श्रमण, एक ही बार कहने से यह निकल गया, इस प्रकार आसानी से निकल जानेवाले श्रमण के साथ अकारण ही रात भर युद्ध करता रहा'। यह सोच वह कोमलचित्त हुआ लेकिन फिर सोचा, 'अभी भी यह नहीं जाना जा सकता कि वह आज्ञाकारी होने से निकला अथवा क्रोध से, इसकी परीक्षा लूंगा।' तब उसने 'श्रमण आओ, प्रवेश करो' कहा। फिर

प्रिय वचन बोलते हुए 'साधु, आवुस', कह भगवान ने प्रवेश किया। आलवक ने बार-बार आज्ञाकारिता की परीक्षा करते हुए दूसरी तथा तीसरी बार भी 'निकलो', 'प्रवेश करो' कहा। भगवान ने भी वैसा ही किया। यदि न करते तो स्वाभाविक रूप से कठोर यक्ष का मन और भी कठोर होता और वह धर्मकथा का पात्र न बनता, इसलिए जैसे रोते बेटे के लिए मां वह सब करती है जो वह चाहता है, जो मांगता है उसे देकर या वह जो कहता है उसे करके उसे समझाती है, वैसे ही भगवान क्लेश से रोते यक्ष को समझाने के लिए उसने जो कहा उन्होंने वैसा ही किया जैसे धाय स्तनपान न करनेवाले बच्चे को कुछ देकर फुसला कर दुग्ध पान कराती है, वैसे ही भगवान ने यक्ष को लोकोत्तर धर्म रूपी खीर खिलाने के लिए उसके द्वारा जो कहा गया उसको कर उसे फुसलाने के लिए ऐसा ही किया।

जैसे कोई व्यक्ति लौकी में चार प्रकार की मीठी वस्तुओं को (चतुमधुर) भरने की इच्छा से उसके भीतरी भाग को साफ करता है, उसी प्रकार भगवान यक्ष के चित्त में चार प्रकार की लोकोत्तर मीठी वस्तुओं को भरने की इच्छा से उसके अंदर के क्रोध मल को साफ करने के लिए तीन बार तक निकलते और प्रवेश करते रहे।

अब आलवक ने सोचा 'यह श्रमण आज्ञाकारी है, 'बाहर निकलो' कहने से निकल जाता है और 'प्रवेश करो' कहने से प्रवेश कर जाता है, क्यों न मैं इस श्रमण को इसी प्रकार सारी रात थकाकर पैर पकड़कर गंगापार फेंक दूं?' ऐसे अकुशल चित्त का उत्पादन कर चौथी बार भी 'श्रमण बाहर निकलो' कहा। उसको जानकर भगवान ने "मैंने उसको 'नहीं' कहा।" ऐसे कहे जाने पर उसके बाद क्या करणीय है इसको खोजते हुए वह प्रश्न पूछेगा– 'ऐसा लगता है, उसका रुझान धर्मकथा सुनने को होगा' ऐसा जान "मैंने उसको 'नहीं' कहा...।" यहां **न** का प्रयोग निषेध में है और **खो** का अवधारण अर्थात निश्चय बताने के लिए। **अहं–** अपना उदाहरण देते हैं। **तं** कारण वचन है। इस कारण यहां "चूंकि तुम ऐसा सोचते हो, इसलिए, आवुस, मैं नहीं ही निकलूंगा, तुम्हें जो करना है, करो" ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

तब आलवक चूंकि पहले भी आकाश में जाते समय 'क्या यह सोने का विमान है, अथवा चांदी के विमानों में एक, चलकर देखें।' अपने विमान में आनेवाले ऋद्धिमान तापस परिव्राजकों से वह प्रश्न पूछता था और उत्तर देने में असमर्थ पा उनको पागल बनाकर कष्ट देता था। कैसे? अमनुष्य (अर्थात यक्ष आदि) दो प्रकार से पागल बनाते हैं, भयानक रूप दिखाकर और हृदय वस्तु का मर्दन कर। यह जान कर कि 'ये ऋद्धिमान भयानक रूप देखने से नहीं डरते हैं' वह अपने ऋद्धिप्रभाव से सूक्ष्म रूप धारण करता और उनके भीतर प्रवेश कर हृदय वस्तु का मर्दन, विघटन, विच्छेदन करता। तब उनके चित्त स्थिर नहीं रहते, उसके स्थिर नहीं रहने से वे पागल हो जाते, विक्षिप्त हो जाते। इस प्रकार जो विक्षिप्त होते उनका हृदय भी फाड़ डालता और उनकी टांग पकड़ गंगा के पार यह कहते हुए फेंक देता, 'कि मेरे घर में इस प्रकार वे फिर न आयं'। चूंकि ऐसा वह किया करता था, इसलिए प्रश्नों को याद कर 'अच्छा इस श्रमण को अब कष्ट दूं' सोचकर **'पञ्हं तं समणा'** आदि कहा।

वे प्रश्न उसके पास कहां से आये? उसके माता-पिता ने भगवान कस्सप की सेवा कर आठ प्रश्नों को उत्तर के साथ सीखा था। उन्होंने तरुण आलवक को इन्हें सिखाया था। कुछ समय बीतने पर वह उन प्रश्नों के उत्तर भूल गया। यह सोच कि 'ये प्रश्न भी कहीं भूल न जायं' उन्हें सोने के पट पर सिंदूर से लिखवा कर अपने विमान में एक ओर रख दिया था। इस प्रकार ये बुद्ध प्रश्न बुद्ध

के विषय होते हैं। चूंकि बुद्धों के लिए अलग किये हुए लाभ में अर्थात उनको दिये जानेवाले लाभ में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता, उन्हें कोई मार नहीं सकता और सर्वज्ञता ज्ञान से जो व्याम भर प्रभा निकलती है, उससे कोई टक्कर नहीं ले सकता, इसलिए भगवान ने यह सुन संसार में उसके प्रति असाधारण बुद्धानुभाव दिखाते हुए कहा–

"न ख्वाहं तं, आवुसो, पस्सामि सदेवके लोके"।

यहां' 'देव सहित' वचन से कामावचर के पांच प्रकार के देवताओं का ग्रहण किया गया है आदि विधि से इन पदों का मात्र अर्थ देकर संक्षेप में कहा गया है, अनुसंधि योजना क्रम से अर्थात इनमें संबंध क्या है इसका विस्तार नहीं किया गया है। वे यह कहते हैं– **'सदेवक'** कहकर, जो बहुत ही व्यापक शब्द है और सभी देवताओं को इंगित करता है, यदि सभी देवताओं को यह संदेह हो कि 'मार बड़ा प्रतापी है, छः कामावचर देवताओं का ईश्वर है, मार वशवर्ती है, आनंद देनेवाला नहीं है, धर्मद्वेषी है, क्रूर कर्म करनेवाला है अर्थात अत्याचारी है, क्या वह भी इनका चित्त विक्षिप्त न कर सकता है' उनके संदेह को दूर करने के लिए **समारके** कहा। उसके बाद भी जिसको यह संदेह हो कि 'ब्रह्मा महाप्रतापी है, एक अंगुलि से ही एक हजार चक्रवालों को प्रकाशित करते हैं दो से...तीन...दस से दस हजार चक्रवालों को प्रकाशित करते हैं, लोकोत्तर ध्यान समापत्ति से प्राप्त सुख को अनुभव करते हैं, क्या वह भी इनके चित्त को पागल नहीं बना सकते? उनके संदेह को दूर करने के लिए **'सब्रह्मके'** कहा। अब उनके संदेह को दूर करने के लिए जो यह सोचते थे कि 'बहुत श्रमण ब्राह्मण ऐसे हैं जो शासन के शत्रु हैं, विरोधी हैं मंत्रबल आदि से समन्वागत हैं, क्या वे भी ऐसा नहीं कर सकेंगे' **सस्समण ब्राह्मणिया पजाय** आदि कहा। इस प्रकार सभी विशिष्ट स्थानों में किसी भी ऐसे व्यक्ति का जो उनके चित्त को विक्षिप्त कर सके, अभाव दिखा अब **सदेव मनुस्साय** आदि वचन से सम्मुति देवों, अवशेष मनुष्यों से लेकर पूरे शेष (सत्त्व) लोकों या प्राणि लोकों में किसी भी ऐसे व्यक्ति का अभाव दिखाया– इस प्रकार यहां संगति बैठाकर जानना चाहिए।

इस प्रकार भगवान ने उसके चित्त में प्रश्न पूछने में किसी प्रकार की बाधा हो इसका प्रतिषेध कर उसमें उत्साह पैदा करते हुए कहा, 'फिर भी, आवुस, तुम जो चाहते हो पूछो।' इसका अर्थ है– पूछो, यदि चाहते हो, प्रश्न का उत्तर देने में मुझे भार मालूम नहीं होगा,। अथवा 'जो चाहते हो पूछना, पूछो, सभी प्रश्नों का उत्तर दूंगा' उसे ऐसा कह प्रत्येकबुद्धों, अग्रश्रावकों तथा महाश्रावकों द्वारा असाधारण माना जानेवाला जो सर्वज्ञताज्ञान है उसके लिए उन्होंने निमंत्रित किया। 'आवुस, पूछो– उन प्रश्नों को सुनकर जानूंगा' ऐसा वे लोग कहते हैं। लेकिन सभी बुद्ध ऐसा कहकर (लोगों को) प्रश्न करने के लिए निमंत्रण देते हैं– 'आवुस, जो इच्छा करते हो पूछो' (सं० नि० १.१.२३७, २४६) या 'वासव, जो कुछ मन में है, मुझसे प्रश्न करो' (दी० नि० २.३५६) या 'बावरी को या तुमको या तुम सबों को जो संशय है, अनुमति देता हूं पूछने की, जो कुछ मन में जानने की इच्छा करते हो पूछो' (सु० नि० १०३६) आदि तरीके से देव मनुष्यों को जो संतोष सर्वज्ञ दे सकते हैं, देते हैं। यह आश्चर्य नहीं है कि भगवान बुद्धभूमि प्राप्त कर इस प्रकार संतोष दें, जिन्होंने बोधिसत्त्व रहते हुए सर्वज्ञ न होते हुए भी सर्वज्ञ की तरह संतोष दिया– 'साधुरूप ऋषियों ने कोण्डञ्ञ से याचना की कि वे प्रश्न का उत्तर दें। 'हे कोण्डञ्ञ, यह मनुष्यों का धर्म है कि जो बुद्धि में आती है वह भार हो जाता है'। (जा० २.१७.६०) इसी प्रकार

ऋषियों द्वारा याचना किये जाने पर 'अनुमति देता हूं, जो कुछ प्रश्न मन से पूछना चाहते हैं, भंते, पूछें। मैं आपके उस-उस प्रश्न का उत्तर, इस लोक को, और दूसरे को स्वयं जानकर दूंगा।' इसी तरह सरभङ्ग के समय **सम्भव जातक** में पूरे जंबुद्वीप में तीन बार भ्रमण कर प्रश्नों के उत्तर देनेवाले को न देख उम्र से सात वर्ष का होने पर भी, गली में धूल में खेलते हुए भी (बोधिसत्त्व ने) सुचिरत ब्राह्मण द्वारा पूछे जाने पर क्या कुशल है अर्थात जैसा कुशल है वैसा मैं कहता हूं, राजा उसे जानते हैं, वे करें या न करें' कह (जा० १.१६.१७२)। निश्चय ही सर्वज्ञ द्वारा दिया जानेवाला संतोष दिया था। इस प्रकार भगवान द्वारा सर्वज्ञ संतोष से निमंत्रण दिये जाने पर आलवक यक्ष ने भगवान से गाथा में **किं सूध वित्तं** (वित्त क्या है?) प्रश्न पूछा।

१८३. किं सूध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं, किंसु जीवितमाहु सुचिण्णं सुखमावहाति।
किं सु हवे सादुतरं रसानं, कथं जीविं जीवितमाहु सेट्ठं॥

"इस संसार में पुरुष का श्रेष्ठ धन क्या है? कौन ऐसी चीज है जिसका ठीक से अभ्यास करने पर सुख मिलता है? रसों में सबसे स्वादिष्ट रस क्या है? कैसा जीवन जीया जाय कि लोग कहें कि इसका जीवन श्रेष्ठ है।"

यहां **किं–** क्या– प्रश्न पूछने के अर्थ में, **सू-** पादपूरणार्थक निपात मात्र है। **इध–** इस संसार में। **वित्तं–** पास में रखता है, आनंद मनाता है, आनंदित करता है इसलिए वित्त, यह धन का पर्याय है। **सुचिण्णं–** अच्छी तरह किया हुआ। **सुखं–** शारीरिक एवं मानसिक सुख। **आवहाति–** लाता है, देता है, प्राप्त कराता है। **हवे–** निश्चय अर्थ में निपात है। **सादुतरं–** अतिशय स्वादिष्ट। **'साधुतरं'** भी पाठ है। **रसानं–** रस कहे जानेवाले धर्मों में। **कथं–** किस प्रकार से, कथंजीविनो जीवितं **कथं जीवि जीवितं** अर्थात किस प्रकार के जीवन जीने से, कैसे जीने से? गाथा को सुखपूर्वक (आसानी से) पढ़ने के लिए इसको सानुनासिक कहा जाता है। 'कथं जीविं जीवतं' भी पाठ है। उस जीनेवाले का जीवन कैसा हो– यह अर्थ है। शेष यहां प्रकट ही है। इस प्रकार इस गाथा से इन चारों प्रश्नों को उसने पूछा। इस संसार में पुरुष का श्रेष्ठ धन क्या है? कौन ऐसी चीज है जिसका ठीक से अभ्यास करने पर सुख मिलता है? रसों में सबसे स्वादिष्ट क्या है? कैसा जीवन जीया जाय कि लोग कहें कि इसका जीवन श्रेष्ठ है?

जैसे भगवान कस्सप दशबल ने प्रश्न के उत्तर दिये थे, उसी तरह इसका उत्तर देते

हुए **'सद्धीध वित्तं'** ति कहा।

१८४. सद्धीधं वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं, धम्मो सुचिण्णो सुखमावहाति।
सच्चं हवे सादुतरं रसानं, पञ्ञाजीविं जीवितमाहु सेट्ठं॥

"इस लोक में श्रद्धा ही पुरुष का श्रेष्ठ धन है। अच्छी तरह से अभ्यास किया गया (भावित) धर्म सुख लाता है। सत्य सभी रसों में स्वादिष्टतर है और प्रज्ञाजीवी का जीवन श्रेष्ठ कहलाता है।"

जैसे सोना तथा रुपया-पैसा आदि धन भोग के लिए सामग्री लाता है, क्षुधा प्यास आदि दुःख को शांत करता है, दरिद्रता को दूर करता है, मुक्ता आदि रत्नों को खरीदने के लिए होता है, लोक में

प्रशंसा लाता है, इसी प्रकार लौकिक और लोकोत्तर श्रद्धा यथासंभव लौकिक लोकोत्तर विपाक सुख भी लाती है, श्रद्धाधुर से मार्गारूढ़ के जन्म, जरा आदि दुःख को दूर करती है, गुण में अगर वह दरिद्र है तो उस दरिद्रता को दूर कर गुण बढ़ाती है तथा स्मृति, संबोध्यंग आदि रत्नों के लाभ के लिए होती है।

शील से संपन्न श्रद्धावान को यश तथा भोग तो मिलते ही हैं, वह जहां-जहां जाता है, वहां-वहां पूजा जाता है। (ध० प० ३०३)

इस वचन से लोक में प्रशंसा लाती है ऐसा दिखाकर श्रद्धा को धन कहा। चूंकि यह श्रद्धारूपी धन जो पीछे-पीछे चलता है, असाधारण है, सभी संपत्तियों का हेतु है, लौकिक सोना तथा रुपया आदि धन का कारण है, श्रद्धावान दान आदि पुण्य कर धन प्राप्त करता है, लेकिन जो अश्रद्धावान है उसके लिए धन कम से कम लाभ के लिए नहीं होता है, अनर्थकारी होता है, इसलिए इसे श्रेष्ठ कहा गया। **पुरिसस्स–** यहां व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। न केवल पुरुष, बल्कि स्त्री आदि के लिए भी श्रद्धा श्रेष्ठ धन है।

धम्मो– दस कायिक, वाचसिक तथा मानसिक कुशल आचरण धर्म हैं, दान, शील आदि की भावना करना भी धर्म है। **सुचिण्णो–** अच्छी तरह किया हुआ, अभ्यास में लाया गया, व्यवहार में लाया गया। **सुखमावहाति–** जैसे सोण सेट्ठिपुत्त तथा रट्ठपाल आदि को मनुष्य सुख मिला, देवेंद्र शक्र आदि को दिव्यसुख मिला और अंत में महापदुम आदि को जैसे निर्वाण सुख मिला– वैसा ही सुख लाता है।

सच्चं– इस 'सच्च' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में दिखाई देता है। निम्नोक्त के अनुसार– सच्चं भणे न कुज्झेय्य (सच बोले, क्रोध न करे) (ध० प० २२४) आदि में सत्य वचन के अर्थ में; सच्चे ठिता समणब्राह्मणा चाति (श्रमण ब्राह्मण जो सत्य में स्थित हैं) (जा० २.२१.४३३) आदि में विरति सत्य के अर्थ में अर्थात मृषावाद से विरमण के अर्थ में।

'कस्मा नु सच्चानि वदन्ति नाना, पवादियासे कुसलावदाना' आदि में क्यों लोग नाना प्रकार के सत्यों को बताते हैं, वे लोग अपने को ही कुशल कहकर विवाद करते हैं। – (सु० नि० ८९१)

आदि में दृष्टिसत्य के अर्थ में। चत्तारिमानि, भिक्खवे, ब्राह्मणसच्चानि[1] (अ० नि० १.४.१८५) (भिक्षुओ! ये चार ब्राह्मण के सत्य परमार्थ ब्रह्ममान का सत्य हैं) आदि में ब्राह्मण के सत्य के अर्थ में; एकञ्हि सच्चं न दुतीयमत्थि (सु० नि० ८९०) (सत्य एक ही है, दो नहीं है) आदि में परमार्थ सत्य के अर्थ में, चतुन्नं सच्चानं कति कुसला (विभ० २१६) (चार आर्य सत्यों में कितने कुशल हैं?) आदि में आर्य सत्य के अर्थ में। यहां परमार्थ सत्य निर्वाण, और विरतिसत्य[2] के बीच का सत्यवचन अभिप्रेत है, जिसके प्रताप से (सत्यक्रिया करने) उदक (जल) आदि को वश में करके जन्म-जरा-मृत्यु सागर आदि के पार हो जाता है जैसे कहा–

सत्यवचन से पानी पर दौड़ता है। पंडित लोग सत्यवचन से विष को भी मार देते हैं अर्थात विष का प्रभाव भी नष्ट कर देते हैं। सत्यवचन से गरज के साथ खूब वर्षा होती है और सत्यवचन बोलने में स्थित रहनेवाले शांति की कामना करते हैं।

---

१. ब्राह्मणसच्चानीति परमत्थब्रह्मानं सच्चानि यानि "सब्बे पाणा अवज्झा, सब्बे कामा अनिच्चा, सब्बेभवा अनिच्चा, नाहं क्वचनि कस्सचि किञ्चनतस्मि"न्ति– सगाथावग्ग टीका २८२

२. विरतिसच्चेति मुसावादविरतियं विसुद्धिमग्ग महाटीका २.१८२ विरति सत्य मृषावाद से विरति है।

इस पृथ्वी पर जो कुछ भी रस है उन सभी रसों में सत्य ही अधिक स्वादिष्ट है। सत्य में स्थित श्रमण और ब्राह्मण जन्म और मृत्यु के पार चले जाते है। (जा० २.२१.४३३)

सादुतरं– अधिक मीठा, अधिक बढ़िया। **रसानं–** जो ये 'मूल रस', 'खंध रस' (ध० सं० ६२८-६३०) आदि कहे गये हैं और इस तरह जो चखे जाने योग्य हैं और यह जो 'अनुमति देता हूं, भिक्षुओ, सभी प्रकार के फलों के रस पीने की' (महाव० ३००) 'आप गौतम अरसरूप हैं अर्थात गौतम रूप रस आदि में रुचि नहीं लेते और ये ब्राह्मण रूपरस में, शब्दरस में रुचि लेते हैं' (अ० नि० ३.८.११; पारा० ३), 'रसों में रस लेने में इन्हें आपत्ति नहीं है' (पाचि० ६०७-६०९), 'इस धर्म विनय में सिर्फ एक ही रस है, (अ० नि० ३.८.१९; चूळव० ३८५) विमुक्ति रस'। 'भगवान अर्थ रस तथा धर्म रस के ही भागीदार हैं' (महानि० १४९; चूळनि० अजितमाणवपुच्छानिद्देस २) आदि तरीके से वाचारस को सदोष तथा अवशेष व्यंजन आदि धर्म रस कहा जाता है, उन रसों में सच्चं हवे सादुतरं– सत्य ही अधिक स्वादिष्ट है, अच्छा भी है, अधिक श्रेष्ठ तथा अधिक उत्तम है। मूलरस आदि शरीर को बढ़ाता है, सुख तो लाता है पर क्लेशों के साथ। सत्यरस में विरतिसत्यवचन अर्थात झूठ न बोलना सत्यरस शमथ विपश्यना आदि से मन को विकसित करता है, सुखी बनाता है और क्लेश रहित सुख लाता है। विमुक्ति का रस परमार्थ सत्य रस से परिभावित होने के कारण स्वादिष्ट है, अर्थरस तथा धर्मरस अर्थ तथा धर्म को प्राप्त करने के लिए अर्थ और धर्म पर निश्रित हो प्रवर्तित होते हैं। **पञ्ञाजीविं–** यहां जो अंधे, काने तथा दो आंखवाले लोगों में दो आंखवाला गृहस्थ है या कर्मानुष्ठान (कृषि, गोरक्षा आदि कर्म), शरणगमन, दान देना, शील पालन करना तथा उपोसथ कर्म आदि में गृहस्थ के रास्ते पर चलनेवाले हैं, जो प्रवजित हैं बिना पश्चात्ताप किये शील का पालन करते हैं, उससे भी आगे चित्त विशुद्धि आदि भेद से प्रव्रजित के रास्ते पर प्रज्ञा की आराधना कर प्रसन्न रह जीवन जीते हैं, उसी प्रज्ञाजीवी का जीना जीना है, उसी प्रज्ञाजीवी के जीवन को श्रेष्ठ कहा गया है– यह अर्थ जानना चाहिए।

इस प्रकार भगवान द्वारा दिये गये चारों प्रश्नों के उत्तर को सुन प्रसन्न यक्ष ने अवशेष चारों प्रश्नों को पूछते हुए '**कथं सु तरति ओघं'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही–

१८५. कथं सु तरति ओघं, कथं सु तरति अण्णवं।
कथं सु दुक्खमच्चेति, कथं सु परिसुज्झति॥

"कैसे कोई बाढ़ पार करता है? समुद्र कोई कैसे पार करता है? कोई कैसे दुःख के पार जाता है? और कोई शुद्ध कैसे होता है?"

पहले की तरह ही प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान ने **'सद्धाय तरति'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही। यहां जो कोई चार प्रकार की बाढों को पार करता है वह संसार सागर भी पार कर जाता है, भवचक्र के दुःख को भी पार कर जाता है और क्लेश मलों से भी शुद्ध हो जाता है। ऐसा होते हुए भी चूंकि अश्रद्धावान बाढ़ पार करने की बात पर ध्यान न दे छलांग नहीं लगाता अर्थात प्रयास नहीं करता, पांच इंद्रिय सुखों में मन को उत्सर्ग कर प्रमत्त हो जाता है, उन्हीं में आसक्त, अनुरक्त हो जाता है। हो जाता है, वैसे ही तथा विशेष रूप से आसक्त होने के कारण संसार सागर को नहीं पार करता, अकुशल धर्मों से घिरकर आलसी हो दुःख में रहता है, अप्रज्ञ (मूर्ख) होने के कारण विशुद्धि मार्ग को

न जानते हुए विशुद्ध नहीं होता है, इसलिए उसके प्रतिपक्ष को दिखाते हुए भगवान ने यह गाथा कही।

१८६. सद्धाय तरति ओघं, अप्पमादेन अण्णवं।
विरियेन दुक्खमच्चेति, पञ्ञाय परिसुज्झति॥

"श्रद्धा से सांसारिक बाढ़ पार करता है, प्रमादरहित हो समुद्र (भवसागर) पार करता है। वीर्य से दुःख को समाप्त करता है और प्रज्ञा से परिशुद्ध हो जाता है।"

इस प्रकार कहे गये चित्त में चूंकि श्रोतापत्ति का अंग या प्रत्यक्ष कारण है, इसलिए **'सद्धाय तरति ओघं'** पद से मिथ्यादृष्टिरूपी बाढ़ को पार करने के लिए श्रोतापत्ति मार्ग को तथा जो श्रोतापन्न हैं उनको प्रकाशित करते हैं। चूंकि श्रोतापन्न कुशल धर्मों की भावना से लगातार काम कर प्रमादरहित हो द्वितीय मार्ग की भावना पूरा कर इस लोक में मात्र एक बार आने को छोड़ अवशेष को श्रोतापत्ति मार्ग से अतीर्ण भवरूपी बाढ़ को– संसार सागर को पार करता है, इसलिए **'अप्पमादेन अण्णवं'** आदि पद से भव की बाढ़ को पार करना सकदागामी मार्ग और सकदागामी को प्रकाशित करता है। चूंकि सकदागामी वीर्य से तृतीय मार्ग की आराधना कर सकदागामी मार्ग से न पार की गयी काम रूपी बाढ़ तथा काम नामक बाढ़, काम रूपी दुःख को पार करता है इसलिए **"वीरियेन दुक्खमच्चेती"**ति कह कर कामरूपी बाढ़ को पार करने तथा अनागामी मार्ग और अनागामी को प्रकाशित करते हैं। चूंकि अनागामी काम पंक को समाप्त कर, परिशुद्ध प्रज्ञा से विल्कुल परिशुद्ध हो चतुर्थ मार्ग प्रज्ञा को प्राप्तकर अनागामी मार्ग से अप्रहीण, अविद्या नामक परममल को त्यागता है, इसलिए **"पञ्ञाय परिसुज्झति"**ति कहकर अविद्यारूपी बाढ़ को पार कर, अर्हत मार्ग और अर्हत को प्रकाशित करते हैं। अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए इस गाथा को कहने के अंत में यक्ष श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हो गया।

अब यहां जो **'पञ्ञाय परिसुज्झति'** कहा गया उस प्रज्ञा पद को लेकर (यक्ष ने) अपनी प्रत्युत्पन्न मति से ऐसा प्रश्न जो इस लोक से संबंधित हो तथा लोकोत्तर से भी, पूछते हुए **कथं सु लभते पञ्ञं** से आरंभ होनेवाली छः पादवाली गाथा कही–

१८७. कथं सु लभते पञ्ञं, कथं सु विन्दते धनं।
कथं सु कित्तिं पप्पोति, कथं मित्तानि गन्थति।
अस्मा लोका परं लोकं, कथं पेच्च न सोचति॥

"प्रज्ञा की प्राप्ति कैसे होती है? धन की प्राप्ति कैसे होती है? यश की प्राप्ति कैसे होती है? कैसे मित्रों को मिलाकर रखता है? कैसे इस लोक से परलोक में जाकर मरकर शोक नहीं करता?"

यहां **कथं सु** सर्वत्र ही 'अर्थ न्यायसंगत है या नहीं' इसको पूछने के लिए प्रयुक्त होता है। यह यक्ष प्रज्ञा आदि अर्थ को जानने के बाद उसकी न्यायसंगतता के बारे में पूछता है। **कथं–** किस न्याय से, किस कारण से प्रज्ञा प्राप्त करता है। इसी तरीके से धन आदि के बारे में भी प्रश्न करता है।

अब भगवान ने उसको चार कारणों से प्रज्ञालाभ दिखाते हुए **'सद्दहानो'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही–

१८८. सद्दहानो अरहतं, धम्मं निब्बानपत्तिया।
सुस्सूसं लभते पञ्ञं, अप्पमत्तो विचक्खणो॥

"निर्वाण की प्राप्ति के लिए अर्हतों के धर्म में श्रद्धावान, अप्रमादी और चतुर व्यक्ति श्रद्धापूर्वक धर्म सुनने से प्रज्ञा प्राप्त करता है।"

इसका अर्थ– जिस तरह प्रारंभ में कायसुचरित आदि भेद से और बाद में सैंतीस बोधिपक्षीय भेद से धर्मों को पालन कर अर्हतों, बुद्धों, प्रत्येकबुद्धों और श्रावकों ने निर्वाण प्राप्त किया– उस धर्म में **सद्दहानो अरहतं धम्मं निब्बानपत्तिया–** निर्वाण प्राप्ति के लिए श्रद्धा रखते हुए लोकीय और लोकोत्तर दोनों प्रकार की प्रज्ञा प्राप्त करता है, **पञ्ञं लभति**। वह सिर्फ श्रद्धा से नहीं चूंकि वह श्रद्धावान होने पर उनके पास जाता है, जाकर उनकी सेवा करता है, संगति करता है, संगति कर कान देता है, कान दे (ध्यान से) धर्म सुनता है, इसलिए जाने के समय ही से धर्मश्रवण तक सुनने की इच्छा प्राप्त करता है– **सुस्सुसं लभति**। क्या कहा गया है? उस धर्म में श्रद्धावान हो आचार्य तथा उपाध्याय के पास समय पर जाकर उपाध्याय आदि के लिए जो करणीय व्रत है उन व्रतों से उनकी सेवा कर सेवा से प्रसन्न किया गया उनका चित्त कुछ कहना चाहता है। अब सुनने की इच्छा होने पर कान दे सुनकर प्राप्त करता है। इस प्रकार सुनने पर भी स्मृति के अनुपस्थित न रहने से स्मृतिमान होता है, अप्रमादी होता है और सुभाषित एवं दुर्भाषित को जानने से– विचक्षण ही इसे प्राप्त करता है, दूसरे नहीं। इसलिए कहा– **अप्पमत्तो विचक्खणो**।

इस प्रकार चूंकि श्रद्धा से प्रज्ञा प्राप्ति की ओर ले जानेवाले पथ पर आरूढ़ होता है, सुनने की इच्छा से लगातार प्रज्ञाधिगम के उपाय को सुनता है, ग्रहण की हुई बात को अप्रमाद के कारण नहीं भूलता है, विचक्षणता से न्यून (कम) या अधिक जितनी भी मात्रा में हो अविपरीत (सत्य) का ग्रहण कर उसको बढ़ाता है, उसको विस्तारित करता है, सुनने की इच्छा से वह कान देकर प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए धर्म सुनता है, बिना प्रमाद किये धर्म सुनकर धारण करता है, विचक्षणता से धारण किये धर्म का मतलब समझता है अर्थात धर्म के अर्थ की परीक्षा करता है और क्रमशः परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करता है, इसलिए भगवान ने 'कथंसु लभते पञ्ञं' पूछे जाने पर उसको चार कारण दिखाते हुए यह गाथा कही–

१८९. पतिरूपकारी धुरवा, उट्ठाता विन्दते धनं।
सच्चेन कित्तिं पप्पोति, ददं मित्तानि गन्थति॥

"अपने लायक काम करके, जुए में जुते बैल के समान परिश्रम करके मनुष्य धन कमाता है। सत्यभाषण से उसे कीर्त्ति मिलती है और देकर अर्थात उदारता से वह मित्र बनाता है।"

अब उसके बाद तीन प्रश्नों को विसर्जित करते हुए **'पतिरूप'** से प्रारंभ होनेवाली यह गाथा कही। यहां देश काल आदि की उपेक्षा न कर लौकिक और लोकोत्तर बातों की भी उपेक्षा न कर धन प्राप्ति के लिए उचित उपाय करनेवाले को **पतिरूपकारी**। **धुरवा–** जो वीर्य चैतसिक के कारण जुआ कंधे से नहीं उतारता है **उट्ठाता** का अर्थ 'जो सर्दी और गर्मी को तृण से अधिक नहीं समझता' (थेरगा० २३२; दी० नि० ३.२५३) आदि तरीके से शारीरिक परिश्रम के कारण बराबर उठ खड़ा रहनेवाला तथा अशिथिल

पराक्रमवाला है अर्थात जिसका पराक्रम कभी कम नहीं होता।

विन्दते धनं– चूळंतवासी एक व्यक्ति की तरह जिसने एक चूहे से बहुत जल्दी दो सौ हजार शंख लोकीय धन कमाया तथा बूढ़े महातिस्स थेर की तरह जिन्होंने लोकोत्तर धन प्राप्त किया। उन्होंने यह व्रत लिया था कि 'तीन ईर्यापथों में ही विहार करूंगा'। जब शारीरिक मानसिक थकान आती, आलस आता तो वे पुआल के गेंडुली को पानी में भिंगोकर सिर पर रखते, गले भर पानी में उतरकर शारीरिक तथा मानसिक थकान या आलस्य को दूर करते। इस तरह बारह वर्षों में उन्होंने अर्हत्व की प्राप्ति की। **सच्चेन** का अर्थ सत्य वचन से, सत्य बोलकर 'सत्यवादी यथार्थवादी', परमार्थ सत्य से 'बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं आर्यश्रावक इस प्रकार यश प्राप्त करते हैं'। **ददं** का अर्थ जो कुछ इच्छित या प्रार्थित वस्तु होती उन्हें देकर मित्र बनाते और उन्हें साथ में रखते। इच्छित प्रार्थित को देकर पूरा करने का प्रयास करते, जो दिये जाने योग्य नहीं है उसे भी देकर मित्र बनाते। 'दान' कहने से चार संग्रहणीय वस्तुएं ही गृहीत हैं– यह जानना चाहिए। उनके द्वारा ही मित्र बनाते हैं– यह कहा गया है।

१९०. यस्सेते चतुरो धम्मा, सद्धस्स घरमेसिनो।
सच्चं धम्मो धिति चागो, स वे पेच्च न सोचति॥

"जिस किसी श्रद्धावान गृहपति के पास ये चार धर्म हैं– सत्य, धर्म, धैर्य और त्याग, वह मरने पर निश्चित है शोक नहीं करता।"

इस प्रकार गृहस्थों तथा प्रव्रजितों के साधारण ढंग से लौकिक और लोकोत्तर दोनों तरह के प्रश्नों को मिलाकर चारों प्रश्नों का उत्तर देते हुए अब 'कौन मरने के बाद शोक नहीं करता' इस पांचवें प्रश्न को गृहस्थ की दृष्टि से उत्तर देते हुए **'यस्सेते'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही। इसका अर्थ यह है– सभी कल्याण धर्मों को उत्पन्न करनेवाली जिस श्रद्धा से जैसा यहां **'सद्दहानो अरहतं'** से बताया गया है समन्वागत होने के कारण श्रद्धावान गृहस्थ कामभोगी घर या पांच इंद्रिय सुखों को खोजते हुए 'सत्य से कीर्ति प्राप्त करता है' कहकर बताया गया सत्य है, 'सुनने की इच्छा से प्रज्ञा प्राप्त करता है' कहकर यहां सुनने से हुई प्रज्ञा नामक धर्म को कहा गया है, 'धुरवा उट्ठाता' कह जुए में जुते रहने से धैर्य कहा गया है, **'ददं मित्तानि गन्थति'** कह यहां कहे गये त्याग के चार धर्म कहे गये हैं– इस तरह ये चारों धर्म जिसमें हैं, **स वे पेच्च न सोचति–** वह निश्चय ही मरने के बाद शोक नहीं करता– इस लोक से परलोक जाने पर निश्चित रूप से शोक नहीं करता।

१९१. इङ्घ अञ्ञेपि पुच्छस्सु, पुथू समणब्राह्मणे।
यदि सच्चा दमा चागा, खन्त्या भिय्योध विज्जति॥

"जाओ, दूसरों से पूछो, नाना श्रमण ब्राह्मणों से पूछकर देखो कि क्या कोई ऐसी चीज है जो सत्य, आत्मनियंत्रण, त्याग और क्षांति से बड़ी है।"

इस प्रकार भगवान ने पांचवां प्रश्न का उत्तर दे उस यक्ष को, प्रेरित करते हुए **इङ्घ अञ्ञेपि** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही। यहां **इङ्घ–** प्रेरित करने में निपात है। **अञ्ञे–** दूसरे धर्म के नाना श्रमण ब्राह्मणों को पूछो। अन्यों को जैसे पूरण कस्सप आदि झूठ-मूठ के सर्वज्ञों को पूछो। यदि हमारे द्वारा इस

प्रकार कहा जाकर कि 'सत्य' से कीर्ति प्राप्त करता है, सत्य कीर्त्ति प्राप्त करने का बड़ा कारण बताया गया अथवा 'सुनने से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है' सुनने को प्रज्ञा कहा– आत्मनियंत्रण को लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों प्रकार की प्रज्ञा प्राप्ति का बड़ा कारण बताया गया; 'देने से मित्र बनाता है' कहा जाकर त्याग को मित्र बनाने का बड़ा कारण बताया गया, 'जुए में जुता रहता' इस काम के लिए तथा उस काम के लिए 'जुए में जुते रहने से, बराबर उसमें रहने से महाभार सहन करने के लिए उत्साह तथा वीर्य के लिए जो धैर्य है उसको लौकिक लोकोत्तर धन की प्राप्ति का बड़ा कारण बताया'; 'सत्य, धर्म, धैर्य और त्याग' ऐसे चार प्रकार के कहे गये धर्मों को इस लोक से मृत्यु के बाद उस लोक में जाने पर शोक नहीं करने का बड़ा कारण बताया– वही यहां है। यही यहां संक्षेप में अर्थ की व्याख्या है, विस्तार से एक-एक पद का अर्थ और गाथा के संक्षेप की व्याख्या विभाग कर जानना चाहिए।

इस प्रकार कहे जाने पर यक्ष जिस संदेह को दूर करने के लिए दूसरे को पूछता, वह दूर हो गया– इस कारण

१९२. कथं नु दानि पुच्छेय्यं, पुथू समणब्राह्मणे।
सो'हं अज्ज पजानामि, यो अत्थो सम्परायिको॥

"अब मैं अन्य श्रमण ब्राह्मणों को कैसे पूछूं? आज मैं स्वयं पारलौकिक अर्थ की बात जानता हूं।"

कहा। (साथ ही) जो नहीं पूछने के कारण को नहीं जानते हैं उसको कारण बताते हुए **'योहं अज्ज पजानामि, यो अत्थो सम्परायिको'** कहा।

"मैं अब नाना श्रमण ब्राह्मणों को क्यों पूछूं? मैं अब पारलौकिक बात को अच्छी तरह जानता हूं जो भविष्य अवस्था का कारण है।"

यहां **अज्ज–** आज से प्रारंभ कर यह अभिप्राय है। **पजानामि–** जैसा कहा गया उस तरह से जानता हूं। **यो अत्थो** यहां तक 'सुस्सूसं लभते पञ्ञं' आदि की तरह कहे गये इस लोक से संबंधित को दिखाता है, **सम्परायिको** इस प्रकार जो ये चार धर्म कह गये, वे मृत्यु के बाद दूसरे लोक में शोकाभाव करनेवाले हैं अर्थात संपरायिक हैं। **अत्थो**– कारण का यह पर्याय है। 'अत्थ' शब्द का अर्थ 'सात्थं सव्यञ्जनं' आदि में पाठ अर्थ में है; (पारा० १; दी० नि० १.२५५) 'अत्थो मे, गहपति, हिरञ्ञसुवण्णेन' (दी० नि० २.२५०; म० नि० ३.२५८) आदि में कृत्य अर्थ में है, "होति सीलवतं अत्थो"ति (जा० १.१.११) आदि में वृद्धि अर्थ में है, बहुजनो भजते अत्थहेतु आदि (जा० १.१५.८९) में धन के अर्थ में। 'उभिन्नमत्थं चरति' आदि में (जा० १.७.६६; सं० नि० १.१.२५०; थेरगा० ४४३)) हित के अर्थ में, 'अत्थे जाते च पंडितं' आदि (जा० १.१.९२) में कारण के अर्थ में है, हेतु है। यहां कारण अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिए प्रज्ञा आदि लाभ का जो कारण इस लोक संबंधी है, मृत्यु के बाद शोकाभाव का जो कारण परलोक संबंधी है, उसको आज मैं स्वयं भगवान के कहे अनुसार अच्छी तरह जानता हूं, उसको अब मैं दूसरे नाना प्रकार के श्रमण ब्राह्मणों से क्यों पूछूं? इसका संक्षेप में अर्थ जानना चाहिए।

इस प्रकार यक्ष ने **'पजानामि यो अत्थो सम्परायिको'** कहकर अपने ज्ञान का मूल भगवान को दर्शाते हुए **'अत्थाय वत मे बुद्धो'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

१९३. अत्थाय वत मे बुद्धो, वासायाळविमागमा।
सो'हं अज्ज पजानामि, यत्थ दिन्नं महप्फलं॥

"निस्संदेह मेरे ही लिए भगवान आलवी में ठहरने आये हैं, मैं आज जानता हूं कि कहां या किसको दान देने से महान फल मिलता है।"

यहां **अत्थाय–** हित के लिए, वृद्धि के लिए। **यत्थ दिन्नं महप्फलं–** 'जिनको ये चारों धर्म हैं' (जा० १.१.९७) यहां कहे गये त्याग से जहां दिया जाय महान फल देता है, उन दक्षिणा पाने योग्यों में अग्रबुद्ध को मैं अच्छी तरह जानता हूं। कुछ लोग कहते हैं कि 'संघ के बारे में ऐसा कहा'।

इस प्रकार इस गाथा से अपने हित एवं कल्याण की प्राप्ति को दिखाकर अब दूसरे के हित के लिए अपने आचरण को स्पष्ट करते हुए कहा– **'सो अहं विचरिस्सामि'** कहा– इसका अर्थ हेमवत सुत्त में जैसा कहा गया है वैसा जानना चाहिए।

१९४. सो अहं विचरिस्सामि, गामा गामं पुरा पुरं।
नमस्समानो सम्बुद्धं, धम्मस्स च सुधम्मतं॥

"मैं एक गांव से दूसरे गांव और एक नगर से दूसरे नगर में सम्यक संबुद्ध को तथा धर्म की सुधर्मता को नमस्कार करते हुए विचरण करूंगा।"

इस प्रकार इस गाथा का अंत, रात का बीतना, (सबेरा होना) साधुकार शब्द का होना और आलवक कुमार का यक्ष के भवन में लाया जाना साथ-साथ हुआ। अर्थात ये सारी घटनाएं एक ही साथ घटीं। राजपुरुषों ने साधुकार शब्द सुनकर ऐसा 'साधुकार' बुद्ध को छोड़कर अन्य के आने पर नहीं होता, 'क्या भगवान आ गये हैं' और ध्यान लगाकर बुद्ध के शरीर की आभा देख, पहले की तरह बाहर ही खड़ा हो, निःशंक हो अंदर प्रवेश किया और भगवान को यक्ष के भवन में बैठे देखा और यह भी देखा कि यक्ष भगवान के सामने हाथ जोड़े खड़ा है। यक्ष को देख बोला, 'महायक्ष, इस राजकुमार को बलिकर्म के लिए लाये हैं, अब जैसी आवश्यकता समझें करें, खा जायं या भोग करें या जो चाहें करें।'

वह श्रोतापन्न हो गया था, अपनी श्रोतापन्नता के कारण लज्जित हुआ विशेषतः जब भगवान के सामने ही ऐसा कहा जा रहा था। अब उस कुमार को दोनों हाथों से लेकर भगवान के पास लाया और कहा, "भंते, यह बालक मेरे लिए भेजा गया है। मैं इसको आपको देता हूं, आप अनुकंपा करनेवाले हैं, कल्याण करनेवाले हैं, आप स्वीकार करें, भंते, इस बालक को, इसके कल्याण के लिए, इसके सुख के लिए।' और निम्नलिखित गाथा कही–

"इमं कुमारं सतपुञ्ञलक्खणं, सब्बङ्गुपेतं परिपुण्णब्यञ्जनं।
उदग्गचित्तो सुमनो ददामि ते, पटिग्गह लोकहिताय चक्खुमा"ति॥

"इस कुमार को जिसके सभी अंग सौ पुण्य लक्षणों से उपेत हैं, सभी व्यञ्जनों से परिपूर्ण हैं मैं प्रसन्न चित्त से, खुशी से आपको देता हूं। हे चक्षुमान, आप लोकहित में इसको ग्रहण करें।"

भगवान ने कुमार को ग्रहण किया और ग्रहण कर यक्ष और कुमार दोनों का मंगल करने के लिए

गाथा के तीन पाद कहे। यक्ष ने कुमार को शरण गमन कराते हुए तीन बार कह चौथे पाद को पूरा किया। "यह कुमार दीर्घायु हो, हे यक्ष तुम भी सुखी हो, लोक के कल्याण के लिए अरोगी होकर रहो" "यह कुमार बुद्ध की, धर्म की, संघ की शरण जाता है।" भगवान ने कुमार को राज पुरुषों को देकर कहा, 'इसे पालपोष कर बड़ा कर फिर मुझको देना।' इस प्रकार वह कुमार राजपुरुषों के हाथ से यक्ष के हाथ में, यक्ष के हाथ से भगवान बुद्ध के हाथ में, भगवान के हाथ से फिर राजपुरुषों के हाथ में जाने के कारण नाम से हत्थक आलवक कहलाया। उसको लेकर लौटे राजपुरुषों को देखकर कृषक, वनकर्मी आदि ने डरकर यह पूछा कि 'क्या अत्यंत छोटे होने के कारण यक्ष कुमार को नहीं चाहता है?' राजपुरुषों ने कहा– 'डरो नहीं, भगवान ने कुशल किया' और आदि से अंत तक सारी बातें कहीं। उसके बाद यक्ष की ओर मुंह करके आलवीनगर में 'साधु, साधु' का एक कोलाहल हुआ। यक्ष ने भी भगवान के भिक्षाचार का समय आने पर उनका पात्र चीवर लिया और आधा रास्ता आकर लौट गया।

अब भगवान ने नगर में भिक्षाटन करने के बाद भोजन किया और नगर द्वार पर किसी एकांत वृक्ष के मूल में प्रज्ञप्त श्रेष्ठ बुद्धासन पर बैठे। तब बहुत बड़ी भीड़ के साथ राजा और नगरवासी एक साथ एकत्र हो भगवान के पास आये और उनकी वंदना की। फिर उनको घेर कर बैठ गये। और पूछा 'भंते, किस प्रकार आपने इस प्रकार के दारुण यक्ष का दमन किया?' भगवान ने उनको उसके साथ हुए युद्ध से प्रारंभ कर 'इस प्रकार नौ प्रकार की वर्षा वरसायी, ऐसा डरावना रूप दिखाया, इस प्रकार का प्रश्न पूछा और उसका उत्तर मैंने ऐसे दिया' कहते हुए **आलवक सुत्त** कहा। कथा के अंत में चौरासी हजार प्राणियों को धर्म की प्राप्ति हुई, धर्म का ज्ञान हुआ। उसके बाद राजा तथा नगर निवासियों ने वेस्सवण महाराज के भवन के निकट यक्ष के लिए भवन बनाया और वे नित्य प्रति फूल, अगरबत्ती (गंध) आदि से सत्कार कर बलि (चढ़वा) देने लगे। जब कुमार ने होश संभाला अर्थात कुमार जब वयस्क हुए तो राजा ने यह कह कि 'तुम्हें भगवान के कारण ही जीवन मिला है, तुम भगवान के ही पास जाकर उनकी तथा संघ की सेवा करो' उसे विदा किया। भगवान तथा भिक्षुसंघ की सेवा करते हुए कुमार शीघ्र ही अनागामी फल में प्रतिष्ठित हुए। सारे बुद्ध वचन को सीखा और उनके पांच सौ उपासक परिवार हुए। भगवान ने उनको 'एतदग्ग' में स्थान दिया। 'भिक्षुओ, मेरे उपासक श्रावकों में चार संग्रह वस्तुओं से (दान, मधुरवचन, उपयोगी जीवन, न्यायपूर्वक व्यवहार (परिषद का) संग्रह करनेवालों में हत्थक आलवक अग्र है (अ० नि० १.१.२५१)।'

आलवकसुत्तवर्णना समाप्त।

११. विजयसुत्तवर्णना

चरं वा यदि वा तिट्ठं से प्रारंभ होनेवाला सुत्त विजयसुत्त है। इस सुत्त को **कायविच्छन्दनिक** (काया के प्रति तृष्णा त्याग) **सुत्त** भी कहते हैं। इसकी क्या उत्पत्ति है? यह सुत्त दो स्थानों पर कहा गया है। इसलिए इसकी उत्पत्ति भी दो प्रकार से है। भगवान क्रमशः कपिलवस्तु पहुंचे। वहां शाक्यों को शिक्षित कर, विनीत बनाकर नंद आदि को प्रव्रजित किया। स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुमति दिये जाने पर आनंद थेर की बहन नंदा, खेमक शाक्य राजा की बेटी अभिरूपनंदा तथा जनपद कल्याणी नंदा ये तीनों नंदाएं प्रव्रजित हुईं। उस समय भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। अभिरूपनंदा अभिरूप (बहुत सुंदर) थी, दर्शनीय और प्रियकर थी। इसी कारण उसका नाम अभिरूपनंदा रखा गया। जनपद कल्याणी नंदा भी अपने रूप के सदृश किसी को नहीं देखती थी, वे दोनों रूप के मद में मत्त होकर 'भगवान रूप की निंदा करते हैं, रूप में दोष देखते हैं, अनेक तरह से रूप में खतरा दिखाते हैं' ऐसा सोच वे भगवान की सेवा में नहीं जाती थीं, उनको देखने की इच्छा भी नहीं करती थीं। इस प्रकार भगवान से अप्रसन्न रहनेवाली कैसे प्रव्रजित हुईं? कुपथ में जाने के कारण स्वाभाविक रूप से अभिरूपनंदा के पति शाक्य कुमार विवाह के दिन ही चल बसे। उसके माता-पिता ने उसको उसके न चाहते हुए भी प्रव्रजित करा दिया। जनपद कल्याणी नंदा भी आयुष्मान नंद के अर्हत्व प्राप्त करने पर निराश हो गयी और यह सोचकर कि 'मेरे पति, माता, महाप्रजापति और अन्य संबंधी प्रव्रजित हो गये, बिना रिश्तेदारों के घर में रहना दुःखकर है' घर में रहने में कोई आनंद न पाकर प्रव्रजित हुई, श्रद्धा के कारण प्रव्रजित नहीं हुई।

भगवान ने यह जान कि इनका ज्ञान-परिपाक हो गया है महाप्रजापति को आज्ञा दी, 'सभी भिक्षुणियां क्रम से उपदेश के लिए आयें'। जब उन लोगों की बारी आती तो वे दूसरे को भेज देतीं। तब भगवान ने कहा कि 'बारी आने पर अपने ही आना चाहिए, दूसरों को भेजना नहीं चाहिए' एक दिन अभिरूपनंदा आयी। उसमें भगवान ने निर्मित रूप से संवेग पैदा किया और थेरीगाथा में आयी धम्मपद की इस गाथा' **'अट्ठीनं नगरं कतं'** से प्रारंभ होनेवाली गाथाओं से क्रमशः अभिरूपनंदा को अर्हत्व में प्रतिष्ठापित किया।

आतुरं असुचिं पूतिं, पस्स नंदे समुस्सयं।
उग्घरन्तं पग्घरन्तं, बालानं अभिपत्थितं॥ (थेरीगा० १९) ।

अनिमित्तञ्च भावेहि, मानानुसयमुज्जह।
ततो मानाभिसमयस्स, उपसन्ता चरिस्ससि॥ (सु० नि० ३४४; थेरीगा० २०) –

इन गाथाओं का अर्थ निम्नलिखित है– 'नंदे, इस शरीर को देखो– यह आतुर (रोगी) अशुद्ध और गंदा है, सड़ा है। इससे हर समय बूंद-बूंद कर गंदगी टपकती रहती है। ऐसा शरीर मूर्खों द्वारा ही

प्रार्थित है। अनिमित्त की भावना करो। मान अनुशय को उखाड़ फेंको। तब मान को पूरी तरह जानकर उपशांत हो विचरण करो।' ऐसा कहकर क्रमशः उसे अर्हत पद में प्रतिष्ठापित किया।

एक दिन श्रावस्तीवासी भोजन के पहले दान देकर उपोसथ व्रत स्वीकार कर अच्छे कपड़े पहन-ओढ़ गंध-पुष्प आदि ले धर्मश्रवण के लिए जेतवन गये और धर्मश्रवण के अंत में भगवान की वंदनाकर नगर लौट रहे थे। भिक्षुणी संघ भी धर्मकथा सुनकर भिक्षुणी निवास स्थान जा रहा था। वहां लोग और भिक्षुणियां दोनों ही भगवान की प्रशंसा कर रहे थे। लोक में एक साथ रहनेवाले जो चार प्रमाणवाले थे जैसे जो बहुत ही सुंदर थे, जिनकी सावाज मधुर थी, जो रूखा-सूखा जीवन जीनेवाले थे और जो शील समाधि तथा प्रज्ञा से संपन्न थे उनमें कोई ऐसा नहीं था जो भगवान को देख प्रसन्न न हो। जो बहुत ही सुंदर थे वे भी जब भगवान के शरीर को लक्षण से भरे, तरह-तरह के अनुव्यंजनों से युक्त, समुज्ज्वलित पताकों की माला की तरह उसमें से निकलनेवाली व्यामभर प्रभा से युक्त अलंकृत के समान लोक में समुत्पन्न रूप को देखते तो प्रसन्न होते, उसी तरह मधुर आवाजवाले उनके अनेक सौ जन्मों में अष्टांग समन्वागत करवीक की तरह मधुर घोष को सुनकर, जो मोटा-सोटा पहनने में अपने को प्रमाण मानते थे वे जब भगवान बुद्ध के मोटे-सोटे चीवर तथा रूखा-सूखा भोजन देखते तो वे भी अत्यंत प्रसन्न होते। उसी तरह जो अपने को शील स्कंध आदि में प्रमाण समझते वे भी उनका जो कुछ धर्मस्कंध था, उसकी परीक्षा कर प्रसन्न होते थे। इसलिए सभी जगह भगवान की सुंदरता की प्रशंसा होती थी। जनपद कल्याणी नंदा भिक्षुणी निवास गयी। वहां अनेक तरह से भिक्षुणियों द्वारा की जानेवाली भगवान की प्रशंसा सुन उनके पास जाने की उसकी इच्छा हुई और उसने भिक्षुणियों से कहा। भिक्षुणियां उसे ले भगवान के पास आईं। पहले से ही उसके आगमन को जानकर भगवान ने कांटे से ही कांटा निकालने, मेख से ही मेख निकालनेवाले पुरुष के समान रूप मद को चूर करने के लिए अपने ऋद्धिबल से पंद्रह सोलह वर्ष की एक अतिसुंदर कन्या का निर्माण कर अपनी बगल में पंखा झलते हुए खड़ा किया। नंदा भिक्षुणीसंघ के बीच बैठी, पैर के तलवे से लेकर केश के अग्रभाग तक भगवान की रूप संपत्ति देख, फिर भगवान की बगल में बैठी उस निर्मित रूप को देख, उसका जो घमंड था अपने रूप पर, उसे छोड़ वह उस स्त्री के रूप में अभिरक्त हुई। तब भगवान ने उस स्त्री को ऐसा दिखाया जैसे वह बीस वर्ष की हो। स्त्री सोलह वर्ष तक ही सुंदर लगती है उसके ऊपर होने पर नहीं। अब उस स्त्री की रूप परिहानि देखकर उस स्त्री के रूप में नंदा की जो आसक्ति थी, वह कम हुई। तब भगवान ने उस स्त्री की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को दिखाया, उस स्त्री के समान जिसने बच्चा नहीं जना है, उसके समान जिसने एक बार जना है, जो अर्द्ध वयस्क हो गयी है जो बूढ़ी हो गयी है– इस प्रकार तब तक दिखाते रहे जब तक वह सौ वर्ष की नहीं हो गयी, लाठी लेकर चलनेवाली, समूचे शरीर में दागवाली। नंदा के देखते-देखते उसको मरी हुई तथा मरने के बाद शरीर की जो सूज जाने आदि पर जो विकृतियां होती हैं उनको भी दिखाया तथा यह भी दिखाया कि कौए आदि कैसे उस मृत शरीर को चारों तरफ से घेरे रहते हैं, खाते रहते हैं और कैसे उससे दुर्गंध निकलती है, कैसे वह जुगुप्सा भाव पैदा करता है। नंदा उस क्रम को देख 'यही क्रम मेरा भी, दूसरों का तथा सबों का होगा' सोच अनित्य संज्ञा में स्थित हुई, उसके अनुसार दुःख और अनात्म में भी स्थित हुई, उनको तीनों भव जलते हुए दीखे और घर शरण देनेवाला नहीं मालूम पड़ा। 'नंदा का चित्त कर्मस्थान शीघ्र चाहता है' ऐसा जान भगवान ने उसके योग्य ये गाथाएं कहीं।

आतुरं असुचिं पूतिं, पस्स नन्दे समुस्सयं।
उग्घरन्तं पग्घरन्तं, बालानं अभिपत्थितं॥ (थेरीगा० १९)।

यथा इदं तथा एतं, यथा एतं तथा इदं।
धातुसो सुञ्ञतो पस्स, मा लोकं पुनरागमि।
भवे छन्दं विराजेत्वा, उपसन्ता चरिस्ससीति॥ (सु० नि० २०५)।

भगवान ने शरीर की ओर दिखाकर कहा, "नंदे, देखो इस रोगी अपवित्र सड़े हुए, समुस्सय रूप को, इससे कैसे गंदगी चू रही है, पघर रही है। यह मूर्खों द्वारा प्रार्थित है, अभिलषित है।"

"जैसे बाहर वैसे ही भीतर, जैसे भीतर वैसे बाहर। धातुतः यह शून्य है। देखो इसको और इस लोक में फिर न आओ। संसार में आसक्ति से विरक्त हो, उपशांत हो विहार करो, जीवन जीओ।"

गाथा के अंत में नंदा श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुई। अब भगवान ने ऊपर के मार्ग को वह पा ले इसलिए शून्यता बताने या दिखानेवाले विपश्यना कर्मस्थान को कहते हुए यह सुत्त कहा। यह इसकी उत्पत्ति का एक विवरण है।

भगवान जब राजगीर में विहार कर रहे थे उस समय चीवर स्कंध (महाव० ३२६) में विस्तार से कही गयी जिस सालवती गणिका की उत्पत्ति है, उसकी मृत्यु के पश्चात उसकी बेटी सिरिमा ने, जो जीवक की बहन थी, माता का स्थान प्राप्तकर **'अक्कोधेन जिने कोधं'** (ध० प० २२३; जा० १.२.१) के प्रसंग में जो कहानी कही गयी है उसके अनुसार उसने पुण्णक सेठी की बेटी की अवमानना की। भगवान के क्षमा कर दिये जाने पर उसने धर्मदेशना सुनी और श्रोतापत्ति हो आठ भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन देना प्रारंभ किया। उसको लेकर एक नित्य भोजन करने जानेवाले भिक्षु के मन में राग पैदा हुआ। भोजन कृत्य भी करने में असमर्थ वह भिक्षु निराहार वहां लेटा रहता था– यह धर्मपद गाथा की उत्पत्ति में वर्णित है। उसके वहां वैसे लेटे रहने पर ही सिरिमा मर गयी और यामभवन में सुयाम की देवी हुई। उसके मृत शरीर को राजा द्वारा जलाने की आज्ञा न देकर उसे कच्चे श्मशान में फेंकवाया गया और भिक्षुसंघ के साथ भगवान उस भिक्षु को साथ में ले वहां उसके शरीर को देखने आये। नगरवासी तथा राजा भी आये। वहां लोग कह रहे थे कि 'पहले एक हजार आठ देकर भी सिरिमा का दर्शन दुर्लभ था, आज उसको काकणिक देकर भी कोई पूछनेवाला नहीं है।' सिरिमा भी पांच सौ रथों पर सवार देवकन्याओं से परिवारित वहां आयी। वहां भगवान ने एकत्र हुए धर्मदेशना सुननेवालों के लिए यह सुत्त तथा उस भिक्षु को उपदेश देने के लिए **'पस्स चित्तकतं बिम्बं'** (ध० प० १४७) से प्रारंभ होनेवाली यह धर्मपद गाथा कही। यह इसकी दूसरी उत्पत्ति का विवरण है।

१९५. चरं वा यदि वा तिट्ठं, निसिन्नो उद वा सयं।
समिञ्जेति पसारेति, एसा कायस्स इञ्जना॥

"यदि चलते हुए और खड़े रहते, बैठे या सोते कोई हाथ पसारे और समेटे तो यह काय की गति है।"

यहां **चरं वा–** पूरे रूपकाय का जिस दिशा में जाना हो उस दिशा में संकल्प से जाते हुए। **यदि वा तिट्ठं–** उसको उठाने के भाव में खड़ा रहते हुए। **निसिन्नो उद वा सयं–** उसके निचले भाग को समेटना और ऊपर के भाग को उठाने के भाव से बैठना या तिरछे पसारने के भाव से सोते हुए। **समिञ्जेति पसारेति–** उसके जोड़ों को समेटना और पसारना।

एसा कायस्स इञ्जना– ये सभी इस विज्ञानयुक्त काय की गति है, चलना है, हिलना-डुलना है। यहां कोई दूसरा नहीं है जो चलता है या पसारता है और जब चित्त में 'चलता हूं' का भाव उत्पन्न होता है तो उससे उठी वायु धातु शरीर में व्याप्त होती है, इस कारण उसका गंतव्य दिशा में अधिष्ठान होता है और दूसरी जगह बदली जाती है। इस कारण वह 'चलता है' कहा जाता है। उसी तरह 'खड़ा रहता हूं' की बात जब चित्त में उत्पन्न होती है तो उससे उठी वायु धातु शरीर में व्याप्त होती है। इस कारण उसका उठना होता है। ऊपर-ऊपर के भाग में रूप का प्रादुर्भाव होता है– यह अर्थ है। इस कारण से 'तिट्ठं' (खड़ा रहना) कहा जाता है। उसी तरह 'बैठता हूं' की बात जब मन में आती है तो उससे उठी वायु धातु शरीर में व्याप्त हो जाती है, इस कारण उसका निचला भाग समेटा हुआ तथा ऊपर का भाग उठ जाता है, उसी भाव से रूप का प्रादुर्भूत होता है– यह अर्थ है। इसी कारण 'बैठा हुआ' कहा जाता है। उसी प्रकार 'मैं सोता हूं' की बात चित्त में उत्पन्न होने पर उससे उठी वायु धातु शरीर में व्याप्त होती है, इस कारण इसका तिरछे पसरना होता है, उसी भाव से रूप की उत्पत्ति होती है– यह अर्थ है। इस कारण 'सोना' कहा जाता है।

इस प्रकार यह या इस नाम के जो कोई आयुष्मान चलते हैं या खड़े होते है, बैठते हैं या सोते है उनका यह उस-उस ईर्या पथ में उन-उन जोड़ों को समेटने या पसारने के कारण 'समेटता' है या 'पसारता' है कहा जाता है। वह भी चूंकि समेटने या पसारने के चित्त उत्पन्न होने पर जैसा कहा गया वैसा ही होता है, इसलिए यह शरीर का हिलना-डुलना है, यहां कोई अन्य नहीं है। शून्य है यह किसी चलनेवाले से या पसारनेवाले से या सत्त्व से या पुद्गल से।

चित्तनानत्तमागम्म, नानत्तं होति वायुनो।
वायुनानात्ततो नाना, होतिकायस्स इञ्जनाति।

"केवल नाना प्रकार के चित्त उत्पन्न होकर नाना प्रकार की वायु को उत्पन्न करते हैं। आत्मा रहित नाना प्रकार की वायु से काय का हिलना-डुलना होता है। यही परमार्थ है।"

इस प्रकार इस गाथा द्वारा चूंकि एक ईर्या पथ में बहुत देर तक रहने से काय में पीड़ा होने लगती है, भगवान उसको दूर करने के लिए ईर्या पथ में परिवर्त्तन कराते हैं, इसलिए 'चलता है' आदि से ईर्या पथ में छिपा दुःख का ही लक्षण है, उसी तरह चलते समय स्थान आदि के अभाव से सभी प्रकार का चलना "यह काय का हिलना-डुलना है" कहते हुए संतति में छिपा अनित्य लक्षण है, उस-उस के समग्र रूप में प्रवर्तित 'ऐसा काया का हिलना-डुलना है' से आत्मा के प्रतिपक्ष में बोलते हुए आत्म संज्ञा घन में जो अनात्म लक्षण छिपा है उसे स्पष्ट करते हैं।

१९६. अट्ठिनहारुसंयुत्तो, तचमंसावलेपनो।
छविया कायो पटिच्छन्नो, यथाभूतं न दिस्सति॥

"हड्डी और नस से जुड़ा हुआ, चमड़े और मांस से लीपा हुआ, चमड़ी से ढंका हुआ, शरीर वैसा नहीं दिखाई पड़ता है जैसा वह वस्तुतः है।"

इस प्रकार तीन लक्षणों को स्पष्ट कर शून्यता कर्मस्थान बता पुनः चेतन प्राणी और अचेतन प्राणी संबंधी अशुभ दर्शन के लिए **'अट्ठिनहारु संयुत्तो'** से प्रारंभ किया। उसका अर्थ यह है– यह जिस शरीर का हिलना-डुलना है, विशुद्धिमार्ग में उस शरीर की बत्तीस आकार की व्याख्या में वर्ण, संस्थान (आकार) दिशा, अवकाश के भेद से ऐसा प्रकाशित किया गया है जैसे इसका कोई व्यापार (कार्य) ही न हो, तीन सौ साठ से अधिक हड्डियां हैं इसमें और नौ सौ नसें हैं– इन दोनों से यह शरीर संयुक्त है। वहीं पर प्रकाशित अग्रपाद अंगुलि चमड़ा आदि खाल से और नौ सौ प्रकार के पेशियों से और मांस से अवलिप्त होने के कारण **तचमंसावलेपनो–** इसको परम दुर्गंधित, जुगुप्सित और प्रतिकूल जानना चाहिए। यहां जो कुछ जानने योग्य हो यदि इस या उस मध्यम आकार के पुरुष के पूरे शरीर से बाहर निकाला हुआ बेर की आंठी के समान हो तो यदि वह उस मक्खी की पांख के सूक्ष्म नील आदि रंगवाले चमड़े से घर की दीवाल की तरह ढंका न हो।

इस प्रकार सूक्ष्म चमड़े से ढंकी यह काया प्रज्ञाचक्षु विरहित मूर्ख लोगों द्वारा यथाभूत नहीं देखी जा सकती। उसका परम जुगुप्सित प्रतिकूल धर्मनामक त्वचा जो सौंदर्यराग से रंजित है वह प्रभेद से।

नौ सौ मांस पेशियां और मांस से अवलिप्त है, लीपा हुआ है। इसमें नाना प्रकार के कीड़े भरे हैं ठीक वैसे ही जैसे गुह की जगह गंदगी रहती है। इस प्रकार कहे गये नौ सौ मांस पेशियां हैं, जो मांस से अवलिप्त हैं। व्याम मात्र इस शरीर में जो हड्डियों के जोड़ को बांधती हैं जैसे कड़ियां घर को बांधती हैं वे भी नस से उत्पन्न क्रम से अवस्थित गंदे तथा दुर्गंधपूर्ण तीन सौ साठ हड्डियां यथाभूत नहीं दिखलायी पड़ती हैं चूंकि उस मक्खी की पांख की सूक्ष्म छवि को ग्रहण नहीं करता है। उसके अंदर परम अपवित्र, दुर्गंधपूर्ण, जुगुप्सित, प्रतिकूल, लोक से अप्रकट नाना प्रकार के शव उसके अंदर हैं, उन्हें प्रज्ञा चक्षु से प्रतिवेधन कर इस तरह देखना चाहिए।

१९७. अन्तपूरो उदरपूरो, यकनपेळस्स वत्थिनो।
हदयस्स पप्फासस्स, वक्कस्स पिहकस्स च॥

"भरा आंत, भरा पेट, यकृत, वस्ति, हृदय, पुप्फुस, वृक्क, प्लीहा भी भरा है।"

यहां आंत की पूर्णता **अन्तपूरो;** पेट की पूर्णता **उदरपूरो।** उदर यहां उदरिय का पर्याय है। स्थान नाम से उनको उदर कहा गया है। **यकनपेळस्स–** यकृत का **वत्थिनो** पेशाब का। स्थान के पास होने से 'वत्थी' कहा गया है। पूरो का अर्थ भरा हुआ होता है। यह शब्द एक प्रकार का व्याकरण में प्रयुक्त अधिकार है जिसकी अनुवृत्ति बाद में आनेवाले सूत्रों में होती है। अर्थात 'पूरो' सबों में जोड़ा जायगा। जैसे पूरा यकृत, पूरा मूत्राशय आदि। ये सभी आंत आदि रंग, आकार, दिशा, अवकाश परिच्छेद के भेद से विशुद्धि मार्ग में जिस प्रकार विना व्यापार के दिखाये गये हैं वैसा ही जानना चाहिए।

१९८-२००. सिङ्घाणिकाय खेळस्स, सेदस्स च मेदस्स च।
लोहितस्स लसिकाय, पित्तस्स च वसाय च॥

अथस्स नवहि सोतेहि, असुची सवति सब्बदा।
अक्खिम्हा अक्खिगूथको, कण्णम्हा कण्णगूथको।

सिङ्घाणिका च नासतो, मुखेन वमतेकदा।
पित्तं सेम्हञ्च वमति, कायम्हा सेदजल्लिका॥

"यह नाक के नेटा से, थूक से, पसीना से, चर्बी से, खून से, शरीर के जोड़ों को तर रखनेवाले पदार्थ से, पित्त से और चर्बी से भरा है। इसके नौ छेदों से गंदगी बराबर रिसती रहती है, निकलती रहती है। आंखों से किच्ची, कानों से कान का मैल, नाक से नेटा निकलता है, मुंह से पित्त, कफ वमन करता है और शरीर से पसीना निकलता है।"

इस प्रकार भगवान ने यह दिखाते हुए कि 'यहां एक भी ऐसी चीज नहीं है जो मणि मुक्ता की तरह ग्रहण करने योग्य है, निश्चय ही यह शरीर गंदगी से भरा है। अब अंदर के लाश को दिखाते हुए उस आंतरिक लाश को बाहर निकलनेवाली दुर्गंधि से प्रकट कर दिखाते हैं पहले कहे का संग्रहकर **"अथस्स नवहि सोतेही"**ति दो गाथाएं कहीं।

अथ– क्रम के अंतर का उदाहरण, दूसरे क्रम से भी गंदगी है– इसको देखें– यह कहा गया है। **अस्स–** इस शरीर का। **नवहि सोतेहि** दोनों आंखों, दोनों कानों, दोनों नाकों के छिद्रों से, मुख, गुदामार्ग तथा पेशाब के रास्ते से। **असुचि सवति–** नाना प्रकार की परम दुर्गंधि एवं जुगुप्सित अशुचि जो सभी लोगों को स्पष्ट मालूम हो जाती हैं, रिसती हैं, बहती हैं, टपकती हैं, अन्य कुछ जैसे अगरबत्ती, चंदन आदि से उत्पन्न गंध नहीं या मणि मुक्ता रतन आदि से उत्पन्न गंध नहीं। **सब्बदा तं–** वह सर्वदा रात-दिन, पूर्वाह्न, सायंकाल, खड़े होते, जाते हुए। वह गंदगी है क्या? **अक्खिम्हा अक्खिगूथको–** आंख से निकलनेवाली गंदगी। दोनों आंखों के छेद से निकाले गये चमड़े और मांस के समान आंख की गंदगी, कानों के छेद से निकलनेवाली कीचड़ की तरह गंदगी बहती है, नाक से पीप सदृश नेटा बहता है और मुंह से वमन करता है। क्या वमन करता है? **एकदा पित्तं–** एक समय पित्त, जब पित्त ढीला हो क्रुद्ध हो जाता है, उस समय उसको वमन करता है– यह अभिप्राय है। **सेम्हञ्च–** न केवल पित्त, लेकिन उदर पटल (पेट के आवरण) पर जो एक परत कफ जमा रहता है उसको भी कभी वमन करता है। इन सबों के रंग आदि जैसा विशुद्धि मार्ग में (विसुद्धि० १.२०३-२०४, २१०-२११) वर्णित है वैसा जानना चाहिए। **सेम्हञ्च–** कफ शब्द से कफ और इस प्रकार की अन्य चीजें भी जो पेट से लहू आदि गंदगी है– उनको भी वमन करता है– यह दिखाता है।

इस प्रकार सात छेदों से गंदगी का निकलना दिखाकर कालज्ञ, (समय के जानकार) पुद्गलज्ञ (व्यक्ति के जानकार), परिषदज्ञ (परिषद के जानकार) भगवान ने उनके अलावा दो और द्वारों को विशेष वचन से न कहकर दूसरे क्रम से पूरी काया से गंदगी का निकलना दिखाते हुए कहा– **कायम्हा सेदजल्लिकाति** (शरीर से पसीने की गंदगी) यहां **सेदजल्लिका–** पसीना जो नमकीन होता है और सूखकर शरीर पर एक

आवरण-सा हो जाता है वह भी गंदगी है इसका भी संबंध 'सर्वदा चूता रहता है' के साथ है।

२०१. अथस्स सुसिरं सीसं, मत्थलुङ्गस्स पूरितं।
सुभतो नं मञ्ञति बालो, अविज्जाय पुरक्खतो॥

"इसका खोंडर (छेदवाला) सिर दिमाग से भरा हुआ है। अविद्या के कारण मूर्ख उसमें सौंदर्य देखता है और उसे शुभ समझता है।"

इस प्रकार भगवान ने जैसे भात पकते समय चावल का मैल और पानी की गंदगी फेन के साथ उठकर वर्त्तन के मुंह को चुपड़ते हुए बाहर बहती है, उसी तरह खाने पीने के भेद से आहार जब कर्मज अग्नि से पक रहा होता है तो खाये पीये का मैल उठकर 'आंख से कीचड़' आदि भेद से बाहर निकल आंख आदि को चुपड़ते हुए बाहर बहता है। उस कारण भी इस काया की गंदगी फेन के साथ उठकर वर्त्तन के मुंह को चुपड़ते हुए बाहर बहती है। अब जो इस लोक में उत्तम अंग सिर सर्वमान्य है उसको अति विशिष्ट भाव से पकाने पर वंदना करने योग्य की भी वंदना नहीं करते हैं, उसकी भी निःसारता से, गंदगी से अशुचि को दिखाते हुए **'अथस्स सुसिरं सीसं'** वाली गाथा कही।

यहां **सुसिरं–** छेद। **मत्थलुङ्गस्स पूरितं–** दही से भरी हुई लौकी की तरह सिर दिमाग-से भरा है। इस दिमाग को जैसा विशुद्धिमार्ग में वर्णित है वैसा ही जानना चाहिए। **सुभतो नं मञ्ञति बालो–** नाना प्रकार के मुर्दों से भरी इस काया को ठीक से सोच-विचार नहीं करनेवाला मूर्ख सुंदर समझता है, शुभ, इष्ट तथा मनाप (आनंददायक तथा मुग्ध करनेवाला) समझता है।

क्यों? चूंकि **अविज्जाय पुरक्खतो** चार आर्य सत्यों को ढंकनेवाले मोह से अभिभूत होने से, परिवारित होने से, प्रवृत्त किये जाने से, (इस प्रकार ग्रहण करो, इस प्रकार आसक्त होओ, इस प्रकार मन आदि से ग्रहण करो आदि कहकर ग्रहण करवाती है– यह अभिप्राय है। देखो यह अविद्या अनर्थकारी है।)

२०२. यदा च सो मतो सेति, उद्धुमातो विनीलको।
अपविद्धो सुसानस्मिं, अनपेक्खा होन्ति ञातयो॥

"लेकिन जब यह मृत होकर सो जाता है, तब फूल जाता है और बदरंग हो जाता है, श्मशान में फेंक दिया जाता है तो संबंधियों को इसके लिए कोई अपेक्षा नहीं रहती।"

इस प्रकार भगवान ने सचेतन प्राणी को भी अशुभ रूप में दिखाकर अब अचेतन को भी अशुभ रूप में दिखाने के लिए, चूंकि चक्रवर्ती राजा की काया भी जैसा कहा गया है दुर्गंध से पूर्ण होती है, इसलिए सब प्रकार से संपत्तिभव में अशुभ दिखाकर अब विपत्तिभव में अशुभ दिखाने के लिए **'यदा च सो मतो सेति'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

इसका अर्थ यह है– इस प्रकार की काया **यदा–** जब आयु, उष्मा और विज्ञान के चले जाने से **मतो–** मर जाती है– हवा भरे बस्ते की तरह **उद्धुमातको–** फूल जाती है, रंग बदलने से **विनीलको सुसानस्मिं–** श्मशान में लकड़ी के सड़े लट्ठे के समान निरर्थक छोड़ दिये जाने के कारण **अपविद्धो सेति–** फेंकी जाकर सोती है अब 'इसका पुनः उठना नहीं होगा' निश्चित रूप से **अनपेक्खा होन्ति ञातयो–** सभी

संबंधी उसकी अपेक्षा नहीं करते। यहां **मतो** का अर्थ मृत है जो अनित्यता दर्शाता है। **सेति–** बिना किसी इच्छा के, निरीह है। दोनों का नियोजन जीवित रहते समय बल का जो घमंड रहता है उनका प्रहाण बताने के लिए किया गया है।

उद्धुमातो से बदले आकार को दर्शाया गया है। **विनीलको–** शरीर का रंग बदल गया, यह दिखाया गया है। इन दोनों का नियोजन रूप घमंड का प्रहाण और सुंदरता से उपजा मान का प्रहाण बताने के लिए किया गया है। **अपविद्धो–** ग्रहण किये जाने योग्य नहीं रही काया– यह दिखाता है। श्मशान ही इसका अंत है क्योंकि जुगुप्सित होने के कारण सहन करने योग्य नहीं है। दोनों का नियोजन, यह मेरा है, इस शुभ संज्ञा के ग्रहण का प्रहाण बताने के लिए किया गया है। **अनपेक्खा होन्ति ञातयो–** फेंक दिया गया यह दर्शाता है, इसका नियोजन परिवार मद के प्रहाण के लिए किया गया।

इस प्रकार इस गाथा से संपूर्ण अचेतन शरीर को अशुभ दिखाकर अब यह दिखाने के लिए कि जब यह टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है तब भी अशुभ ही है **'खादन्ति नं'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा कही।

२०३. खादन्ति नं सुवाना च, सिङ्गाला च वका किमी।
काका गिज्झा च खादन्ति, ये चञ्ञे सन्ति पाणिनो॥

"इसे कुत्ते खाते है, शृगाल, भेड़िये और कीड़े खाते हैं, कौए और गिद्ध खाते हैं और दूसरे प्राणी भी इसे खाते हैं।"

यहां **ये चञ्ञे–** जो और भी कौए और गीध आदि मुर्दा खानेवाले प्राणी हैं, वे भी इसे खाते हैं यह अर्थ है। शेष तो स्पष्ट ही है।

२०४. सुत्वान बुद्धवचनं, भिक्खु पञ्ञाणवा इध।
सो खो नं परिजानाति, यथाभूतञ्हि पस्सति॥

"जो भिक्षु ज्ञानी हैं, वे बुद्ध वचन सुन, निश्चित ही समझते हैं, क्योंकि वे शरीर को यथाभूत जानते हैं।"

इस प्रकार **'चरं वा'** आदि तरीके से शून्यता कर्मस्थान के रूप में, **'अट्ठिन्हारुसंयुत्तो'** आदि तरीके से सचेतन अशुभ के रूप में, जब वह मर जाता है आदि तरीके से अचेतन अशुभ के रूप में काय को दिखाकर इस प्रकार नित्य सुख और आत्मभाव से शून्य एकांत अशुभ इस काया में 'अविद्या से परिवारित मूर्ख इसे शुभ मानता है' कह मूर्ख की वृत्ति बताकर अविद्या के कारण भवचक्र दिखाकर वहां पंडित की वृत्ति को परिज्ञा के कारण भवचक्र से निकलने को दिखाने के लिए **'सुत्वान बुद्ध वचनं'** से प्रारंभ किया।

यहां **सुत्वान–** ध्यान से सुनकर। **बुद्धवचनं–** ऐसा बुद्धवचन जो काया के प्रति इच्छा को दूर करता है, आसक्ति को हटाता है। **भिक्खु–** शैक्ष्य या पृथक् जन। **पञ्ञाणवा–** प्रज्ञान कहते हैं विपश्यना को जो अनित्यता आदि में प्रवृत्त होती है, उस विपश्यना से समन्वागत। **इध–** बुद्ध शासन में। **सो खो नं परिजानाति–** वह इस काया को तीन प्रकार की परिज्ञाओं से भलीभांति जानता है। कैसे? जैसे कुशल

व्यापारी सामान को उलट-पुलट कर देख 'इतना कम करने पर इतनी सूद होगी ऐसी तुलना कर वैसा ही कर फिर सूद के साथ मूल को लेकर उस सामान को देता है, उसी प्रकार 'अट्ठिन्हारु आदयो इमे केसलोमादयो च'– ज्ञान चक्षु से देखते हुए परिज्ञा से अच्छी तरह जानता है। 'ये धर्म अनित्य हैं, दु:ख हैं, अनात्म हैं' ऐसी जांच कर तीरण प्रज्ञा से अच्छी तरह जानता है, इस प्रकार विचार कर आर्यमार्ग प्राप्त करते हुए छंदराग के प्रहाण से प्रहाण प्रज्ञा से अच्छी तरह जानता है। सचेतन भी अशुभ, अचेतन भी अशुभ– ऐसा देखते हुए ज्ञात परिज्ञा से अच्छी तरह जानता है, अनित्य के रूप में देखते हुए तीरण प्रज्ञा से, उसके बाद अर्हत मार्ग से छंदराग (उत्तेजक कामना) को बाहर निकाल, उसको त्याग कर प्रहाण परिज्ञा से अच्छी तरह जानता है।

किस तरह वह इस प्रकार भलीभांति जानता है? **यथाभूतञ्हि हि पस्सति–** चूंकि वह यथाभूत देखता है। **पञ्ञाणवा** आदि से ही इस अर्थ के सिद्ध होने पर चूंकि बुद्ध वचन सुनकर उनका प्रज्ञान व्रत (प्रज्ञान कर्त्तव्य, सेवा कार्य) होता है और चूंकि सभी लोगों के लिए जो प्रकट उपाय काय शरीर है, उसके बारे में बुद्धवचन को सुने बिना कोई ठीक से समझ नहीं सकता इसलिए उसके ज्ञान के लिए इससे बाहर को इसी प्रकार देखने ही असमर्थता दिखाते हुए सुत्वान बुद्धवचनं आदि कहा। नंद भिक्षुणी को और उससे आसक्त चित्त भिक्षु को लेकर देशना जो प्रवर्त्तित हुई वह कहा।

२०५. यथा इदं तथा एतं, यथा एतं तथा इदं।
अज्झत्तञ्च बहिद्धा च, काये छन्दं विराजये॥

"जैसा यह वैसा वह, जैसा वह वैसा यह। (इसको समझना) शरीर के प्रति जो उत्तेजक कामना है, शरीर के भीतर या बाहर के प्रति, उसको छोड़े।"

अब 'यथाभूत ही देखता है' यहां जैसे देखते हुए यथाभूत देखता है, उसको दिखाने के लिए **"यथा इदं तथा एतं, यथा एतं तथा इदं"** कहा। इसका अर्थ है– जैसे यह सचेतन अशुभ आयु, उष्मा और विज्ञान के नहीं चले जाने से अर्थात रहने से चलता है, न खड़ा होता है, बैठता है, सोता है वैसे ही अब इसके श्मशान में सो जाने पर अचेतन होने के पहले वे धर्म नहीं गये रहते हैं। जैसे अब यह मृत शरीर उन धर्मों के चले जाने से न चलता है, न खड़ा होता है, न बैठता है, न सोता है वैसे ही इस सचेतन को भी उन धर्मों से दूर होना होगा। जैसे यह सचेतन अब श्मशान में मृत हो नहीं सोता है और न सूजता है और न बदरंग होता है– इस तरह का भाव नहीं प्राप्त करता, वैसे ही यह मृत शरीर भी पूर्व में था। जैसे यह अचेतन अशुभ अब मरकर श्मशान में सोता है, सूजता है बदरंग होता है, वैसे ही सचेतन भी होगा।

यहां **यथा इदं तथा एतं–** अपने से मृत शरीर की समानता दिखाते हुए। अर्थात इसको समान रूप से देखते हुए बाहर द्वेष छोड़ता है। **यथां एतं तथा इदं–** मृत शरीर से अपनी समानता दिखाते हुए अंदर का राग छोड़ता है, उसका त्याग करता है। जिस प्रकार दोनों में समानता देखता है उसे जानकर दोनों में मोह त्यागता है। इस प्रकार यथाभूत दर्शन से पहले भाग में ही अकुशल हेतु का प्रहाण कर, चूंकि ऐसा मार्गारूढ़ भिक्षु क्रमशः अर्हतमार्ग पाकर सभी उत्तेजित कामना से विरक्त होने में समर्थ होता है, इसलिए **'अज्झत्तञ्च बहिद्धा च, काये छन्दं विराजये'** कहा। इस प्रकार मार्गारूढ़ भिक्षु क्रमशः अंत तक

इच्छा और उत्तेजक कामना छोड़, प्रज्ञावान भिक्षु वहां पहुच गया है जहां अमृत है, शांति है और अच्युत पद निर्वाण है। इस प्रकार शैक्ष्य भूमि दिखाकर अब अशैक्ष्य भूमि दिखाते हुए **'छन्दराग विरत्तो सो'** कहा।

२०६. छन्दरागविरत्तो सो, भिक्खु पञ्ञाणवा इध।
अज्झगा अमतं सन्तिं, निब्बानं पदमच्चुतं॥

"उस भिक्षु ने यहां उत्तेजक कामनाओं से विरक्त हो, प्रज्ञावान हो अमृत शांति अत्युतपद निर्वाण को प्राप्त किया। वह भिक्षु अर्हत मार्ग ज्ञान से प्रज्ञावान हो मार्ग के बाद फल प्राप्त करता है।"

अब सभी प्रकार के उत्तेजक कामनाओं को प्रहीण करने के कारण **छन्दराग विरत्तो** है अर्थात उत्तेजक कामनाओं से विरक्त है, मरने के अभाव से प्रणीत (सूक्ष्म) अर्थ में **अमतं** (अमृत), सभी संस्कारों का उपशमन होने से **सन्तिं** (शांति), तृष्णा नामक बाण के अभाव से **निब्बानं** (निर्वाण), च्युत नहीं होने के अभाव से **अच्चुतं,** अच्युत इनसे संवर्णित (प्रशंसित) पद को प्राप्त करता है– यह कहा जाता है। अथवा वह भिक्षु अर्हत मार्गज्ञान से प्रज्ञावान हो मार्ग के बाद फल में स्थित छंद राग से विरक्त होता है। कहे गये प्रकार से पद को प्राप्त किया, यह जानना चाहिए। इस कारण 'उसका यह प्रहीण हुआ', इससे दूसरा लाभ प्राप्त किया', यह स्पष्ट करता है।

२०७. द्विपादकोयं असुचि, दुग्गन्धो परिहीरति।
नानाकुणपपरिपूरो, विस्सवन्तो ततो ततो।

"इस अपवित्र, दुर्गंधिपूर्ण द्विपद शरीर को संरक्षण देता है। यह तो नाना लाशों से, नाना प्रकार की दुर्गंधियों से भरा है, यहां-वहां से इससे सर्वदा गंदगी रिसती ही रहती है।"

इस प्रकार सचेतन तथा अचेतन रूप में अशुभ कर्मस्थान को उसकी प्राप्ति के साथ कहकर पुनः संक्षेप देशना से इस प्रकार बड़े लाभ का विघ्न जो प्रमाद है उसको गर्हित बताते हुए **द्विपादकोयं** से प्रारंभ होनेवाली दो गाथाएं कहीं। यहां कुछ अपादक आदि का भी अर्थात जिनके पैर नहीं है उनकी भी काया अपवित्र है। यहां अधिकार के कारण या उत्कृष्ट परिच्छेद के कारण चूंकि अन्य अशुचिभूत काया नमक तथा खटाई के साथ मिला दिये जाने पर मनुष्यों के भोजन के लिए लायी जाती है, किंतु मनुष्य की काया नहीं, इसलिए यह अधिक अपवित्र है, गंदा है, इसको दिखाते हुए **'द्विपादको'** कहा।

२०८. एतादिसेन कायेन, यो मञ्ञे उण्णमेतवे।
परं वा अवजानेय्य, किमञ्ञत्र अदस्सनाति॥

"ऐसी काया के कारण जो कोई भी अपने को ऊंचा समझेगा, बड़ा समझेगा और दूसरे को नीचा या छोटा समझेगा, उसका वैसा समझना सिवा अज्ञान के और क्या है अर्थात उसमें दर्शन का अभाव है।"

अयं– मनुष्य की काया दर्शाता है। **दुग्गन्धो परिहीरति–** दुर्गंधित होने पर भी पुष्प-गंध आदि से सजाकर इसका संरक्षण करता है।

नानाकुणपपरिपूरो– केश आदि अनेक प्रकार की लाशों से भरा हुआ। **विस्सवन्तो ततो ततो–** पुष्प-गंध

आदि से ढंके जाने के लिए प्रयास करते हुए भी उसके प्रयास को निष्फल कर नौ द्वारों से थूक, नेटा आदि का तथा रोमकूपों से पसीना का गिरना होता ही रहता है। अब देखो **एतादिसेन कायेन यो–** इस तरह की काया से जो पुरुष या स्त्री या कोई मूर्ख अपने को ऊंचा मानता है तृष्णा, मिथ्यादृष्टि तथा मान से 'मैं' 'मेरा' तथा 'नित्य' आदि तरीके से जो अपने को बड़ा माने, दूसरे को जाति आदि से नीचा समझे, अपने को ऊंचे स्थान पर रखते हुए, **किमञ्ञत्र अदस्सना–** आर्य मार्ग को छोड़, आर्यसत्य दर्शन का अभाव– इस प्रकार ऊंचा और नीचा समझने के सिवा दूसरा कौन हो सकता है।

देशना के अंत में नंदा भिक्षुणी को धर्मसंवेग हुआ 'ओह मैं मूर्खा हूं, मेरे ही विषय में इस प्रकार विविध धर्मों का प्रवर्त्तन करनेवाले भगवान की सेवा में मैं नहीं गयी।' इस प्रकार धर्मसंवेग प्राप्त कर उसी धर्म देशना को इकट्ठा कर उसी कर्मस्थान से कुछ ही दिनों के अंतराल में उसने अर्हत्व का साक्षात्कार किया। दूसरे स्थान पर भी देशना के अंत में चौरासी हजार प्राणियों को धर्म का ज्ञान हुआ, सिरिमा देवकन्या ने अनागामी फल प्राप्त किया और वह भिक्षु श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ।

विजयसुत्तवर्णना समाप्त।

१२. मुनिसुत्तवर्णना

'सन्थवातो भयं जातं' से प्रारंभ होनेवाला **मुनिसुत्त** है। इसकी क्या उत्पत्ति है? इस पूरे सुत्त की उत्पत्ति एक नहीं है। प्रारंभ से लेकर चार गाथाओं की उत्पत्ति इस तरह हुई है। भगवान जब श्रावस्ती में विहार कर रहे थे तो ग्रामवासियों में एक दुर्गति प्राप्त स्त्री, जिसका पति मर गया था, अपने पुत्र को भिक्षुओं में प्रव्रजित करा स्वयं भिक्षुणी बन गयी। वे दोनों श्रावस्ती में वर्षावास के लिए गये और दोनों बार-बार एक दूसरे से मिलने की इच्छा करते थे। माता कुछ प्राप्त करती तो बेटे को लाकर देती और बेटे को कुछ प्राप्त होता तो माता को लाकर देता। इस प्रकार सुबह-शाम एक दूसरे के पास आकर जो कुछ वे पाते उसे बांटते, आनंदित होते, सुख-दुःख पूछते और इस तरह शंकारहित होते। उन लोगों के इस तरह बार-बार मिलने से उनमें संसर्ग बढ़ा, संसर्ग से घनिष्ठता, घनिष्ठता से उतराव (दोष) और दोषचित्तवालों के मन से यह विचार ही समाप्त हो गया कि वे प्रव्रजित हैं तथा वे माता एवं पुत्र हैं। उसके बाद मर्यादा तोड़ उन लोगों ने अधर्म का सेवन किया अर्थात साथ-साथ रहे और अयश प्राप्त कर विभ्रमित हो पुनः घर आकर गृहस्थ रूप में रहने लगे। भिक्षुओं ने भगवान को इसकी सूचना दी। 'भिक्षुओ! क्या वह मूर्ख यह मानता है कि माता पुत्र में आसक्ति नहीं करती या पुत्र माता में आसक्ति नहीं करता है' निंदा कर 'भिक्षुओ, मैं एक भी अन्य रूप को नही देखता हूं' (अ० नि० २.५.५५) आदि से प्रारंभ होनेवाले शेष सुत्त से भिक्षुओं में धर्मसंवेग पैदा कर यह बात कही कि 'जैसे हलाहल विष है, उबलता हुआ तेल है जिसमें तांबा तथा लोहा पड़ कर गल जाता है, वैसे ही स्त्रियों की संगति नहीं करनी चाहिए, इसलिए भिक्षुओ, उनसे दूर रहना चाहिए'। फिर उन्होंने भिक्षुओं को धर्मदेशना देने के लिए **'सन्थवातो भयं जातं'** से प्रारंभ होनेवाली ये चार गाथाएं अपने संबंध में कहीं, अपने प्रसंग में कहीं।

२०९. **सन्थवातो भयं जातं, निकेता जायते रजो।**
अनिकेतमसन्थवं, एतं वे मुनिदस्सनं॥

"संसर्ग से भय उत्पन्न होता है, गृहस्थ जीवन से रज, गंदगी। घर गृहस्थी तथा संसर्ग का न होना ही– यही मुनि की दृष्टि है।"

यहां तृष्णा, **सन्थवो** मिथ्या दृष्टि और मित्र के भेद से तीन प्रकार की पूर्व में कही गयी है। यहां तृष्णा और मिथ्या दृष्टि से उत्पन्न संसर्ग अभिप्रेत है। उसके बारे में भगवान ने कहा, 'भिक्षुओ, देखो, जो यह उस मूर्ख को गहरे संसर्ग के कारण भय उत्पन्न हुआ।' उसको उसकी बार-बार देखने की इच्छा से, देखने की तृष्णा से बहुत क्लेशभय उत्पन्न हुआ, जिसको रोकने में असमर्थ उसने माता के साथ गलत आचरण किया। अपने को धिक्कारना आत्मालोचन बड़ा भय है, जिस कारण बुद्ध शासन छोड़ इधर-उधर घूम रहा है। **निकेताति "रूपनिमित्तनिके तविसारविनिबन्धा खो, गहपति, निकेतसारी"**ति **वुच्चती"**ति **आदिना** (सं० नि० २.३.३) निकेतसारी घर में रहने वाले (गृहस्थ) हे भूपति, उसको कहा गया है जो

विभिन्न प्रकार के रूपों में विनिबद्ध हो, विचरण कर तृष्णा जगाता है।

जायते रजो– राग, द्वेष और मोह-उत्पन्न होते हैं।

क्या कहा गया है? न केवल उसको संसर्ग से भय उत्पन्न हुआ, बल्कि इन क्लेशों (कामुकताओं) के निवासस्थान होने के अर्थ में, आश्रवों के आलंबन होने के कारण जिसको 'निकेत' कहा जाता है, अब उसका संवर टूट जाने के कारण, मर्यादा के अतिक्रमण करने के कारण अच्छी तरह से उसी घर से रज (गंदगी) उत्पन्न होता है, जिससे संकिलिष्ट चित्त दुर्भाग्य में पड़ जाता है, बुरे दिनों में पड़ जाता है। अथवा देखो, भिक्षुओ, जैसे इस मूर्ख को संसर्ग से भय उत्पन्न हुआ, जैसे सभी पृथकजनों को घर से राग की उत्पत्ति होती है इस प्रकार यहां दोनों पदों को जोड़ना चाहिए।

सभी जगह इस तरह पहले आधी गाथा से पृथक्जन के विचार को गर्हित कर (उसमें दोष दिखा) अपने विचार की प्रशंसा करते हुए 'अनिकेतं' से प्रारंभ होनेवाली पीछेवाली आधी गाथा कही।

यहां जैसा कहा वैसे निकेत के प्रतिक्षेप से (निषेघ से) **'अनिकेतं'** और गहरी मित्रता या संसर्ग के निषेध से **असन्थवं** जानना चाहिए। ये दोनों ही निर्वाण के पर्याय हैं। **एतं वे मुनिदस्सनं–** बुद्धमुनि ने अनिकेत को देखा, असंसर्ग को देखा अर्थात उनके विचार में ये दोनों ही उन्हें अच्छे लगे। यहां **वे** विस्मय के अर्थ में निपात हैं– ऐसा जानना चाहिए। इस कारण जिस घरगृहस्थी और संसर्ग के कारण माता और पुत्र के गलत आचरण करने पर **अनिकेतमसन्थवं** को मुनि द्वारा देखा गया– यह आश्चर्य है, यह अभिप्राय सिद्ध होता है। अथवा मुनि का दर्शन मुनिदर्शन है। दर्शन का अर्थ क्षांति, रुचि, क्षमा करता है और पसंद करता है। यह अर्थ है।

२१०. यो जातमुच्छिज्ज न रोपयेय्य, जायन्तमस्स नानुप्पवेच्छे।
तमाहु एकं मुनिनं चरन्तं, अद्दक्खि सो सन्तिपदं महेसि॥

"जो पैदा होकर बढ़ा हुआ है उसे काटकर कोई नया फिर न रोपे, या उसमें पानी न दे जिस कारण से वह उत्पन्न होकर बढ़े, उसी को अकेला विचरण करनेवाला मुनि कहा जाता है। उसी महर्षि ने शांति पद को देखा है।"

दूसरी गाथा में **यो जातमुच्छिज्ज** का अर्थ यह है। जिस किसी वस्तु में क्लेश (कामुकता) उत्पन्न हो तो जिस तरह उत्पन्न अकुशल का प्रहाण हो वैसा ही प्रयत्न करते हुए उस वस्तु से पुनः क्लेश पैदा न हो इसके लिए उसको उखाड़कर, भविष्य में होनेवाले क्लेश के कारण को उसी तरह समाप्त करने में अभिमुख होने के कारण वर्त्तमान में **'जायन्तो'** 'उत्पन्न होते हुए' कहा जाता है– **तं च न रोपयेय्य जायन्तं** उस जनमते हुए को, उठते हुए को फिर न रोपे जैसे अनुत्पन्न अकुशल का उत्पाद होता है, वैसे ही प्रयत्न करते हुए न उत्पन्न करे– यह अर्थ है। **अस्स नानुप्पवेच्छे–** जिस कारण से वह उत्पन्न हो, उसको प्रवेश करने नहीं दे, उसको सम्मिलित न करे।[१] इस प्रकार सामग्री को विकृत कर, नष्ट कर उस जन्म लेते हुए को न रोपे। अथवा चूंकि मार्ग की भावना से अतीत के सभी क्लेशों का भी उच्छेद हो जाता है, भविष्य के भी विपाक के अभाव से हो जाता है और वर्त्तमान में भी उसके अभाव में वे रोपे नहीं

१. (यहां विपश्यना की बात कही गयी है। यदि संवेदनाओं को देखते समय हम प्रतिक्रिया करते हैं तो इसका अर्थ हुआ उत्पन्न करनेवाले कारणों को रोपना, यदि प्रतिक्रिया नहीं करते हैं तो अर्थ हुआ, उन हेतुओं को न रोपना। अर्थात भोक्ताभाव से देखने पर हम रोपते हैं, तटस्थ भाव से देखने पर उन्हें नहीं रोपते।)

जाते, भविष्य में भी चित्त की धारा (संतति) में उत्पत्ति सामर्थ्य को नष्ट कर देने से उसको प्रवेश करने नहीं देते, इसलिए जो आर्यमार्ग की भावना से पैदा हुए को समूल नष्ट करके पैदा लेनेवाले को न रोपे, भविष्य में भी उस जन्म लेनेवाले को प्रवेश नहीं करने दे। अकेला विचरण करते हुए उसको मुनि कहते हैं, उसी महर्षि ने शांत पद को देखा– इस प्रकार यहां योजना जाननी चाहिए। बिल्कुल क्लेश रहित होने के कारण **एकं** श्रेष्ठ के अर्थ में भी **एकं** (अकेला), **मुनिनं** का अर्थ मुनि को, मुनियों में एक। **चरन्तं–** सभी गुणों से परिपूर्ण लोक हित में आचरण से तथा अवशेष चर्याओं से विचरण करते हुए।

अद्दक्खि– देखा। **सो–** जो पैदा हए को (समूल) उखाड़कर न रोपने में, न प्रवेश करने देने के सामर्थ्य के कारण 'पैदा होनेवाले को न रोपता है और न (अपने भीतर) प्रवेश करने देता है'– ऐसे को ही बुद्ध मुनि कहा गया है। **सन्तिपदं–** शांति के भेद बासठ प्रकार की दृष्टियों के, विपश्यना के और निर्वाण के भेद से तीन प्रकार की शांति कही जाती है जैसे वह शांति जिसे आम लोग शांति समझते हैं, तदङ्ग शांति अर्थात शांतिजन्य तथा अत्यंत शांति में अत्यंत श्रेष्ठ, इस प्रक्रार अनुपशांत लोक में अत्यंत शांति को महर्षि ने देखा– ऐसा अर्थ जानना चाहिए।

२११. सङ्खाय वत्थूनि पमाय बीजं, सिनेहमस्स नानुप्पवेच्छे।
स वे मुनी जातिखयन्तदस्सी, तक्कं पहाय न उपेति सङ्खं॥

"क्या करना चाहिए और क्या नहीं इस पर विचारकर, बीज को नष्ट कर, स्नेह जल इस बीज को नहीं देगा। वही मुनि वास्तव में जन्म और मरण का अंत देख, तर्क को पीछे छोड़ किसी भी वर्ग में गिना नहीं जाता– अर्थात वह सबसे परे हो जाता है।"

तृतीय गाथा में **सङ्खाय** का अर्थ गिन कर, भाग कर, परीक्षा कर, जांच कर जैसा है वैसा जानकर, दुःख को परिज्ञा से अच्छी तरह जानकर– यह अर्थ है। **वत्थूनि–** जिनमें यह लोक आसक्त होता है, सभी स्कंध, धातु, आयतन, आदि भिन्न-भिन्न क्लेश उत्पत्ति के कारण को। **पमाय बीजं–** जो उन वस्तुओं का बीज अभिसंस्कार विज्ञान है, उसे हिसाब से मारकर, दबाकर समुच्छेद प्रहाण से त्याग कर– यह अर्थ है। **सिनेहमस्स नानुप्पवेच्छे–** वह बीज भविष्य में प्रतिसंधि के कारण जनमे तथा कहे गये के अनुसार वस्तु शस्य के रूप में बढ़े, उसके लिए जिस तृष्णा एवं मिथ्या दृष्टि रूपी जल से सिंचित करना हो, उससे सिंचित ही न करे, उसके विरोधी मार्ग भावना से वह जल उस बीज को मिले ही नहीं, बीज में प्रवेश न करे। यही अर्थ है। **स वे मुनी जातिखयन्तदस्सी–** इस प्रकार के वे मुनि, बुद्धमुनि निर्वाण का साक्षात्कार कर जन्म और मरण के अंत को, निर्वाण को, देखने के कारण जन्म-मृत्यु के क्षय को देखनेवाले हैं। **तक्कं पहाय न उपेति सङ्खं–** इन चार आर्य सत्यों की भावना से नौ प्रकार के अकुशल वितर्क का प्रहाणकर, सोपादिशेष निर्वाण धातु का लाभ कर, लोकहित के लिए विचरण करते हुए क्रमशः परम अवस्था प्राप्त करता है। जहां विज्ञान का भी क्षय हो जाता है और जो वह अनुपादिशेष निर्वाण है या कहा जाता है जिसकी प्राप्ति से 'वह देव है या मनुष्य' कहना कठिन है। किसमें उसकी गिनती की जाय, देवों में या मनुष्यों में– यह कठिन है। जो परिनिर्वृत्त नहीं है और जिसमें काम वितर्क आदि का प्रहाण नहीं हुआ है उसको वितर्क की अप्रहीणता के कारण जैसे 'यह मनुष्य आसक्त है', 'यह दुष्ट है' ऐसा कहा जाकर उसकी गिनती होती है, इसी प्रकार तर्क का प्रहाण कर उसकी गिनती नहीं होती। वह इन सबसे पार चला जाता है– यहां यह अर्थ जानना चाहिए।

२१२. अञ्ञाय सब्बानि निवेसनानि, अनिकामयं अञ्ञतरम्पि तेसं।
स वे मुनी वीतगेधो अगिद्धो, नायूहती पारगतो हि होति॥

"चित्त जहां-जहां जाता है उन सभी स्थानों को जानकर, लेकिन किसी भी स्थान को पसंद न कर वह मुनि, जिनका लोक समाप्त हो गया, जो वीतलोक हैं, कोई कुशल या अकुशल कर्म करते ही नहीं, क्योंकि वे इस पार से उस पार चले गये हैं।"

चौथी गाथा में **अञ्ञाय** का अर्थ 'अनित्य है' आदि तरीके से जानकर। **सब्बानि–** सभी, बिना कुछ शेष के। **निवेसनानि–** कामभव, रूप आदि भव में, उनमें प्राणी वास करते हैं इसलिए वे **'निवेसनानि'–** कहे जाते हैं, घर कहे जाते हैं। **अनिकामयं अञ्ञतरम्पि तेसं–** इस तरह मिथ्यादृष्टिरूपी खतरे के कारण उन स्थानों में एक में भी ठहरने की कामना न करते हुए इस प्रकार के वे मुनि मार्ग भावना बल से तृष्णा रूपी लोक के समाप्त होने के कारण **वीतगेधो** और वीतगेधता के कारण ही **अगिद्धो,** वैसा नहीं जैसा कुछ लोग लोभ रहित न होने पर भी अपने को हम लोभरहित हैं ऐसा मानते हैं। इस प्रकार। **नायूहति–** उस-उस स्थान पर उत्पन्न करनेवाले कुशल या अकुशल कर्म नहीं करते हैं। किस कारण से? **पारगतो हि होति** चूंकि वे पार चले गये हैं, चूंकि इस तरह सभी को पार कर उन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया है– यह अर्थ है।

इस प्रकार प्रथम गाथा में पृथक् जन के दर्शन की निंदा कर अपने दर्शन की प्रशंसा करते हुए, द्वितीय गाथा में जिन क्लेशों के कारण पृथक् जन शांति लाभ नहीं करता, उनके अभाव से अपने द्वारा प्राप्त शांति की प्रशंसा करते हुए, तृतीय गाथा में जिन वस्तुओं में पृथक् जन तर्क को नहीं छोड़ वैसा-वैसा नाम पाता है, उनमें चार आर्य सत्य की भावना से तर्क का प्रहाण कर अपने किसी कोटि में नहीं है– अर्थात वह इन सबसे पार चला गया है। इसकी प्रशंसा करते हुए, चतुर्थ गाथा में भविष्य में जिन-जिन पड़ावों की कामना कर पृथक्जन भवतृष्णा से परिश्रम करता है, उनमें तृष्णा के अभाव से अपने परिश्रम न करने की प्रशंसा करते हुए चारों गाथाओं द्वारा एक ऐसी देशना की अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए जिसकी समाप्ति की।

२१३. सब्बाभिभुं सब्बविदुं सुमेधं, सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तं।
सब्बञ्जहं तण्हक्खये विमुत्तं, तं वापि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

"सब पर विजय प्राप्त करनेवाले को, सब को जाननेवाले को, बहुत बुद्धिमान को, सभी धर्मों में अनुपलिप्त रहनेवाले को, सब कुछ छोड़नेवाले को, तृष्णा क्षय कर पूर्ण विमुक्त को ही पंडित लोग मुनि कहते हैं।"

सब्बाभिभुं आदि की उत्पत्ति क्या है? महाभिनिष्क्रमण कर, क्रमशः सर्वज्ञता प्राप्त कर, धर्मचक्र प्रवर्त्तन के लिए वाराणसी जाते समय बोधिमंड और गया के बीच महापुरुष सिद्धार्थ गौतम की उपक आजीवक से भेंट हुई। उसके द्वारा 'आवुस, तुम्हारी इंद्रियां अति अचंचल (अनुद्वेगपूर्ण) हैं, शांत हैं' आदि तरीके से (म० नि० १.२८३; महाव० ११) पूछे जाने पर, भगवान ने **सब्बाभिभू** आदि कहा। उपक 'होगे' कह, सिर हिला, रास्ता छोड़ बेरास्ता लौट गया। क्रमशः वङ्कहार जनपद में वह एक

शिकारियों के गांव पहुंचा। शिकारियों में ज्येष्ठ ने उसको ऐसा देख कहा,'यह श्रमण अल्पेच्छ है, वस्त्र भी नहीं पहनता है, यह लोक में अर्हत है' वह उसे घर ले गया। मांस परोस कर खिलाया और पुत्र पत्नी सहित उसकी वंदना कर कहा– 'भंते यहीं रहें, मैं आपके चारों प्रत्ययों की व्यवस्था करूंगा'। ऐसा कह निमंत्रित किया और रहने के लिए जगह बना उसको दिया। वह वहीं रहने लगा।

ग्रीष्म ऋतु में मृग चरने के लिए दूर वैसी जगह जाते जहां पानी खूब रहता और शीतलता रहती। शिकारी अपनी बेटी छाव (चापा) को यह आज्ञा देकर कि 'हमारे अरहंत की सावधानी से सेवा करना' पुत्र और भाई के साथ वहां गया। उसकी बेटी सुंदर थी, अंग-प्रत्यंग की सुंदरता से संपन्न थी। दूसरे दिन उपक जब घर आया तो उस लड़की को सब तैयारी कर भोजन परोसते देख प्रेम राग से अभिभूत हो गया– इतना अभिभूत कि भोजन करने में असमर्थ वह पात्र में भोजन ले अपना वासस्थान गया, और भोजन को एक ओर फेंककर कहा, 'यदि छाव को प्राप्त करूंगा, तब तो जीवित रहूंगा नहीं तो मर जाऊंगा'। ऐसा कह वह भूखे ही सो गया। सातवें दिन शिकारी आया और उसने अपनी बेटी से उपक के बारे में पूछा। उसने कहा, 'एक दिन तो आया था, पर उसके बाद नहीं आया।' शिकारी 'जिस वेष में आया हूं उसी वेष में उसके पास जाकर उससे पूछूंगा' ऐसा सोच उसी क्षण वहां गया और पैर स्पर्श करते हुए पूछा, 'भंते, क्या अस्वस्थ हैं?' उपक कराह-कराह करवट बदल रहा था। उसने कहा 'भंते, कहिये, जो मैं कर सकता हूं, सब करूंगा'। उपक ने कहा, 'यदि छाव को प्राप्त करूंगा, तो जीवित रहूंगा नहीं तो अब मरना श्रेयकर होगा'।

'भंते, आप कोई शिल्प (उद्योग) जानते है?' 'नहीं जानता हूं'। 'भंते, बिना कोई शिल्प जाने घर गृहस्थी चलाना मुश्किल होगा।' उसने कहा, 'मैं तो कोई शिल्प नहीं जानता, लेकिन मैं तुम्हारा मांस ढोनेवाला बनूंगा, मांस बेचूंगा।' शिकारी ने कहा, 'मुझे यह पसंद है' और उसको उत्तर साटक दे घर लाया और बेटी के साथ उसका विवाह कर दिया। उनके सहवास से उसको एक बेटा हुआ। उसका नाम सुभद्द रखा। छाव बेटे को सुलाने के लिए जब गीत गाती तो उस बहाने वह उपक को चिढ़ाती थी। उसको वह सहन नहीं कर सका और यह कह कि 'भद्रे, मैं अनंत जिन के पास जाता हूं' मध्य देश की ओर चल दिया।

भगवान उस समय श्रावस्ती में जेतवन महाविहार में विहार कर रहे थे। उन्होंने पहले से ही भिक्षुओं को आज्ञा दे रखी थी, 'भिक्षुओ, जो अनंत जिन के बारे में पूछते हुए आवे, उसे मेरे पास ले आना'। उपक भी क्रमशः श्रावस्ती आया और विहार के मध्य में खड़ा हो पूछा कि 'इस विहार में मेरा मित्र अनंत जिन है, वह कहां रहता है'। भिक्षु उसे भगवान के पास ले गये। भगवान ने उसके अनुरूप धर्मदेशना की। देशना के अंत में वह अनागामी फल में प्रतिष्ठित हुआ। भिक्षुओं ने उसकी पूर्व प्रवृत्ति सुन बातचीत शुरू की। 'भगवान ने पहले अभागे नग्न श्रमण को उपदेश दिया।' क्या बातचीत हो रही है इसको जान भगवान गंधकुटी से बाहर निकले और उस समय के अनुरूप प्रातिहार्य कर बुद्धासन पर बैठकर भिक्षुओं को संबोधित किया, 'भिक्षुओ अभी क्या कथा-संलाप चल रहा है?' भिक्षुओं ने सारी बातें कहीं। तब भगवान ने कहा, 'भिक्षुओ, तथागत बिना हेतु, बिना प्रत्यय के धर्मदेशना नहीं करते, तथागत की धर्मदेशना निर्मल है, उसमें दोष नहीं देख सकते हो। इसलिए, भिक्षुओ धर्म देशना के उपनिश्रय (आश्रय) से उपक अनागामी हुए'। ऐसा कह अपनी देशना के निर्मल भाव को स्पष्ट

करते हुए यह गाथा कही।

इसका अर्थ यह है। सभी स्कंध, आयतन, धातु जो साश्रव हैं उनमें उत्तेजक कामना का प्रहाण कर उनसे पराभूत (अभिभूत) न हो, स्वयं उन सभी धर्मों पर विजय पा, धर्मों को जीतकर प्रवृत्त होने के कारण **सब्बाभिभुं**। उनको तथा अन्य सभी धर्मों को सभी प्रकार से जानने के कारण **सब्बविदुं**। सभी धर्म देशना में समर्थ होने से, तथा सुंदर मेधा से समन्वागत होने के कारण **सुमेधं**। जिन तृष्णा तथा मिथ्या दृष्टि के लेपों से सभी साश्रवस्कंध आदि प्रकार के धर्मों में लिप्त हैं, उन लेपों के अभाव से उन सभी धर्मों में अनुपलिप्त– **सब्बेसु धम्मेसु अनुपलित्तं**। उन सभी धर्मों में उत्तेजक कामना के अभाव से, उन सभी धर्मों को छोड़कर स्थित रहने के कारण **सब्बञ्जहं**। उपधि (आसक्ति) से अलग रहने की ओर झुके हुए चित्त से तृष्णा क्षय निर्वाण के होने पर विशेष रूप से मुक्त होने के कारण **तण्हक्खये विमुत्तं,** अधिमुक्त कहा गया है। **तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति–** उनको पंडितलोग मुनि अनुभव करते हैं, जानते हैं। देखो इस मुनि को जो कितना विचित्र है, उसको निर्मल देशना कही– यह कह अपने को स्पष्ट करता है। स्पष्ट करने के लिए यहां 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग वर्णन करते हैं "उपक ने तब भी तथागत को देख 'यह बुद्धमुनि है' ऐसा विश्वास नहीं किया, उनमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं की", इस प्रकार भिक्षुओं ने चर्चा चलायी। तब भगवान ने 'विश्वास करो या न करो, पंडित उनको मुनि ही जानते हैं' दिखाते हुए यह गाथा कही–

२१४. पञ्ञाबलं सीलवतूपपन्नं, समाहितं झानरतं सतीमं।
सङ्गा पमुत्तं अखिलं अनासवं, तं वापि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

"जिसके पास प्रज्ञाबल है, जिसने शील पालन करने का व्रत लिया है, जो समाहित, ध्यानरत और स्मृतिमान है, जो आसक्ति से मुक्त है, जो बिना कठोरता (खिल) के है, अनाश्रव है, उसको पंडित मुनि जानते हैं।"

पञ्ञाबलं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? यह गाथा रेवतथेर को लेकर कही गयी है। यहां 'गांव में या यदि अरण्य में' इस गाथा से कहे गये के अनुसार रेवत थेर की आदि से प्रव्रज्या तक, प्रव्रजित का खदिरवन में विहार, वहां विहार करते विशेष की प्राप्ति, भगवान का वहां जाना और फिर प्रत्यागमन जानना चाहिए। भगवान के लौटने पर बूढ़े भिक्षु से जो जूता भूल गये थे, और जिन्होंने लौटकर उसे खदिर वृक्ष पर टंगा देखा था, यह पूछा गया कि 'क्या रेवत थेर का निवास स्थान रमणीय है?' तो जिन भिक्षुओं द्वारा उनका वासस्थान प्रशंसित हुआ था, उन भिक्षुओं को अप्रसन्न करते हुए, 'उपासिके, इन्होंने झूठ कहा है, वहां की भूमि सुंदर नहीं है, बड़ा कठोर और रूखा खदिरवृक्ष का जंगल है' कहा। विशाखा द्वारा आगंतुकों के लिए तैयार किया गया भोजन कर, भोजन के बाद मंडलमाल में एकत्रित भिक्षुओं को उसने चिढ़ाते हुए कहा, 'आवुसो, क्या तुमने देखा कि रेवत थेर का निवास स्थान रमणीय है?' यह जानकर भगवान ने गंधकुटी से बाहर निकल उस समय के अनुसार प्रातिहार्य कर परिषद के बीच जा, बुद्धासन पर बैठकर भिक्षुओ को संबोधित किया 'भिक्षुओ, इस समय किस बात की चर्चा चल रही है? उन लोगों ने कहा, 'भंते, रेवत के विषय में चर्चा चल रही है' कि इस प्रकार के तो घर की मरम्मत करनेवाला कब श्रमणधर्म का पालन कर सकेगा?' 'भिक्षुओ, रेवत घर की मरम्मत

करनेवाला नहीं है, वह अर्हत है, क्षीणाश्रव है' भगवान ने कहा और उनके विषय में उनको लेकर भिक्षुओं को धर्म देशना के लिए यह गाथा कही।

इसका अर्थ यह है– दुर्बल करनेवाले क्लेशों को प्रहाण करने के साधन से ऋद्धिबल और संकल्प के भेद से या प्रज्ञा बल से समन्वागत होने के कारण **पञ्ञाबलं,** चार पारिशुद्ध शील तथा धुतांग व्रत से युक्त, मार्ग तथा फल समाधियों से तथा ईर्यापथ समाधि से **समाहितं** (समाधिस्थ), ध्यान के उपचार तथा अर्पणा के भेद से रत होने के कारण ध्यानरत, स्मृति की विपुलता प्राप्त करने के कारण **सतिमं;** राग आदि आसक्तियों से मुक्त होने के कारण **सङ्गा पमुत्तं,** पांच **चेतो खिल** (बुद्ध, धर्म, संघ तथा बुद्ध की शिक्षा में शंका तथा सब्रह्मचारियों के प्रति क्रोध) और चार आश्रवों के अभाव से **अखिलं अनासवं तं वा पि धीरा मुनिं वेदयन्ति–** उसको इस प्रकार प्रज्ञा आदि गुण से संयुक्त तथा आसक्ति आदि दोषों से विसंयुक्त को पंडितलोग मुनि जानते हैं। देखो, इस विचित्र क्षीणाश्रव मुनि के बारे में, 'वह घर मरम्मत करनेवाला है कब श्रमण धर्म का पालन करेगा' कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने प्रज्ञाबल से उस विहार को समाप्त किया, न मरम्मत करके, वे कृत-कृत्य हैं, अब वे श्रमण धर्म नहीं करेंगे– ऐसा कह रेवतथेर क्या हैं यह स्पष्ट करते हैं। स्पष्ट करने के अर्थ में ही यहां **'वा'** शब्द का प्रयोग है।

२१५. एकं चरन्तं मुनिमप्पमत्तं, निन्दापसंसासु अवेधमानं।
सीहं व सद्देसु असन्तसन्तं, वातं व जालम्हि असज्जमानं।
पदुमंव (पद्मवं) तोयेन अलिप्पमानं, नेतारमञ्ञेसमनञ्ञनेय्यं।
तं वा पि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

"अकेले विचरण करनेवाले मुनि को, जो अप्रमत्त हैं, जो निंदा प्रशंसा से विचलित नहीं होते, जो सिंह की तरह निर्भय हैं, आवाज़ होने पर जो कांपते नहीं, जो उस तरह अनासक्त हैं जैसे हवा जाल से नहीं पकड़ी जाती, नहीं बांधी जाती, जो कमल की तरह राग-जल से अलिप्त रहते हैं, जो दूसरों के नेता हैं, जो दूसरे का नेतृत्व नहीं चाहते, पंडित लोग वास्तव में उन्हीं को मुनि जानते हैं।"

'एकं चरन्तं' से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? भगवान बोधिमंडप से क्रमशः कपिलवस्तु पहुंचे। जब भगवान का और उनके पिता का मिलन हुआ तो राजा शुद्धोधन आनंदित हुए और उन्होंने पूछा, "भंते आप जब गृहस्थ थे तो पिटारी में भरे गंध से सुवासित काशी के वस्त्र को आप धारण करते थे, अब कैसे ये फटे-चिटे टुकड़ों से बने चीवर पहनते हैं।" ऐसा कहे जाने पर राजा के अनुनय करने पर भगवान ने 'तात, आपने जो मुझे कहा कि मैं काशी का वस्त्र विशेष पहनता था, उससे यह पांशुकुल श्रेष्ठ है, चूंकि यही मेरी इच्छा है, कामना है मेरी यही पहनने की।' ऐसा कहा और लोक धर्मों से विचलित नहीं होने के भाव को दिखाते हुए राजा को धर्मदेशना के लिए ये सात गाथाएं कहीं।

उनका अर्थ यह है प्रव्रज्या नाम आदि से **एकं** (अकेला), ईर्यापथ चर्यायों से विचरण करते हुए **चरन्तं,** मौन धर्म से समन्वागत होने से **मुनि,** सभी जगहों में प्रमाद का अभाव होने से **अप्पमत्तं,** अपमान तथा दोषारोपण के भेद से गाली देना, निंदा आदि प्रशंसा में स्तुति आदि अर्थात जो गाली सुनकर न द्वेष करे और न प्रशंसा पाकर मित्रता करे, प्रतिघ (द्वेष) तथा मैत्री भाव के कारण **अवेधमानं।** निंदा प्रशंसा के कारण यहां आठ लोकधर्म कहे गये हैं– यह जानना चाहिए। **सीहंव–** सिंह के समान भेरी आदि

के शब्द होने पर, भेरी आदि की आवाज से **सद्देसु–** आठ लोक धर्मों में होनेवाले स्वाभाविक विकार को दूर रखने से **असन्तसन्तं–** एकांत शयनासन में भी डर के अभाव से। **वातंव–** सूतमय आदि के भेद से जाल में हवा की तरह। चार मार्गों से तृष्णा, मिथ्या दृष्टि जाल में **असज्जमानं–** बिना आसक्त हुए, आठ लोक धर्मों में द्वेष तथा मैत्री के कारण बिना आसक्त हुए जल में कमल की तरह **पदुमंव तोयेन–** संसार में पैदा होने पर भी जिन तृष्णा मिथ्यादृष्टि आदि के लेप से प्राणी संसार में लिप्त होते हैं, उन लेपों को प्रहीण करने के कारण लोक से **अलिप्पमानं–** अलिप्त रहते हुए निर्वाणगामी मार्ग का उत्पादन कर उस मार्ग से दूसरे व देवमनुष्यों के नेता। लेकिन अपने किसी दूसरे द्वारा मार्ग दिखाकर नहीं ले जाये जानेवाले होने के कारण **अनञ्ञनेय्यं तं वा पि धीरा मुनिं वेदयन्ति–** पंडित लोग उन्हें मुनि जानते हैं ऐसा अपने को स्पष्ट करते हैं अर्थात ऐसा अपने बारे में कहते हैं। शेष यहां कहे गये की तरह ही है।

२१६. यो ओगहणे थम्भोरिवाभिजायति, यस्मिं परे वाचापरियन्तं वदन्ति।
तं वीतरागं सुसमाहितिन्द्रियं, तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

"जो तबाह किये जाने पर खंभे की तरह अविचलित रहता है, जब लोग उसके बारे में क्या क्या नहीं कहते हैं, बहुत दूर तक जा तरह-तरह की बातें करते हैं, तब भी जो अपनी इंद्रियों को शांत रखता है, जो वीतराग बना रहता है, उसको पंडित लोग मुनि जानते हैं।"

यो ओगहणे से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? भगवान का प्रथम अभिसंबोधि प्राप्त करना, चार असंखेय्य और एक लाख कल्प तक दस पारमी, दस उपपारमी तथा दस परमार्थपारमी[1] को तथा अभिनीहार गुण पारमी को पूरा कर तुषित भवन में पैदा होना, वहां निवास, उनका महाविलोकन, उनका गर्भ में आना, गर्भवास, गर्भ से बाहर आना, (सात) कदम चलना, दिशा का विलोकन करना, ब्रह्मघोष करना, उनका महाभिनिष्क्रमण, महाप्रधान (तपस्या), उनकी अभिसंबोधि, उनके द्वारा किया गया धर्मचक्रप्रवर्तन, उनके द्वारा चार प्रकार के मार्ग ज्ञान और फलज्ञान की प्राप्ति करना, आठ प्रकार की परिषदों में अकंप ज्ञान, दसबलज्ञान, चार योनियों (अंडज, जलाबुज, संसेदज, ओपपातिक) को सीमित करनेवाला ज्ञान, पांच गतियों का सीमित करनेवाला ज्ञान (निरय, तिरच्छान, पेत्तिविसय, मनुस्सा, देवा) छः अभिज्ञा (असाधारण ज्ञान) आठ प्रकार का श्रावक-साधारण-बुद्धज्ञान, चौदह प्रकार का बुद्धज्ञान, बुद्धगुण को अलग करनेवाले अट्ठारहज्ञान, इक्कीस प्रकार के प्रत्यवेक्षणज्ञान, सतहत्तर प्रकार की ज्ञानवस्तु इस प्रकार एक लाख गुणों से अधिक पर आश्रित जो महालाभ सत्कार उनको मिलने लगा उनको न सह पाने के कारण अन्यतैर्थिकों द्वारा प्रेरित चिञ्चमाणविका द्वारा **'एक धम्म अतीतस्स'** से प्रारंभ होनेवाली गाथा में कहे गये के समान वैसे ही चार परिषदों के बीच भगवान के अयश को लेकर प्रेरित भिक्षुओं के बीच चर्चा चली, 'ऐसा अपयश दिये जाने पर भी भगवान का चित्त ज्यों का त्यों रहा, जरा भी विचलित नहीं हुआ'। इसको जान भगवान ने गंधकुटी से बाहर निकल उस समय के अनुरूप ऋद्धिबल से परिषद के बीच जा, बुद्धासन पर बैठ भिक्षुओं को संबोधित कर पूछा– 'भिक्षुओ, किस बात की चर्चा हो रही है?' उन लोगों ने सारी बातें बतायीं। तब भगवान ने कहा, 'भिक्षुओं आठ लोकधर्मों में सभी बुद्ध वैसे ही होते हैं अर्थात वे विचलित नहीं होते' और उन भिक्षुओं को उपदेश देने

१. दान देना (भोजन, वस्त्र, धन आदि) पारमी है। अंग का दान देना जैसे किसी को आंख का दान देना उपपारमी है और किसी को दान में जीवन दे देना परमार्थ पारमी है।

के लिए यह गाथा कही।

इसका अर्थ है– जैसे मनुष्यों के स्नान घाट पर उनके अंग रगड़ने के लिए चौकोर या अठकोना खंभा गड़ा हो और उच्चकुलीन या नीचकुलीन भी वहां जाकर अपना अंग रगड़ें तो इस कारण न तो उस खंभे की उन्नति होती है न अवनति। इसी प्रकार **यो ओगहणे थम्भोरिवाभिजायति यस्मिं परे वाचापरियन्तं वदन्ति–** जो अन्य तैर्थिकों या दूसरों द्वारा खूब प्रशंसा या खूब निंदा करने पर वैसा ही अविचल बना रहता है जैसे स्नानघाट पर खड़ा खंभा। मनुष्यों के अंग रगड़ने से (उच्चकुलीन या नीच कुलीन मनुष्यों के अंग रगड़ने से) भी क्या होता है? खंभे को कुछ नहीं होता। क्या कहा गया है? जिस वस्तु के बारे में अन्यतैर्थिक या दूसरे कोई जब प्रशंसा करते हैं तो खूब बढ़ा-चढ़ा कर और जब निंदा करते हैं तो खूब घटा-घटा कर, जहां तक शब्दों की ऊपरी सीमा और आखिरी सीमा है वहां तक उसको, द्वेष या मैत्री भाव से लेकर बिना विचलित हुए, उसमें बिना पड़े हुए उसी तरह रहता है जैसे स्नानघाट पर खंभा होता है। **तं वीतरागं सुसमाहितिन्द्रियं–** प्रिय आलंबन में राग के अभाव से उस वीतराग को, अप्रिय आलंबन में द्वेष तथा मोह के अभाव से सुसमाहित इंद्रिय को, अच्छी तरह से मेल मिला कर स्थापित इंद्रिय को, रक्षित इंद्रिय को, संवरित इंद्रिय को– यह कहा गया है। **तं वा पि धीरा मुनिवेदयन्ति–** वैसे को पंडित लोग बुद्धमुनि कहते हैं– वैसे पुरुष का चित्त कैसे विचलित होगा भला! वह कैसे अन्यथाभाव प्राप्त करेगा– यह कह अपने बारे में कहते हैं। शेष कहे हुए की तरह ही है।

२१७. यो वे ठितत्तो तसरंव, जिगुच्छति कम्मेहि पापकेहि।
वीमंसमानो विसमं समञ्च, तं वापि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

"जो वस्तुतः जुलाहे की नाल (फिरकी) की तरह सीधा हो, संयत हो और जो अकुशल कर्मो से जुगुप्सा करता हो, अच्छे और बुरे आचरणों की परीक्षा कर अकुशल कर्मों से जुगुप्सा करता हो, उसको पंडित लोग वस्तुतः मुनि जानते हैं।"

यो वे ठितत्तो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? श्रावस्ती में एक श्रेष्ठिकन्या महल से उतर, महल के नीचे जहां जुलाहा कपड़ा बुनता था वहां गयी। जाकर उसकी फिरकी को सीधे घूमते देख उसकी ऋजुता का प्रतिभाग निमित्त (पटिभाग निमित्त) ध्यान के लिए लिया। 'ओह कितना अच्छा हो, यदि सभी प्राणी शारीरिक, वाचसिक और मानसिक बांकपन (टेढ़ेपन) को छोड़ ऋजुचित्त हो जायं!' वह महल पर चढ़कर भी बार-बार उसी निमित्त पर ध्यान करते-करते बैठी। इस प्रकार प्रतिपन्न होने पर शीघ्र उसको अनित्य लक्षण प्रकट हुआ, उसी के अनुसार दुःख और अनात्म लक्षण भी प्रकट हुए। अब उसको तीनों भव (काम, रूप और अरूप) आदीप्त (जलते हुए के समान) लगने लगा। उसको वैसे विपश्यना करते जान भगवान ने गंधकुटी से बैठे-बैठे ही प्रकाश छोड़ा। उसने उसे देखा। 'यह क्या है'? ऐसा जब ध्यान लगाया तो भगवान को अपने पास बैठे देखकर वह उठी और अंजलि जोड़ खड़ी रही। अब भगवान ने उसके लिए क्या लाभप्रद होगा यह जानकर धर्मदेशना के रूप में यह गाथा कही।

इसका अर्थ– जिसने एकाग्र चित तथा अचंचल विमुक्ति के कारण, वृद्धि और हानि के अभाव से जन्म तथा भवचक्र को क्षीण कर लिया, भव के अंत तक जाने के अभाव से वह स्थित हो गया, **ठितत्तो–** कायिक, वाचसिक एवं मानसिक टेढ़ेपन को दूर कर लिया और अगति में जानेवाला नहीं है और जुलाहे की फिरकी की तरह सीधा है **तसरंव उजु,** ह्री और अवत्रपा से संपन्न होने के कारण अकुशल कर्मों से

जुगुप्सा करता है, **जिगुच्छति कम्मेहि पापकेहि**, अकुशल कर्मों की पाखाने और पेशाव की तरह जुगुप्सा करता है, उनसे घृणा करता है। सूत्र का विभाजन करके कर्मकारक के अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग शब्दशास्त्र (व्याकरण) में सिद्ध होता है। **वीमंसमानो विसमं समञ्च** अकुशल से अकुशल कायकर्म और कुशल से कुशल कायकर्म में कौन प्रहाण करने लायक है इसकी मार्ग प्रज्ञा से जांच करते हुए, परीक्षा करते हुए। **तं वा पि–** उस क्षीणश्रव को, मुनि को पंडित लोग धीर जानते हैं। क्या कहा गया है? जैसा कहा गया है उसके अनुसार मार्ग प्रज्ञा से कुशल और अकुशल की परीक्षा करते हुए जो निश्चित रूप से स्थिर होता है, वह इस प्रकार फिरकी की तरह सीधा हो किसी भी प्रकार के व्यतिक्रम (नियम के उल्लंघन) में बिना पड़े अकुशल कर्मों की जुगुप्सा करता है। पंडित लोग उसको मुनि जानते हैं। जैसे इस तरह क्षीणाश्रव मुनि को दिखाते हुए अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए गाथा कही। देशना के अंत में श्रेष्ठिकन्या श्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुई। यहां **'वा'** शब्द विकल्प में या संग्रह में देखा जाना चाहिए।

२१८. यो सञ्ञतत्तो न करोति पापं, दहरो मज्झिमो च मुनि यतत्तो।
अरोसनेय्यो न सो रोसेति कञ्चि, तं वापि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

"जो पूरी तरह संयत है, पाप नहीं करता है, चाहे वह युवक हो, अर्द्धवयस्क हो या संयत मुनि, जो किसी द्वारा क्रोधित न किया जा सके और न किसी को क्रुद्ध करे, पंडित लोग उसी को मुनि जानते हैं।"

यो सञ्ञतत्तो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की क्या उत्पत्ति है? भगवान जब आलवी नगर में विहार कर रहे थे तो एक जुलाहे ने अपनी सात वर्ष की बेटी को आज्ञा दी, 'मां (बेटी), कल की बची फिरकी ज्यादा नहीं है, फिरकी घुमाकर शीघ्र तंतवायशाला में आ जाना। देर न करना।' उसने 'ठीक है' कह स्वीकृति दी। वह तंतवायशाला गयी और फिरकी को देखती खड़ी रही कि वह ठीक से काम कर रही है। उस दिन महाकरुणा समापत्ति से उठकर भगवान ने लोकपर दृष्टिपात किया और देखा कि वह लड़की श्रोतापत्ति फल को प्राप्त करनेवाली है और देशना के अंत में चौरासी हजार प्राणियों को धर्म का ज्ञान होनेवाला है। इसलिए सबेरे ही शौचादि से निवृत्त हो पात्र और चीवर ले नगर में प्रवेश किया। लोग भगवान को देख, 'निश्चय ही भगवान को आज किसी पर अनुग्रह करना है इसलिए वे बड़े सबेरे पधारे हैं' उनके पास गये। जिस रास्ते से वह लड़की पिता के पास जा रही थी उसी मार्ग पर भगवान खड़े हुए, नगरवासियों ने उस भूमि भाग को झाड़ू से साफ किया, पानी छिड़का, फूलों की भेंट लायी, वितान बनाया और आसनों की व्यवस्था की। भगवान प्रज्ञप्त आसन पर बैठे और भीड़ भगवान को घेरकर खड़ी हुई। लड़की उस जगह पर आयी और भारी भीड़ से घिरे भगवान को देख उसने पंचांग वंदना की। भगवान ने उसको संबोधित कर पूछा, 'बालिके, कहां से आई हो?' 'भगवान, मैं नहीं जानती।' 'कहां जाओगी?' 'भगवान, मैं नहीं जानती'। 'नहीं जानती हो?' 'जानती हूं भगवान'। 'जानती हो?' 'भगवान, मैं नहीं जानती हूं'।

इसको सुन लोग खीझते, "देखो, इस लड़की को जिसने अपने घर आते हुए भी भगवान के पूछने पर कहा 'नहीं जानती हूं'। जब तंतवायशाला जा रही थी पूछे जाने पर 'मैं नहीं जानती हूं' कहा, 'नहीं जानती हो' कहे जाने पर 'जानती हूं' कहा। और 'जानती हो' कहे जाने पर 'नहीं जानती हूं' कहा। सब उल्टा ही करती है"। भगवान ने लोगों को उसका अर्थ प्रकट करने की इच्छा से उसको पूछा 'मैंने क्या पूछा और तुमने क्या उत्तर दिया?' उसने कहा– 'भंते, ऐसा कोई नहीं जो मुझको नहीं जानता है।' घर आकर तंतवायशाला जा रही थी; लेकिन यदि आप मेरी प्रतिसंधि को ध्यान में रखकर पूछते हैं,

'कहां से आयी हो'? मैं च्युत होकर कहां जाऊंगी– इसको ध्यान में रखकर पूछा 'कहां जाओगी?' तो मैं नहीं जानती हूं। 'कहां से मैं आयी हूं', निरय या देवलोक से, नहीं जानती हूं, कहां जाऊंगी, नरक या देवलोक, इसलिए 'नहीं जानती हूं' मैंने कहा। उसके बाद भगवान ने मुझको मृत्यु के बारे में पूछा, 'नहीं जानती हो' 'मैं जानती हूं' कि सबका मरना निश्चित है इसलिए मैंने कहा 'मैं जानती हूं'। तब भगवान ने मुझको मृत्युवेला के बारे में पूछा, 'जानती हो'– मैं नहीं जानती हूं कि 'कब मरूंगी आज या कल' इस कारण 'नहीं जानती हूं' कहा। उसके द्वारा दिये गये उत्तर सुनकर भगवान ने 'साधु-साधु' कह हजार बार साधुवाद दिया। अब भगवान ने दारिका के लिए क्या लाभप्रद है जानकर धर्म का उपदेश करते हुए यह गाथा कही– "यह संसार अंधा है, यहां कुछ ही लोग ठीक से देखते हैं और जाल से मुक्त पक्षी की तरह कुछ थोड़े ही स्वर्ग जाते हैं (ध० प० १७४)। गाथा के अंत में वह श्रोतापत्तिफल में प्रतिष्ठित हुई, चौरासी हजार प्राणियों को धर्म का ज्ञान हुआ।

वह भगवान की वंदना कर पिता के पास आयी। पिता उसको देखकर 'बड़ी देर कर दी' कह क्रुद्ध हो बड़े जोर से धागे में ढरकी फेंकी। बाहर निकल उसने (ढरकी ने) लड़की के पेट को चीर दिया। वह वहीं मर गयी। उसने देखकर सोचा, 'न मैंने बेटी को मारा, और न बेटी पर प्रहार किया' फिर भी इस ढरकी ने तेजी से निकल इसके पेट को फाड़ दिया। 'यह जीवित है कि नहीं' इसकी परीक्षा करते हुए (उसे) मृत देखकर सोचा, लोग यह सोचकर कि 'इसी ने लड़की को मारा है' जानकर मुझको कोसेंगे।

इस कारण राजा भी मुझको भारी दंड दे सकते हैं अच्छा हो मैं पहले ही भाग जाऊं। दंड के भय से वह भागते हुए भगवान के पास आया और कर्मस्थान ले जंगल में रहते हुए भिक्षुओं के निवास स्थान पर गया। भिक्षुओं के पास पहुंच उसने प्रव्रज्या की याचना की। उन भिक्षुओं ने उसको प्रव्रजित किया और तचपंचक नामक कर्मस्थान दिया। शीघ्र सीखकर परिश्रम करते हुए उसने अर्हत्व की प्राप्ति की, वे भिक्षु ही उसके आचार्य और उपाध्याय हुए।

अब महापवारणा के दिन सभी भगवान के पास आये। 'हमलोग विशुद्धि पवारणा करेंगे'। भगवान पवारणा कर वर्षावास बिताने के बाद भिक्षुसंघ से परिवारित हो गांव निगम आदि में चारिका करते हुए क्रमशः आलवी आये। वहां लोगों ने भगवान को निमंत्रित कर दान आदि देते हुए उस भिक्षु को देख यह कह मजाक उड़ाया कि 'अपनी बेटी को मारकर अब यहां किसको मारने आया है'। भिक्षुओं ने इसको सुना और सेवा के समय आकर भगवान को इसकी सूचना दी। भगवान ने कहा, 'भिक्षुओ, इस भिक्षु ने बेटी को नहीं मारा है, वह अपने कर्मफल के कारण मरी' और उस भिक्षु के लोगों द्वारा दुर्विज्ञेय क्षीणाश्रवमुनि के भाव को प्रकाशित करते हुए भिक्षुओं को धर्मदेशना के लिए यह गाथा कही।

यो सञ्ञतत्तो न करोति पापं, दहरो मज्झिमो च मुनि यतत्तो।
अरोसनेय्यो न सो रोसेति कञ्चि, तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

इसका अर्थ यह है– 'जो तीनों कर्मद्वारों में शील संयम से संयत होने के कारण **संयतत्तो,** शरीर से, वचन से तथा मन से हिंसा आदि अकुशल कर्म नहीं करता है, **न करोति पापं,** युवक या जो युवावस्था में है, अर्थात स्थित है, जो **मज्झिमो** है, अर्द्धवयस्क या अर्द्धवयस्कावस्था में स्थित है, इसी तरह थेर या वृद्धावस्था में स्थित होने पर भी कदापि नहीं करता है। क्या कारण है?'

यतत्तो (संयत होने के कारण)– चूंकि लोकोत्तर विरति से सभी पाप कर्मों से विरक्तचित्त हो गये

हैं– ऐसा कहा गया है।

मुनि अरोसनेय्यो न सो रोसेति कञ्चि– इन पदों की यह योजना और अभिप्राय है। वह क्षीणश्रव मुनि **अरोसनेय्यो–** क्रोध किये जाने योग्य नहीं है। इसलिए काया या वाणी से 'बेटी को मारनेवाला', या 'जुलाहा' आदि कहा जाकर वह काया से या वाणी से क्रुद्ध करने, दुःखी करने या बाधित करने योग्य नहीं होता, अर्थात बेटी को मारनेवाला या जुलाहा कहकर उन्हें न तो क्रोधित करना चाहिए, न चोट पहुंचाना चाहिए और न बाधा डालनी चाहिए। **सो पि–** ऐसे मुनि **न रोसेति कञ्चि–** वह किसी को क्रोधित नहीं करता, 'मैंने अपनी बेटी को नहीं मारा है, तुमने मारा है, तुम्हारे जैसा ही व्यक्ति मारता है' आदि कह किसी को क्रुद्ध नहीं करता, न चोट पहुंचाता है, न बाधा डालता है, इसलिए वह भी क्रुद्ध करने योग्य नहीं है। फिर भी 'नाग रहे, नाग को चोट मत पहुंचाओ, नाग को नमस्कार करो' (म० नि० १.२४९) आदि कहे गये की तरह नमस्कार करने योग्य होता है। **तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति–** यहां पंडित उसको मुनि जानते हैं– इस प्रकार पद विभाग जानना चाहिए। यहां अभिप्राय है, 'यह क्रोध करने योग्य नहीं है'। मूर्ख लोग जानकर उस पर क्रोध करते हैं लेकिन जो पंडित हैं, वे उसको मुनि जानते हैं। 'यह क्षीणाश्रवमुनि है' ऐसा जानते हैं।

२१९. यदग्गतो मज्झतो सेसतो वा, पिण्डं लभेथ परदत्तूपजीवी।
नालं थुतुं नो पि निपच्चवादी, तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति।

"जो दूसरों के दिये पर जीता है, आगे से, बीच से या शेष बचे से प्राप्त करता है और न इसकी प्रशंसा और न निंदा करता है पंडित उसको मुनि कहते हैं।"

इस गाथा की उत्पत्ति क्या है?

यदग्गतो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? श्रावस्ती में एक ब्राह्मण था तो जो पांच अग्रदान देता था। धान जब पक जाता तो वह खेत से, ढेर से, कोठी से, घड़े से और जब भोजन बनता तो उससे इस प्रकार पांच अग्रदान देता था।

पहले जो धान, जौ, गेहूं पकता उसकी बालियों से दाना लेकर यागु, खीर तैयार कर इस दृष्टि से बुद्धप्रमुख भिक्षु संघ को दान देता कि 'आगे का देनेवाला मेधावी होता है, वह आगे ही पुण्य प्राप्त करता है' अर्थात पहला फल देनेवाला पुण्य कमाता है, वह पहले ही पुण्य फल प्राप्त करता है। उसका दाँनाकर अर्थात यह उसका **खेत्तग्गदान** है। पके हुए धान की फसल को काटकर, उसका दाँनाकर अर्थात उससे दाना निकालकर उनमें से श्रेष्ठ चावल को चुनकर उसीका दान देता– यह उसका **रासग्गदान** है, अन्न के ढेर में से दिया गया प्रथम दान है।

पुनः उन अनाजों से भंडार को भरकर जब उसे पहले खोलता तो पहली बार उसमें से निकाला गया अनाज लेकर दान देता। यह उसका **कोट्ठग्गदान** है अर्थात भरे हुए भंडार से पहली बार निकाला दान है। जो-जो वह अपने घर में पकाता उसे पहले आये हुए प्रव्रजितों को बिना दिये अपने बच्चों को भी नहीं देता। यह उसका **कुम्भिअग्गदान** है। पुनः अपने भोजन के समय उसके लिए लाये गये भोजन में से भोजन करने के पूर्व संघ को, भोजन करने के बाद आये भिखारियों को, और वे भी यदि न हों तो कुत्तों को भी बिना दिये नहीं खाता। यह उसका **भोजनग्गदान** है। इस प्रकार वह पञ्चग्ग दायक के

नाम से पहचाना जाता था, अभिलक्षित था।

अब एक दिन भगवान ने प्रत्यूषकाल में बुद्ध चक्षु से संसार को देखते हुए उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनों में श्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त करने का आधार देखा और शौचादि से निवृत्त हो बहुत सबेरे गंधकुटी में प्रवेश किया। भिक्षुओं ने गंधकुटी का दरवाजा बंद देखकर तथा यह जान कर कि 'आज भगवान अकेले गांव में प्रवेश करना चाहते हैं' भिक्षाचार के समय गंधकुटी की प्रदक्षिणा कर भिक्षा के लिए गांव चले गये।

भगवान ने भी ब्राह्मण की भोजन वेला में बाहर निकल श्रावस्ती में प्रवेश किया। लोगों ने भगवान को देखा और 'निश्चय ही आज कोई व्यक्ति भगवान का अनुग्रह प्राप्त करनेवाला है, इसलिए भगवान आज अकेले पधारे हैं'– ऐसा जानकर निमंत्रण देने के लिए भगवान के पास कोई नहीं पहुंचा। भगवान भी क्रमशः ब्राह्मण के घर के द्वार पर जा खड़े हुए। उस समय ब्राह्मण भोजन लेकर खाने के लिए बैठा ही था और ब्राह्मणी पंखा झलती हुई खड़ी थी। उसने भगवान को देख, 'अगर यह ब्राह्मण देख लेगा तो इसका पात्र लेकर सारा भोजन दे देगा तब मुझको फिर पकाना पड़ेगा' और ऐसा सोच अपने में अप्रसन्नता और मात्सर्य उत्पन्न कर ब्राह्मण जिस तरह भगवान को न देखे, इसके लिए ताड़ के पंखे से ब्राह्मण को ओट कर दिया, ढंक दिया। यह जानकर भगवान ने शरीर से आभा छोड़ी। ब्राह्मण ने उस स्वर्णिम आभा को देख 'यह क्या है' ऐसा कह देखते हुए भगवान को द्वार पर खड़ा देखा। ब्राह्मणी ने भी यह सोचकर कि 'उनके द्वारा भगवान देख लिए गये', उसी समय ताड़ के पंखे को फेंककर भगवान के पास पहुंची और पंचांग नमस्कार किया। दोनों पैर झुका, सिर झुका तथा दोनों हाथ जोड़कर भगवान की वंदना की। जैसे ही वंदना की, उस समय उसके लिए क्या उपयोगी है, लाभप्रद है जानकर भगवान ने यह गाथा कही।

सभी नामरूपों में जो ममत्व को छोड़े हुए है, जो नहीं है उसके लिए शोक नहीं करता वही निश्चित रूप से भिक्षु कहा जाता है। (ध० प० ३६७) गाथा के अंत में उसने सोतापत्ति फल की प्राप्ति की। ब्राह्मण भगवान को घर के अंदर ले गये, उनको श्रेष्ठ आसन पर बैठाया और दक्षिणोदक (दक्षिणा का जल) दे अपने लिए लाया गया भोजन उनको भेंट किया "भंते, आप इस देव सहित लोक में अग्रदाक्षिणेय्य हैं अर्थात आप ही हैं कि सर्वप्रथम दक्षिणा लेने योग्य हैं, अच्छा हो इस भोजन को आप अपने पात्र में रख लें' भगवान ने उस पर अनुग्रह करने के लिए भोजन लिया और खाया। भोजन कर लेने के बाद ब्राह्मण के लिए क्या लाभप्रद है जान यह गाथा कही।

इसका अर्थ यह है– जिसको बर्त्तन से प्रथम ग्रहण करने के कारण **अग्गतो,** जब बर्त्तन आधा खाली हो जाय तो उससे ग्रहण करने के कारण **मज्झतो** और जब बर्तन में एक दो कड़छुल ही बचा रहे तो उससे ग्रहण करने के कारण **सेसतो वा पिण्डं लभेथं** अर्थात बचे हुए से भोजन प्राप्त करता है। **परदत्तूपजीवी** का अर्थ प्रव्रजित है। वह सिर्फ दंतवन तथा पानी छोड़ अवशेष के लिए दूसरे पर निर्भर करता है, दूसरे के सहारे जीता है, इसलिए **परदत्तूपजीवी** कहा जाता है। **नालं थुतुं नो पि निपच्चवादी–** पहले लेकर अपने की या दायक की प्रशंसा करने योग्य नहीं होता क्योंकि वह चापलूसी से परे हो गया है। अंत में बचे हुए से लेकर भी 'क्यों इतना इस तरह दिया' आदि तरीके से दायक को अप्रिय वचन बोलकर चोट भी नहीं पहुँचाता, चूंकि उसका द्वेष प्रहीण हो गया है। **तं वा पि धीरा मुनिं वेदयन्ति–** उसको, जिसने राग-द्वेष प्रहीण कर लिया है, पंडित मुनि जानते हैं' ब्राह्मण को अर्हत्व के शिखर पर ले जाते हुए गाथा

से उपदेश दिया। गाथा के अंत में ब्राह्मण श्रोतापत्ति फल में प्रतिष्ठित हुआ।

२२०. मुनिं चरन्तं विरतमेथुनस्मा, यो योब्बने नोपनिबज्झते क्वचि।
मदप्पमादा विरतं विप्पमुत्तं, तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

"जो मुनि मैथुन से विरत हो विहार करता है जो जवानी में किसी चीज से बंधा नहीं, आसक्त नहीं हुआ, जो मद और प्रमाद से विरत रहा, उसीको पंडित सचमुच मुनि जानते हैं।"

मुनि चरन्तं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? श्रावस्ती में किसी श्रेष्ठिपुत्र को ऋतुओं के अनुसार तीन प्रासाद थे जहां वह सभी प्रकार की सुख-सामग्री से परिचारित हो युवाकाल में ही प्रव्रजित होने की इच्छा कर, माता पिता से आज्ञा ले, **खग्गविसाणसुत्त** में 'कामा हि चित्रा' (सु० नि० ५०) गाथा के प्रसंग में जैसा कहा गया है तीन बार प्रव्रजित और तीन वीर गृहस्थ बनकर चौथे बार में अर्हत हुआ। पूर्वपरिचित भिक्षु उसको कहते, 'आवुस, गृहस्थ बनने का समय आ गया है।' उसने कहा, 'आवुस, अब विभ्रमित होना अभव्य है, मेरे योग्य नहीं है'। यह सुन भिक्षुओं ने भगवान से कहा। भगवान ने कहा, 'भिक्षुओ अब ऐसा ही है, अब वह विभ्रमित नहीं हो सकता, उसके लिए विभ्रमित होना अभव्य है, उसके लायक नहीं है' और उसके क्षीणाश्रव भाव को स्पष्ट करते हुए यह गाथा कही। इसका अर्थ यह है– मोनेय्य धर्म से समन्वागत मुनि। **मुनि,** एक विहारिता (अकेले विहार करने से) से, पहले कही गयी चर्याओं में किसी भी चर्या में **चरन्तं** विहार करते हुए, पूर्व के समान मैथुन धर्म से चित्त को हटाकर, अनुत्तर विरति से **विरतं मेथुनस्मा** मैथुन धर्म से विरत। द्वितीयपाद का संबंध– किस प्रकार के मुनि को मैथुन धर्म से विरत रह विहार करनेवाला कहा गया है? जो युवावस्था में कभी भी किसी चीज में आसक्त नहीं होता, जो सुंदर यौवन के रहते भी किसी चीज में आसक्त नहीं होता, जो सुंदर यौवन के रहते भी कभी पहले की तरह स्त्री रूप में मैथुन करने की इच्छा से आसक्त नहीं होता। अथवा अपने या दूसरे का यौवन देख, 'मैं अभी युवा हूं यह भी युवा है– मैं इसका भोग करूंगा' इस प्रकार जो राग से बंधता नहीं, आसक्त नहीं होता– यह यहां अर्थ है। न केवल मैथुन से विरत, बल्कि जन्म के कारण, जाति के कारण जो मदों (अहंकारों) के प्रकार हैं– **मदा** उन मदों से विषयों में स्मृति की अनुपस्थिति नामक जो प्रमाद है उससे भी **विरतं–** विरत। इस तरह मद और प्रमाद से विरत रहने के कारण ही सभी प्रकार के क्लेशबंधनों– से **विप्पमुत्तं–** विप्रमुक्त।

जैसे कोई लौकिक विरति से विरत हो, वैसा नहीं, **विप्पमुत्तं विरतं** क्या है? सभी क्लेश बंधनों से विप्रमुक्त होने के कारण लोकोत्तर विरति से विरत– यह अर्थ है। **तं वापि धीरा मुनि वेदयन्ति–** उसे ही पंडित मुनि जानते हैं। तुम चूंकि उनको नहीं जानते हो इस कारण उनको ऐसा कहते हो– यह दिखाते हैं।

२२१. अञ्ञाय लोकं परमत्थदस्सिं, ओघं समुद्दं अतितरिय तादिं।
तं छिन्नगन्थं असितं अनासवं, तं वा पि धीरा मुनि वेदयन्ति॥

"संसार को जानकर, परम लक्ष्य को भी देखकर, उन्होंने संसार रूपी बाढ़ को पार कर लिया है, संसार सागर को पार कर लिया है, उनको, उस तरह के व्यक्ति को, जिन्होंने ग्रंथियां खोल दी हैं, जो अनासक्त हैं, अनाश्रव हैं, उनको पंडित मुनि जानते हैं।"

अञ्ञाय लोकं से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? भगवान कपिलवस्तु में विहार करते

थे। उस समय नंद का तीन मंगल कृत्य किया गया, उनको सजाया गया, (आभरण मंगल) उनका राज्याभिषेक हुआ (अभिषेक मंगल) और उनका शुभ विवाह (आवाह मंगल) हुआ। भगवान भी वहां निमंत्रित हो पांच सौ भिक्षुओं के साथ गये, भोजन किया और बाहर निकलते समय नंद के हाथ में पात्र दिया। उनको बाहर निकलते देख जनपद कल्याणी ने कहा, "आर्यपुत्र, जल्दी ही लौटना"। वह भगवान के गौरव से यह नहीं कह सका कि 'अच्छा, भगवान, पात्र लें' और विहार गया। भगवान ने गंधकुटी परिवेण में खड़ा होकर कहा, 'नंद, पात्र लाओ' और पात्र ले 'तुम प्रव्रजित होगे' कहा। भगवान के गौरव को देखते हुए वह ना नहीं कह सका और कहा 'भगवान, मैं प्रव्रजित होऊंगा'।

भगवान ने उनको प्रव्रजित किया। वे बार-बार जनपद कल्याणी की बात याद कर उत्कंठित हो जाते, उदास हो जाते। भिक्षुओं ने भगवान को इसकी सूचना दी। भगवान ने नंद की (प्रव्रज्या में) अनभिरति (रस न लेने, रमण न करने) को दूर करने की इच्छा से पूछा, 'नंद, पहले कभी तावतिंस भवन गये हो?' नंद ने कहा, 'नहीं, भंते, मैं पहले नहीं गया'।

तब भगवान उनको अपने प्रताप से तावतिंस ले गये और वैजयंत महल के द्वार पर खड़े हुए। भगवान के आगमन को जान इंद्र अप्सराओं से घिरे हुए महल से उतरे। वे सभी भगवान कस्सप के शिष्यों को पैर में तेल-मक्खन लगाकर (उस अच्छे कर्म के फलस्वरूप) कबूतर की तरह सुंदर पैरोंवाली हुई थीं। अब भगवान ने नंद को संबोधित किया, 'नंद, क्या तुम इन पांच सौ कबूतर की तरह सुंदर पैरवाली अप्सराओं को देखते हो'? यहां से प्रारंभ कर सबका विस्तार करना चाहिए। पूरे बुद्धवचन में ग्रहण करने योग्य स्त्री का निमित्त और अनुव्यंजन ऐसा नहीं है। लेकिन यहां भगवान ने उपायकौशल्य से रोगी के दोष को थुकवा कर, उगलवा कर निकालने की इच्छा से जैसे वैद्य अच्छे भोजन दिखाकर रोगी के दोष को दूर करता है, वैसे ही नंद के राग को दूर करने के लिए, उसे उगलवा कर निकालने की इच्छा से उसको स्त्री का निमित्त और अनुव्यंजन ग्रहण करने की आज्ञा दी उसी तरह जैसे दम्यपुरुष को दमन करने के लिए अनुत्तर सारथि करता है। तब भगवान ने अप्सरा के लिए नंद की ब्रह्मचर्य में अभिरति देख भिक्षुओं को आदेश दिया, 'नंद नौकरी करता है, भृत्य का काम करता है (अप्सरा पाने के लिए)– यह कह नंद पर दोषारोपण कर उसे प्रेरित करो।' उनके (भिक्षुओं) द्वारा ऐसे किये जाने पर नंद लज्जित हुआ और खूब विचारपूर्वक मार्गारूढ़ हो शीघ्र ही उन्होंने अर्हत्व की प्राप्ति की।

उनके चंक्रमण करने के रास्ते पर वृक्ष पर रहनेवाले देवता ने भगवान को यह बात बतायी। भगवान को भी इसका भान हुआ अर्थात इसकी जानकारी हुई। भिक्षु बिना जाने हुए ही वैसे ही उन पर दोषारोपण कर रहे थे। भगवान ने कहा, 'भिक्षुओ, नंद अब ऐसा दोषारोपण करने लायक नहीं है' और उनके क्षीणाश्रव भाव को स्पष्ट करते हुए उन भिक्षुओं को धर्मदेशना देने के लिए यह गाथा कही।

इसका अर्थ है– दु:खसत्य को निश्चित करने या तय करने के लिए स्कंध आदि **लोकं अञ्ञाय–** संसार को जानकर, तय कर (कि यह दु:ख है, यह दु:ख समुदय है, आदि) निरोध सत्य के साक्षात्कार से **परमत्थदस्सिं** परम लक्ष्य को जाननेवाले को, समुदय प्रहाण से चार प्रकार की बाढ़ों के कारण प्रहीण हो जाने के फलस्वरूप रूपमद आदि वेग को सहकर चक्षु आदि आयतन को जो समुद्र की तरह है उसको **अतितरिय** तैर कर, पार कर मार्गभावना से 'तन्निद्देसा तादि' इस तादिलक्षण की प्राप्ति से **तादिं।** यह जो कामराग आदि दु:ख की राशि में डुबाने के अर्थ में ओघ है, कुत्सित गति पर्याय से उत्पन्न होने के अर्थ में, बड़ी राशि होने के अर्थ में समुद्र है, समुदय के प्रहाण से उस ओघ को, समुद्र को तैरकर,

उसमें तीर्ण होकर अब तुम्हारे इस प्रकार कहे जाने पर विकार में न पड़ने से वह 'उसके सदृश' **तादि** हो गया– यह यहां अर्थ है। यह जानना चाहिए। **तं छिन्नगन्थं असितं अनासवं–** यह उसकी प्रशंसा में कहा गया वचन है। इन चार आर्य सत्यों की भावना से चार प्रकार की गांठों को खोलकर, तोड़कर, छिन्न करने के कारण **छिन्नगन्थं–** जिसने गांठ खोल दी है, उसको मिथ्यादृष्टि, तृष्णा या किसी से अनासक्त रहने के कारण **असितं** अनासक्त को, चार आश्रवों के अभाव हो जाने से अनाश्रव को कहा गया है। **'तं वापि धीरा मुनि वेदयन्ती'** उसको ही पंडित क्षीणाश्रव मुनि जानते हैं। तुम नहीं जानकर ऐसा बोलते हो यह यहां दिखाया गया है।

२२२. असमा उभो दूरविहारवुत्तिनो, गिही दारपोसी अममो च सुब्बतो।
परपाणरोधाय गिही असञ्ञतो, निच्चं मुनी रक्खति पाणिने यतो।।

"दोनों में, गृहस्थ और प्रव्रजित के वासस्थान तथा आचरण भिन्न होने के कारण समानता नहीं है (बल्कि वे बिल्कुल दूर-दूर हैं)। गृहस्थ पत्नी का भरण-पोषण करता है और प्रव्रजित निःस्वार्थी है तथा सुव्रती है। गृहस्थ प्राणियों की हत्या करने में संयम नहीं बरतता, लेकिन मुनि सदा प्राणियों की रक्षा करते हैं।"

असमा उभो से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? कोशल राष्ट्र में एक भिक्षु राष्ट्र की सीमा पर बसे एक गांव पर निर्भर हो जंगल में विहार करते थे। उस गांव का शिकारी उस भिक्षु के निवास स्थान जा वहां जानवर बांधता था। वह जंगल प्रवेश करते हुए तथा गांव में भिक्षा मांगने के लिए प्रवेश करते समय थेर को देखता, जंगल से लौटते गांव से निकलते भी देखता। इस प्रकार बार-बार देखने से उसमें थेर के प्रति स्वाभाविक स्नेह उत्पन्न हुआ। वह जब बहुत मांस प्राप्त करता तो थेर को भी मांस-रस के साथ भोजन देता। लोग हैरान होते थे, खीझते थे, "यह भिक्षु शिकारी को सूचित करता रहता है कि 'अमुक जगह में जानवर रहते हैं, वहां विहार करते हैं, वहां पानी पीते हैं' तब शिकारी जानवरों को मारता है, इस कारण दोनों मिलकर जीविकोपार्जन करते हैं।" अब भगवान जनपद में चारिका करते उस जनपद में आये। भिक्षुओं ने भिक्षा के लिए गांव में प्रवेश किया। उस भिक्षु की प्रवृत्ति के बारे में सुना और इसकी सूचना भगवान को दी। भगवान ने शिकारी के साथ समान रूप से जीविका भाव साधनेवाले उस भिक्षु के क्षीणाश्रव भाव को स्पष्ट करते हुए उन भिक्षुओं को धर्मदेशना देने के लिए यह गाथा कही।

इसका अर्थ यह है– भिक्षुओ, यह जो भिक्षु है और यह जो शिकारी है ये दोनों एक आचारवाले नहीं हैं अर्थात दोनों में अंतर है– **असमा उभो**। लोग जो यह कहते हैं कि ये दोनों समान रूप से जीविकोपार्जन करते हैं, झूठ कहते है। क्यों? **दूरविहारवुत्तिनो–** दोनों के विहार स्थान और वृत्ति (जीवन-चर्या) अलग-अलग हैं, एक दूसरे से दूर हैं। विहार का अर्थ वासस्थान, 'वह तो भिक्षु का जंगल में और शिकारी का गांव में है। वृत्ति जीविका है। वह भिक्षु का गांव में प्रत्येक घर में भिक्षा मांगना है, एक भी घर को छोड़ना नहीं है और शिकारी का जंगल में जानवर तथा पक्षी मारना है। दूसरी बात यह है कि **गिही दारपोसी–** वह शिकारी अपने काम से पुत्र पत्नी का पालन पोषण करता है और वह भिक्षु **अममो च सुब्बतो–** पुत्र-पत्नी में तृष्णा, मिथ्यादृष्टि आदि से विरहित है, सुंदर व्रत करने के कारण वह क्षीणाश्रव है। तीसरी बात यह है, **गिही असञ्ञतो परपाणरोधाय** वह दूसरे प्राणियों को जीवित मार देने में शरीर,

वाणी तथा मन से असंयत है। **निच्चं मुनी रक्खति पाणिने यतो,** लेकिन इधर क्षीणाश्रव मुनि शरीर, वाणी तथा मन से नित्य संयत हो प्राणियों की रक्षा करता है। ऐसा होने पर ये समानजीवी कैसे होंगे? अर्थात ये समान रूप से जीविकोपार्जन करते हैं– यह कैसे कहा जायगा।

२२३. सिखी यथा नीलगीवो विहङ्गमो, हंसस्स नोपेति जवं कुदाचनं।
एवं गिही नानुकरोति भिक्खुनो, मुनिनो विवित्तस्स वनम्हि झायतो ति॥

"जैसे नीलग्रीव मयूर आकाश में उड़ते समय हंस इतना तेज नहीं उड़ सकता, वैसे ही एक गृही, एक भिक्षु की, जो वन में अकेले रह ध्यान करता है, बराबरी नहीं कर सकता।"

सिखी यथा ति से प्रारंभ होनेवाली गाथा की उत्पत्ति क्या है? जब भगवान कपिलवस्तु में विहार कर रहे थे तो शाक्यों के बीच यह चर्चा चली कि 'जो प्रथम श्रोतापन्न हुआ, वह बाद में श्रोतापत्ति होनेवाले से धर्म में बड़ा है, इसलिए बाद में श्रोतापत्ति प्राप्त करनेवाले भिक्षु को पहले से श्रोतापत्ति प्राप्त गृही को अभिवादन करना चाहिए'। इस चर्चा को एक पिंडचारिक भिक्षु ने सुना और उन्होंने इसे भगवान को बताया। भगवान ने 'यह जाति ही दूसरी है, पूजनीय वस्तु लिङ्ग है' के बारे में, 'भिक्षुओ, अनागामी भी यदि गृही है तो वह आज प्रव्रजित श्रमण का अभिवादन करेगा' यह कह पुनः बाद में श्रोतापन्न हुए भिक्षु का पहले श्रोतापन्न हुए गृहस्थ से विशेषता दिखाते हुए भिक्षुओं को धर्मदेशना देने के लिए यह गाथा कही। इसका अर्थ यह है– सिर में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न शिखा के कारण जो **सिखी** है– मयूर है, मणिदंड के समान ग्रीवा के कारण जो **नीलगीवो** (नीलग्रीव) है– जिसे मयूर पक्षी कहते हैं। वह जैसे हरित हंस, ताम्रवर्णी हंस, श्वेत हंस, असित हंस, पाक हंस, सुवर्ण हंसों में जो सुवर्ण हंस है उसके वेग के समान औरों का वेग नहीं है, सोलहवां भाग भी नहीं है। सुवर्ण हंस एक मुहूर्त में एक हजार योजन उड़ता है जहां और हंस एक योजन उड़ने में भी असमर्थ होते हैं। देखने में दोनों ही दर्शनीय हैं, सुंदर हैं इसी प्रकार गृही यदि पहले श्रोतापन्न हुआ भी हो तो उनमें कुछ ही मार्गदर्शन से दर्शनीय होते हैं। वह पीछे श्रोतापन्न हुए के वेग में देखने में वैसा ही सुंदर होने पर भी भिक्षु की बराबरी नहीं कर सकता। कौन-से वेग से? ऊपर के मार्ग विपश्यना ज्ञान की शक्ति से, गृहस्थों का वह ज्ञान मंद होता है, क्योंकि वह पुत्र-पत्नी आदि जटाओं से, तृष्णा-जटाओं से जटित है। भिक्षु का वह ज्ञान तीक्ष्ण होता है, तेज होता है क्योंकि वह वैसी जटाओं से विजटित है। वैसी तृष्णाओं को वह काट चुका है। **"मुनिनो विवित्तस्स वनं हि झायतो"**ति**–** इस पद में भगवान ने यह अर्थ स्पष्ट किया है। यह शैक्ष्य मुनि शरीर तथा मन से विविक्त होता है। एकांत में रहनेवाला होता है, अनित्य, दुःख और अनात्म इन लक्षण आलंबनों पर नित्य वन में ध्यान करता है। गृहस्थ को इस प्रकार का एकांत, इस प्रकार का ध्यान कहां– यही यहां अभिप्राय है।

मुनिसुत्तवर्णना समाप्त।

शब्दानुक्रमणिका

आं

आ

ऋ

ए

ओ

औं

औ

क

ख

ग

ध

न

प

फ

ब

म

ल

व

श

स

ह

क्ष

ज्ञ



आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (बर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे बर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूब धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार बर्मा के ही नहीं, बल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तब किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण बन गयी है।

सयाजी ऊ बा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अभ्यास करने के साथ बुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंबई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र बना और अब तक विश्वभर में २०६ केंद्र बन गये हैं तथा नित नये बनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १५०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भाषाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, कई केंद्रों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सब का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वैच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 978-81-7414-425-6
VRI - H102